प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर ।

१९७१

मुद्रक :
जय आर्ट प्रिन्टर्स,
चौड़ा रास्ता,
जयपुर–३

प्रस्तावना

हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जाँय। भारत सरकार ने इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का निर्माण किया था। आयोग ने हिन्दी में अनुवाद तथा मौलिक लेखन की एक वृहत् योजना बनाई थी जिसे कार्यान्वित करने के लिये देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पहले अनुवाद-अभिकरण और तत्पश्चात् पूर्णकालिक केन्द्रों की स्थापना की थी। किन्तु हिन्दी में ग्रन्थ-निर्माण की प्रक्रिया अभीष्ट गति से अग्रसर नहीं हो रही थी। इसलिए 1969 में पाँच हिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी की तथा अहिन्दी भाषी प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाओं की ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई और उक्त अभिकरण व केन्द्र इनमें सम्मिलित कर दिये गए। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना उसी क्रम में 1969 में हुई थी। अकादमी का प्रथम वर्ष अधिकांशतः अनुवाद व मौलिक लेखन की योजना तैयार करने तथा उसके अनुसार अनुवादकों–लेखकों को सहयोग के लिये आमंत्रित करने में व्यतीत हुआ। अब उस प्रयत्न के फलित होने का अवसर उपस्थित हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शन के प्रतिष्ठित् विद्वान् तथा साधक एवं अत्यधिक समादृत अध्यापक स्वर्गीय प्रोफेसर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे के प्रमुख ग्रन्थ "कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी" का अनुवाद है। पुस्तक में लेखक की जितनी विद्वत्ता प्रकट है उतनी ही मर्मज्ञता भी स्पष्ट है। लेखक ने उपनिषदों का ऐतिहासिक संदर्भ देने के उपरान्त उनका ज्ञान-मीमांसा, सत्ता–मीमांसा, ब्रह्माण्ड–मीमांसा, मनोविज्ञान, नीति–मीमांसा

की दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण किया है। उपनिषद् तथा गीता भारतीय दर्शन तथा धर्म के अजस्र-स्रोत रहे हैं, इसलिये उन पर असंख्य भाष्य और टीकाएँ लिखी जाती रही हैं। किन्तु डॉ. रानाडे ने केवल उस परम्परा को ही आगे जारी नहीं रखा है, वरन् उन्होंने अपने विस्तृत अध्ययन, गहन चिन्तन तथा साधना के द्वारा इस दर्शन का पुनः सर्जन किया है। इसके अतिरिक्त, वे जितने भारतीय चिन्तन-परम्परा के ज्ञाता थे, उतने ही पाश्चात्य परम्परा से भी अभिज्ञ थे। परिणामतः उन्होंने औपनिषद् ज्ञान को ऐसी पदावली में प्रस्तुत किया है जो दर्शन के आधुनिक विद्यार्थी के लिये भी गम्य है। इस प्रकार इस पुस्तक का प्राचीन भारतीय दर्शन के व्याख्या-ग्रन्थों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हमें पूर्ण आशा है कि इस पुस्तक के अनुवाद का भारतीय दार्शनिक क्षेत्रों में सामान्य रूप से और विश्वविद्यालय-क्षेत्रों में विशेष रूप से स्वागत होगा।

शिवचरण माथुर
अध्यक्ष

विषय-सूची

अध्याय १

पृष्ठ-देश

अध्याय २

सृष्टि-शास्त्र

अध्याय ३

मनोविज्ञान

अ—आधिभौतिक मनोविज्ञान

आ—विकृत मनोविज्ञान

इ—आध्यात्मिक मनोविज्ञान

अध्याय ४

परवर्ती दर्शनों का मूल

अध्याय ५

परतत्त्वशास्त्र

अध्याय ६

नीति-शास्त्र

अ—नीति-प्रामाण्यवाद

आ—नैतिक आदर्शवाद

इ—व्यावहारिक नीति-शास्त्र

अध्याय ७

रहस्यवाद

भूमिका

1. ग्रन्थ-लेखन का प्रसंग—श्रीमान महाराजा गायकवाड़ बड़ौदा की अध्यक्षता में, संस्कृत विद्यापीठ बंगलौर की स्थापना के समय जुलाई सन् 1915 ई० में, उपनिषद् रहस्य का मूल-विषय बंगलौर तथा मैसूर की जनता के सम्मुख एक व्याख्यान-माला के रूप में उपस्थित किया गया था। तब से मैं उसके मुख्य-विषय पर निरन्तर विचार करता रहा हूँ और उसे उपनिषदों के सम्यक् दार्शनिक निरुपण के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न करता रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि उपनिषदीय दर्शन के निरुपण के रूप में जो कुछ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जायगा, वह संक्षेपतः सभी प्रधान उपनिषदीय विचार-तत्वों की ठोस व्याख्या द्वारा प्रत्येक सत्यान्वेषी पाठक को सन्तुष्ट कर सकेगा। प्रथम बार बंगलौर तथा मैसूर की सुसंस्कृत जनता के सम्मुख अपने उपनिषद् सम्बन्धी विचार रखने का अवसर प्रदान करने के लिए मैं पंडित महाभागवत कुर्त कोटि (वर्तमान करवीर पीठाधीश श्री शंकराचार्य) तथा श्रीयुत् वी० सुब्रह्मण्य अय्यर बी० ए०, रजिस्ट्रार मैसूर विश्वविद्यालय का हृदय से आभारी हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि ये व्याख्यान बंगलौर में बहुत पसन्द किये गये थे। श्रीमान् महाराजा गायकवाड़ ने उपनिषदीय तत्व-ज्ञान को सर्वत्र सुलभ बनाने के लिये इन व्याख्यानों को अंग्रेज़ी तथा सभी देशी भाषाओं में प्रकाशित कराके इनके विस्तृत वितरण की सम्मति प्रकट की थी। किन्तु कार्य बाहुल्य तथा अनपेक्षित कठिनाइयों के कारण यह ग्रन्थ इतने दीर्घकाल के बाद ही प्रकाशित हो सका; यद्यपि मेरे मन में यह विचार बहुत पहले उदय हुआ था कि उपनिषदीय दर्शन पूर्वीय तथा पश्चिमीय दोनों विचार-धाराओं के जिज्ञासुओं के सम्मुख रखने योग्य है तथा दोनों के लिये स्फूर्तिकर सिद्ध होगा।

2. दर्शन और भाषाशास्त्र—यद्यपि मैंने उपनिषदों का अध्ययन सन् 1915 ई० से कहीं पहले प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु उपनिषदीय दर्शन को दार्शनिक विचार-पद्धति के अनुकूल स्वरूप में उपस्थित करने का निश्चय

इसी वर्ष किया। इस ओर मुझे पहला साहित्यिक प्रोत्साहन फरवरी सन् 1915 ई० में स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर के एक भाषण से मिला था। शीघ्र ही मुझे यह ज्ञात हो गया कि उपनिषद् एक नहीं कई एक दर्शन-पद्धतियों को प्रतिपादित करती हैं। वे दर्शन पद्धतियाँ हिमालय की पर्वत श्रेणियों की भाँति एक के ऊपर एक एकान्तिक चरम सत्य के शिखर तक चढ़ती चली गई हैं, जो हमारे समसामयिक (आधुनिक) पश्चिमी तत्व-वेत्ताओं द्वारा पूर्ण विचार करने योग्य है। इसी लक्ष्य को लेकर तथा उप-निषदीय दर्शन को पश्चिमी पाठकों के समझने योग्य बनाने के लिये मैंने इसे पश्चिमी विचार-पद्धति के अनुकूल उपस्थित करने का साहस किया है, जिससे वे लोग भी, जो उसी विचार-पद्धति में अभ्यस्त हैं इसकी मर्मज्ञता और रसानु-भूति प्राप्त कर सकें।

इस ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका पर एक साधारण दृष्टिपात करने से ही यह ज्ञान हो जायगा कि इसकी विवेचन पद्धति निश्चित रूप से पश्चिमी दर्शन-पद्धति के अनुकूल है। मेरे पथ में एक और भी कठिनाई थी। उप-निषदीय दर्शन की आत्मा को पश्चिमी वेष में उपस्थित करते समय उपनिषदीय वाङ्मय के "अक्षर" "शब्द" को अक्षुण्ण रखने का उत्तरदायित्व भी मेरे ऊपर था। अतः भाषाशास्त्र सम्बन्धी बातों का भी उतना ही ध्यान रखना आवश्यक था, जितना कि दर्शन सम्बन्धी बातों का। मैं अपने ग्रीक दर्शन के अध्ययन के समय देख चुका था कि किस प्रकार डॉ० बर्नेट के मूल आधारों के प्रकाश में प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों की व्याख्या करने की प्रणाली ने ग्रीक विचार-वेत्ताओं के अध्ययन-क्षेत्र में क्रांति उपस्थित करदी थी। मुझे उसी प्रणाली के अनुकूल उपनिषदीय दर्शन का विवेचन भी प्रयोजनीय जान पड़ा। मैंने उप-निषदीय वाङ्मय से कुछ आधार-भूत मूल अवतरण संचित करके उपनिषदीय विचार-विभागों के अनुरूप उनका वर्गीकरण किया और तर्क संगति के अनुकूल व्यवस्थित करके, भाषा-शास्त्र के सिद्धान्तों का समुचित ध्यान रखते हुये उनकी व्याख्या की; और साथ ही यह भी ध्यान रक्खा गया कि व्युत्पत्ति शास्त्र के अनुसार किये गये अर्थ इतने विकृत तथा अग्राह्य न हो जायें कि वे पाठकों के लिये प्रभावहीन हो जायें। दर्शन और भाषा-शास्त्र के समन्वय के कारण ही उपनिषदीय दर्शन का संयत तथा सुग्राह्य विवेचन एक दुरूह तथा श्रमसाध्य व्यापार हो गया। मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय उपनिषदीय दर्शन और भाषा शास्त्र के पाठकों पर ही छोड़ देना उचित जान पड़ता है।

3. भारतीय दर्शन में उपनिषदों का स्थान—भारतीय विचार धारा के विकास-पथ में उपनिषदों का स्थान महत्वपूर्ण है। भारतीय दर्शन की सभी परवर्ती पद्धतियों का मूल उपनिषदों में पाया जाता है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में उपनिषदीय वाङ्मय के इतिहास में प्रथम बार इसके विस्तृत विश्लेषण का प्रयत्न किया है। गार्वे, ओल्डेन वर्ग आदि विद्वानों ने दर्शन की विशिष्ट पद्धतियों के उपनिषदीय ऋणानुवन्ध का आंशिक विश्लेषण किया है। किन्तु उपनिषदों के साथ समस्त परवर्ती दर्शन पद्धतियों के सम्वन्ध का सर्वांगीण विवेचन अव तक अपेक्षित विषय ही वना रहा। आल्डेन वर्ग ने सचमुच अपने "वुद्ध" तथा "उपनिषदीय सिद्धान्त और वौद्धधर्म का आरम्भ" दोनों ग्रन्थों में इस विषय का सम्यक् रूप से विवेचन किया है कि किस प्रकार उपनिषदों ने वौद्धदर्शन का पथ प्रशस्त किया। इसके लिये वह प्रशंसा के पात्र हैं। गार्वे ने अपने "सांख्य दर्शन" नामक ग्रन्थ में इसका विवेचन किया है कि सांख्य दर्शन का मूल कहाँ तक उपनिषदों में पाया जाता है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राचीनतम उपनिषदों में सांख्य दर्शन के चिह्न नहीं पाये जाते (अ—1) किन्तु सांख्य सिद्धान्तों का अस्तित्व एक ओर वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के प्राचीन भाग तथा कठ, श्वेताश्वतर, मैत्री उपनिषदों के परभाग के व्यवधान-काल में पाया जाता है। गार्वे का यह सिद्धान्त सत्य है कि छान्दोग्योपनिषद् (vii–25) का 'अहंकार' सांख्य-दर्शन की 'अहंता' नहीं, वरन् "अनुभूतिशील रहस्यात्मा" है।

इसी प्रकार उसने प्राचीन उपनिषदों की "सम्भूति" तथा "लिंग" आदि की कल्पनाओं का भी विवेचन किया है और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वे सांख्य-भावना से अनुप्राणित नहीं हैं। यहाँ तक गार्वे से मेरा कोई विशेष मतभेद नहीं है। किन्तु मैं गार्वे के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं कि प्राचीन उपनिषदों में सांख्य-दर्शन के मूल चिह्न नहीं पाये जाते। इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में यह संकेत किया गया है कि छान्दोग्यपनिषद् की त्रिवर्ण की कल्पना अवश्य ही सांख्य-दर्शन की त्रिवर्ण प्रकृति की कल्पना की पथ निर्देशिका वनी होगी (अ—4)। छान्दोग्य एक प्राचीन उपनिषद् सिद्ध हो चुकी है, अतः गार्वे के जैसा मत कि प्राचीन उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्त के कोई भी मूल चिह्न नहीं पाये जाते, मान्य प्रतीत नहीं होता। वेदान्त के विषय में भी इसके सर्वविध निरूपण का प्रयत्न किया गया है कि कहाँ तक उसकी अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत सभी परवर्ती पद्धतियों का मूल उपनिषदों में पाया जाता है। जव हम यह स्वीकृत करते हैं कि शंकर, रामानुज

और मध्व सभी महान् भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्रों को अपने दार्शनिक विचार-विधान का केन्द्र बनाया और साथ ही यह भी मानते हैं कि ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय सिद्धान्तों के ही सूत्रमय सारांश हैं, तो सचमुच आश्चर्य होता है कि इन तत्ववेत्ताओं के सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना क्यों न की जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस विस्तृत विवेचना को स्थान न मिल सकने के दो कारण हैं। एक तो यह कि मैं उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकारों की ईश्वरपरक व्याख्याओं से दूर रह कर, उपनिषदों के मूल वाङ्मय के आधार पर ही अर्थप्रतिपादक शैली का अनुसरण करना चाहता था। दूसरे यह कि धर्मपरक दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन वेदान्त-दर्शन सम्बन्धी एक अपर ग्रन्थ के लिये छोड़ देना ही वाञ्छनीय जान पड़ा। उपनिषदों के साथ वेदान्त दर्शन का वही सम्बन्ध है जो स्कूलमैन के दर्शन का अरिस्टोटिल के साथ। इन भाष्यकारों की विस्तृत धर्मपरक व्याख्याओं के विषय में वही कहा जा सकता है जो बेकन ने अरिस्टोटिल का भावाधार लेकर स्कूलमैन की विवेचनाओं के विषय में कहा था कि "वे मकड़ी के जाल के समान हैं। कुशल विधान के लिये प्रशंसनीय होते हुये भी उनमें तथ्य और उपादेयता का एकान्त अभाव है।"

यह आलोचना कुछ कठोर भले ही जान पड़े किन्तु इससे यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि उपनिषद् और वेदान्त की विवेचना-पद्धति के मूल में ही कितना (मत) भेद है। एक में हम अनुभूति-मूलक पद्धति पाते हैं किन्तु दूसरे में केवल तर्क मूलक। मैं अनुभूति-मूलक पद्धति को तर्क-मूलक पद्धति के मूल्य पर महत्व देना नहीं चाहता। मेरा विश्वास है कि अनुभूति-मूलक पद्धति का तर्क-पद्धति से विरोध नहीं है, किन्तु दूसरी पहली के अन्तर्गत है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मेरा अभिप्राय यहाँ पारमार्थिक अनुभूति-पद्धति से है, लौकिक-अनुभूति पद्धति से नहीं। यद्यपि मैं ऑल्ट्रामेअर के इस मत से सहमत हूँ कि "उपनिषद् साधारण व्यावहारिक बुद्धि को चरम तत्व के ग्रहण में अक्षम मानते हैं" (अ–4), किन्तु मैं उसके इस मत से सहमत नहीं कि उपनिषदीय तत्ववेत्ताओं की "अनुभूति" निर्भयता तथा अधिकार-पूर्वक इन्द्रिय-जन्य अनुभव की उपेक्षा करती है और प्रत्यक्ष ज्ञान की अवहेलना करती है, वरन् विरोध को मिटाने का प्रयत्न नहीं करती (अ–4)। अनुभूति और प्रज्ञा का पारस्परिक सम्बन्ध एक महान दार्शनिक समस्या उपस्थित करता है। और जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है (अ–7) पूर्वीय दर्शन की एकान्त समीक्षा करने का उद्देश्य रखने वाले ग्रन्थ में उनकी चरम सत्य-निर्णय की तुलनात्मक क्षमता का दार्शनिक विवेचन सम्भव नहीं।

4. **कुछ पश्चिमीय विद्वानों के मत का परीक्षण**—उपनिषदीय वाङ्मय पर पश्चिमीय विद्वानों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का अभाव नहीं है। यद्यपि उनके उपनिषदीय वाङ्मय विषयक साहित्य का परिमाण उनके वैदिक वाङ्मय विषयक साहित्य की भाँति पुष्कल तथा विद्वत्तापूर्ण तो नहीं हैं, फिर भी वह कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त की ओर वेबर, रोअर, मैक्समूलर, वोइटलिन्क, विटने, डॉयसन, ओल्डेन वर्ग, ओल्ट्रामेअर, हर्टेल, हिलेब्रान्त आदि पश्चिमीय विद्वानों के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। डॉयसन का उपनिषद्-विषयक ग्रन्थ उसकी महान विद्वता, अध्यवसाय और प्रतिभा का द्योतक है। यही बात ओल्डेन बर्ग तथा ओल्ट्रामेअर की कृतियों के विषय में भी कही जा सकती है। मैं उपनिषदीय वाङ्मय के विषय में निर्धारित प्राचीन विद्वानों के बहुमतों की विस्तृत समीक्षा करना नहीं चाहता, जो उपनिषद् दर्शन के सभी जिज्ञासुओं की साधारण सम्पत्ति बन गये हैं। मैं केवल कुछ परवर्ती मतों का ही समीक्षण करूँगा। अपने "उपनिषदीय दर्शन" नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत केनोपनिषद् की विद्वत्तापूर्ण, यद्यपि एक पक्षीय, भूमिका में यह कहते समय कि उपनिषदों के "ब्रह्म" को "वह विश्वात्मा समझना चाहिए, जिसमें अन्ततः समस्त व्यक्तिगत आत्माओं का निलय हो जाता है" हर्टेल यह भूल जाता है कि उस उपनिषद् का उद्देश्य ब्रह्म को अंग्रेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ की भांति एक शक्ति अथवा सत्ता के स्वरूप में निरुपित करने का है—

"सान्ध्य सूर्य की पुण्य प्रभा औ
प्राण-प्रकम्पित अमर-मलय,
उदधि-चक्र; नीलाभ गगन औ
मानव-मन जिसका आलय।"

यही उस उपनिषद् का एकान्त प्रतिपाद्य सिद्धान्त होना चाहिए जहाँ हमें प्रकृति-सृष्टि और मनः सृष्टि के चरम सत्य के प्रतीक की भांति ब्रह्म का ध्यान करने का आदेश दिया गया है। "तस्येष आदेशो यदेत द्विद्युतो व्यद्युतदा इतीतिन्यमीमिषदा इत्यधि दैवतम्। अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः।" (केन० 4–29,30)। अग्नि के साथ ब्रह्म की एकतत्वता के निरुपण के लिए हर्टेल को समुचित समादर करने के साथ-साथ यह अवश्य कहना पड़ेगा कि हम उपनिषदों को किसी प्रसंगेतर प्रश्न की विवेचना न करने के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते। एक शक्ति अथवा सत्ता के रूप में ही ब्रह्म का आध्यात्मिक निरुपणप्रसंगगत विषय होने के कारण, "एक विश्वात्मा के रूप में जिसमें

अन्ततः सम्पूर्ण व्यक्तिगत आत्माओं का निलय हो जाता है", ब्रह्म का निरूपण अवान्तर विषय होजाता। केनोपनिषद् आध्यात्मिक अनुभूति के लिए आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता की उपेक्षा करता है, उस उपनिषद् के अनुसार आत्मा केवल अपने अन्तः प्रकाश द्वारा आत्मानुभूति में समर्थ है, और उस उपनिषद् की उमा इन्द्र को ब्रह्म की अनुभूति में किसी प्रकार की सहायता नहीं देती, यह संकेत करते समय हर्टेल यह भूल जाता है कि आध्यात्मिक गुरु का वास्तविक कर्तव्य दिव्य-लोक के प्रकाशस्तम्भ की भाँति उस पथ पर स्वयं विना जाये ही निशा में पथ भूले पथिक के समान साधक को आध्यात्मिक विकास का पथ प्रदर्शन मात्र है जैसा कि उमा करती है। उपनिषदों के तत्व ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसे रुढि-मूलक मतों का कारण विद्वानों का एक देशीय दृष्टि-कोण है। ओल्ट्रामेअर के अपने "भारतीय ईश्वरीय विचारों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में उपनिषदों के प्रति किया गया दोषारोपण भी इसी एक देशीय दृष्टिकोण का उदाहरण है। उसका कथन है कि विश्वात्मा के साथ व्यक्तिगत आत्मा की एकता प्रतिपादित करने में सम्पूर्ण व्यक्ति-गत आत्माओं की एकता जिसका सहज निष्कर्ष है—उपनिषद् इस तत्व तक न पहुंच सकीं कि "तुम्हें अपने पड़ौसी को अपने ही जितना प्रेम करना चाहिए।" यह ठीक है कि बाइविल का यह वाक्य कि "तुम्हें अपने पड़ौसी को अपने ही जितना प्रेम करना चाहिए" उपनिषदों में नहीं पाया जाता; किन्तु यह कहना कि उपनिषदों में यह भाव नहीं पाया जाता, एक उपनिषदीय विद्वान के लिए सचमुच बड़े साहस का कार्य होगा। "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः" (ईश० 7)। इस उपनिषदीय सूक्ति का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या है कि आत्मानुभूति-प्राप्त सिद्ध पुरुष को मानव-मात्र में आत्मा का ही स्वरूप देखना चाहिए। उसे समस्त मानवों को सिद्धि के स्वर्गीय साम्राज्य की साधन-सृष्टि समझना चाहिए। अन्त में, जब ओल्डेनवर्ग "उपनिषदीय सिद्धान्त" नामक अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में यह कहता है कि उपनिषदीय दर्शन के समानान्तर सिद्धान्त कान्ट के दर्शन की अपेक्षा प्लोटिनस, सूफी तथा एकहार्ट जैसे ईसाई रहस्य वादियों में अच्छे मिलेंगे और जब वह यह कहकर कि "रहस्यवादी का पथ एक है और कान्ट का दूसरा" उपनिषदीय दर्शन की कुछ उपेक्षा-पूर्ण अवहेलना करता है, तो हम कान्ट के विषय में तनिक अन्तर के साथ वही बात कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं जो अरिस्टोटिल ने प्लेटो के विषय में कही कि "कान्ट हमारा मित्र है किन्तु सत्य हमारा देवता है।" कान्ट के दर्शन का केन्द्रस्थ सिद्धान्त साकार है और उपनिषदों का निराकार है, यह कहकर कान्ट के दर्शन की

श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए वह इस सत्य की अन्ध अवहेलना करता है कि कान्ट का तर्क-विमर्श उस महान तत्व-मूलक तर्क-पद्धति का प्रथम-पद मात्र था, जिसके दूसरे पद तथा निष्कर्ष (परिणाम) क्रमशः व्यावहारिक-बुद्धि-विमर्श तथा न्याय-विमर्श हैं, जिनमें 'श्रेय' तथा 'वित्त' (मूल्य) की कल्पना केवल तर्क-मूलक बुद्धिवाद के पूरक के रूप में उदित हुई है। केवल तर्क के आधार पर जीव, आत्मा, जगत, ईश्वर आदि के चरम सत्य के विषय में मानसिक जड़ता उत्पन्न करने वाली तर्क-विभ्रान्ति, व्यापार-विकृति का वरदान देने वाले उन्मादक द्रव्य, तथा असाध्य आदर्शों के अतिरिक्त और किस तत्व-प्रणाली का प्रतिपादन किया जा सकता है। शुद्ध तर्क के आधार पर अज्ञेयवाद के स्वयं-प्रतिष्ठित तथा अधूरे सिद्धान्त-प्रतिपादन के प्रमाद की अपेक्षा, जिससे श्रद्धा के लिए स्थान बनाने में ज्ञान की हत्या अनिवार्य रूप से होती है, ऑगस्टिन का 'विज्ञात अज्ञानी', याज्ञवल्क्य का 'नेति नेति', एकहार्ट का 'न यह न वह' 'न यद्वा न तद्वा' आध्यात्मिक नम्रता का द्योतक होने के कारण सत्य के अधिकारी हैं।

5. **उपनिषद् और आधुनिक दर्शन**—कान्ट के साथ उपनिषदों की तुलना, कई प्रश्नों के विषय में, उपनिषदीय तत्व-सिद्धान्तों की आधुनिक विचारा-धारा की प्रवृत्तियों के साथ समानता की ओर संकेत करती है। एक समय था जब उपनिषदीय दर्शन की तुलना प्लेटो और पार्मेनिडीज़ के तत्व सिद्धान्तों से की जाती थी, एक समय था जब उनकी तुलना कान्ट और शौपेन-हावर से की जाती थी; हम जो वर्तमान विचार-जगत में रहते हैं, आज के विश्व की विचार वृत्तियों के साथ इसके साम्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। कोई भी जो प्रस्तुत ग्रन्थ के विचार विधान को अभिगत करने का कष्ट करेगा, देखेगा कि उपनिषदीय दर्शन उनके लिए कितना स्फूर्ति-जनक है, जो आधुनिक तत्व शास्त्र की प्रवृत्तियों के अनुशीलन में रुचि रखते हैं। उपनिषदों में हमें शुद्धाद्वैत, सगुण (विशिष्ट) अद्वैत, बहु पुरुषवाद, अहमेववाद, रहस्यवाद, प्रज्ञा और अनुभूति का सम्बन्ध आदि अनेक सिद्धान्त मिलते हैं जिन्होंने वर्तमान दार्शनिक जगत को विभाजित कर रक्खा है। यदि तुलनात्मक दर्शन-मीमांसा देवदासी की भांति चिरवन्ध्या न होती तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में उपनिषदीय दर्शन के वर्तमान विचार-वृत्ति के साथ साम्य की विवेचना की जाती। हमें तुलनात्मक दर्शन की अपेक्षा विधायक दर्शन अधिक अभीष्ट है। ज्ञान के विकास तथा विचार-विनिमय के नित्य नये साधनों द्वारा संसार एकता की ओर अग्रसर हो रहा है। अब पश्चिमीय तत्ववेत्ताओं की भारतीय दर्शन,

विशेषकर उपनिषदीय दर्शन के प्रति उपेक्षा संगत नहीं। जिन प्रश्नों पर आज ब्रेडले का बोसांके से, वार्ड का रॉइस से, प्रिंगल पैटीसन का मैक्टागार्ट से मतभेद है, उन्हीं प्रश्नों पर प्राचीन उपनिषदीय दार्शनिकों का मतभेद रहा है। यहाँ भी हम जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध-विषयक, अमरत्व की प्रकृति, दृश्य सृष्टि और मानवता के ध्येय विषयक वे ही उलझनें पाते हैं। बर्गसाँ का 'जीवन तत्व' (L'elan vital), जो उसके लिए शारीरिक स्फूर्ति-मात्र है, छान्दोग्य के आरुणी में (6,11) कहीं अधिक मानसिक तथा आध्यात्मिक महत्व से समन्वित 'प्राणतत्व' के रूप में दिखाई देता है। दिक् और काल के आधार पर प्राण, मन, देवता, गुणात्मक तत्वों के विकास के साथ सत्य का श्रेणीबद्ध निरुपण, जो हम अलेक्जेन्डर तथा लॉयड मॉर्गन में पाते हैं, वह ईश्वर की मूलसत्ता प्रतिपादन के प्रतिकूल विधान की सबल विवेचना के साथ उपनिषदों में उपस्थित हैं। वही ईश्वर उपनिषदों में सत्ता का मूलाधार माना गया है। इसी से प्रत्यभिधान द्वारा मन, प्राण, दिक् और काल की उत्पत्ति हुई। आत्मानुभूति की ज्ञान-शास्त्र-परक सूक्ष्म विवेचना जो हमें उपनिषदों में मिलती है, वह आज के किसी भी उद्भट विचार-वेत्ता के सामने अपना महत्व रखती है। उपनिषदीय दर्शन की महत्व-पूर्ण कोटि पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक प्राचीन पश्चिमीय विद्वान की दुःसंवृत्त तथा असामंजस्य-पूर्ण धारणा कि 'उपनिषद् एक पतित जाति तथा असभ्य और अधोगति-शील समाज के अज्ञान-काल की सृष्टि हैं," कितनी प्रमादपूर्ण है। उपनिषदों में एक समवेत तत्व-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और उसमें विश्लेषण के लिए स्थान नहीं है, ऐसी सम्भ्रान्त धारणा के आधार पर लगाये गये दोषों के प्रतिकार का प्रयास भी प्रस्तुत ग्रन्थ के निरुपण विधान में किया गया है। भारतीय दर्शन पर सर्वेश्वरवाद दैववाद, कर्मवाद, विधि-निषेधातीतवाद, निराशावाद आदि दोष प्रायः लगाये जाते हैं। यहां भारतीय दर्शन तथा विशेषतः उपनिषदों के प्रति आरोपित किए गए सम्पूर्ण दोषों के प्रक्षालन के प्रयास से विषयान्तर होने का भय है। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर प्राप्य विविध तथा प्रचुर उपनिषदीय विचार-सम्पत्ति को इन समालोचकों के दृष्टिपथ में ला सका, तो इसका प्रणयन सफल है, और अस्तित्व सार्थक। अतः यह कहना कि "उपनिषद् एक निरर्थक नीतिवाद अथवा निर्मूल विरोधवाद के प्रतिपादक हैं," नितान्त निष्प्रयोजन आरोपण है, उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों की ओर इसका लक्ष्य भी नहीं है। उपनिषदों पर निराशावाद का दोषारोपण करने का कारण उनके तत्व को समझ सकने की क्षमता का अभाव है। उपनिषदीय

दर्शन के एक अंश (अंग) मात्र पर निराशावाद की छाया दिखाई देती है, इसका अर्थ यह नहीं कि समस्त उपनिषदीय दर्शन निराशावाद का प्रतिपादक है। भारतीय विषयों पर लिखने वाले पश्चिमीय विद्वानों की प्रायः यही धारणा रही है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पहले भारत में निराशा और दैन्य का ही साम्राज्य था। मानों रवीन्द्र ही पश्चिम से भारत के लिये आशा और आनन्द का सन्देश लाये। रवीन्द्र की आनन्द मीमांसा उपनिषदीय आनन्द महार्णव की एक तरंग-मात्र है, जो प्राचीन भारतीय जीवन की लीला भूमि में शत-शत तरंगों की क्रीड़ा में अमर लहराता है। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ का संकेत किसी नीति-तत्व की ओर हो; तो वह आत्मज्ञ रहस्यवादी की सदैव ब्रह्मानन्द-अनुभूति के नीति-तत्व का प्रतिपादन मात्र है। लार्ड रोनाल्डशे ने उपनिषद् के एक अवतरण (वाक्य) पर ही अपने सीमित दृष्टिकोण को केन्द्रित करके अपने "भारत-एक विहंगम दृष्टि" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "भारत का समस्त शारीरिक तथा मानसिक जीवन निराशावाद से आक्रान्त है, और भारतीय दार्शनिक आनन्दमय जीवन का विधायक चित्र कभी नहीं खींच सके (उप०–सूची)।" समुचित समादर के साथ हमें उनसे उपनिषदों के मूल-तत्व के अनुशीलन का प्रयत्न करने का निवेदन करना चाहिये। सम्भव है इससे उनको अपने मत-परिवर्तन की प्रेरणा मिले। यह स्वीकार करते हुये भी कि उपनिषदीय सिद्धान्त आनन्द-मय जीवन का प्रतिपादन करते हैं, एक आपत्ति और शेष रह जाती है कि एक भारतीय का आनन्द एक वस्तु है और एक ईसाई का आनन्द दूसरी वस्तु, पहला निषेधात्मक है, और दूसरा विधेयात्मक। मि० उर्कुहार्ट ने "उपनिषद् और जीवन" नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ–69–70) इसी मत का प्रतिपादन किया है। हम कह सकते हैं कि पहले तो निषेधात्मक आनन्द की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि यह शब्द-समुच्चय ही परस्पर विरोधी है और दूसरे आनन्द मानव-मात्र के लिये एक ही है चाहे वे भारतीय हों अथवा यूरोपीय, क्योंकि जहां ईश्वर ने समस्त मानव-जाति को एक प्रकार की बुद्धि, कल्पना, तथा इच्छाशक्ति प्रदान की हैं, वहां उसने उनकी एक रूप चरम अनुभूति के उपादान भी प्रस्तुत किये हैं। ओल्डेनवर्ग ने सचमुच साहस के साथ स्वीकार किया है, जिसका इन समालोचकों में अभाव है, कि दूसरा मत भी समानरूप से माननीय है कि इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती है कि "ब्रह्म से परिपूर्ण ओत प्रोत" जगत के जीवन का सिद्धान्त निराशावाद हो सकता है। जो उपनिषदों में दुःख खोजना चाहें, वे दुःख खोज सकते हैं; जो आनन्द खोजना चाहें वे आनन्द खोज सकते हैं। इच्छानुकूल फल प्राप्ति का सिद्धान्त सत्य है।

6. प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन उद्देश्य—जैसा कि ऊपर के विवेचनों से प्रतिलक्षित होता है, प्रस्तुत ग्रन्थ के दो प्रधान उद्देश्य हैं जिनसे हमारा सम्बन्ध है। पहला भारतीय दर्शन-शास्त्र के विद्वानों के सामने भारतीय-दर्शन के निरुपण का एक नवीन सिद्धान्त रखना, दूसरा यूरोपीय तत्व-वेत्ताओं के विचारार्थ एक नवीन साहित्य उपस्थित करना। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ इतने ही उद्देश्य के लिये नहीं लिखा गया है। इसका चरम उद्देश्य आध्यात्मिक है। उस लक्ष्य के सामने सभी अभिप्राय गौण हैं। समय-समय पर उपनिषद् भारतीय दर्शन के पूर्वीय तथा पश्चिमीय विद्वानों को आध्यात्मिक रसानुभूति के लिये वाध्य करते रहे हैं। डॉ० गोल्डस्टूकर ने कहा है कि उपनिषद् भारत के उच्च और सुसंस्कृत धर्म के आधार हैं। जब श्री रमेशचन्द्र दत्त ने उपनिषद् का अध्ययन किया तो उनके हृदय में एक नवीन दिव्य भावना जागृत हुई, उनके नयनों के सामने एक अभिनव आभा प्रस्फुरित हुई। हवा में उड़ते हुये ईशोपनिषद् के एक पत्र ने राममोहन राय के जीवन को ही एक नूतन जीवन में परिणत कर दिया। ग्रैट उपनिषदों को उत्कृष्ट धार्मिक शास्त्र मानता है, तत्व शास्त्र नहीं। गेडेन यह स्वीकार करता है कि भारत के प्रत्येक धार्मिक पुनर्विधान का उदय उपनिषदों के अध्ययन से ही हुआ। मीड़ ने तो उपनिषदों को विश्वधर्म का शास्त्र तक कहा है। इन कथनों से स्पष्ट प्रकट होता है कि पूर्वीय तथा पश्चिमीय विचारवेत्ता उपनिषदों को किस आध्यात्मिक महत्व की दृष्टि से देखते रहे हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि संभवतः श्रीमद्भगवद् गीता को छोड़ कर भारतीय दर्शन साहित्य में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जो उपनिषदों के इतना धर्म-तत्व से संवलित हो तथा नवीन भारत के लिये जिसके आधुनिक विचार-पद्धति के युक्तिवाद अथवा तर्कवाद के प्रकाश में समर्थन की एकान्त आवश्यकता है। जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में यूरोपीय विचार-धारा के विकास-पथ का अनुशीलन किया है, वे जानते होंगे कि इसकी सत्ता, स्फूर्ति और उन्नति 'गिफ़र्ड व्याख्यान-पद्धति' की स्थापना पर कितनी निर्भर है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का व्याख्यान पद्धति की स्थापना का नेतृत्व निस्सन्देह समय की सद्गति का परिचायक है। इसके आधार पर भारतीय-दर्शन की विकास वृत्ति को समुचित पथ मिल सकेगा। संसार के धर्म-दर्शन में उपनिषद् एक श्रेष्ठ स्थान की अधिकारिणी हैं। इतने शीघ्र इस बात का अनुमान नहीं किया जा सकता कि आधुनिक विचार-पद्धतियों की प्रवृत्तियों के विकास में उपनिषदों का कितना हाथ होगा। यह स्पष्ट कर देना भी इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकार विविध उपनिषदीय सिद्धान्त रहस्यात्मक आत्मानुभूति की साधना की ओर अभिमुख हैं। हम यहाँ पर रहस्यात्मक अनुभूति

के अर्थ और प्रकृति की विवेचना नहीं करना चाहते और जगत सत्यवाद, उपयोगितावाद, तथा अद्वैतवाद के साथ रहस्यानुभूति की चरम 'सत्य' के निर्णायक के रूप में तुलना करना हमारा अभिप्राय है। किसी भी परतत्व दर्शन के सत्य और सामर्थ्य का मापदण्ड उसकी जीवन को दिव्यतर, अतः अधिक महत्वपूर्ण बनाने की शक्ति है। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में पाठक इस बात का अनुभव करेंगे कि उपनिषदीय दर्शन का चरम विकास व्यक्तिगत आत्मा में दिव्यात्मा का दर्शन है; किन्तु वह तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में अभिव्यक्ति न पा सका। आध्यात्मिक दर्शन का व्यावहारिक उपयोग हमें भगवद्गीता से प्राप्त होता है, जिसने आध्यात्मिक आधार को लेकर निष्काम कर्म के आदर्श का प्रतिपादन किया, जिससे लौकिक व्यापारों में भी परमार्थ की सिद्धि हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदीय तत्व-सिद्धान्तों के आधार पर ही भगवद्गीता के निष्काम कर्म का भव्य प्रासाद विनिर्मित हुआ है। दोनों में ही रहस्यात्मक आत्मसाधना प्रधान ध्येय मानी गई है। रहस्यात्मक आत्मानुभूति के लिये एक निश्चित दार्शनिक (तात्विक) आधार का निर्धारण भावी दर्शन शास्त्र के लिये एक महत्वपूर्ण प्रश्न होगा। 'तर्क मूलक अनुभूति शास्त्र' जो अब तक शाब्दिक प्रति विरोध समझा जाता था, अब अपने सत्य को प्रमाणित कर देगा। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ का उपनिषदीय तत्व-निरुपण इस ध्येय के सम्पादन में कुछ भी हाथ बटा सका तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

7. अध्यात्म विद्यापीठ और उसके उद्देश्य—प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म विद्यापीठ का प्रथम प्रकाशन है। अध्यात्म विद्यापीठ की स्थापना का उद्देश्य ईश्वरीय तत्व निरुपण में अभिरुचि रखने वाले सभी विद्वानों के लिये परस्पर विचार विनिमय की सुविधा का आयोजन है। इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रथम साधन विश्व के सभी दर्शनों और धर्मों पर निरन्तर तथा अध्यवसाय-पूर्ण खोज के पश्चात् लिखे गये ग्रन्थों का प्रकाशन है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विद्यापीठ की ओर से भारत के प्रधान शिक्षा केन्द्रों में व्याख्यान माला की व्यवस्था की जायगी। इससे भी संस्था के ध्येय-प्रसार में सहायता मिलेगी। विद्यापीठ के वर्तमान केन्द्र पूना, बम्बई, और नागपुर हैं। समय की प्रगति के साथ ज्यों-ज्यों संस्था के कार्य का विस्तार होता जायगा, त्यों-त्यों भारत के अन्य प्रान्तों में भी विद्यापीठ के केन्द्र स्थापित किये जायेंगे। विद्यापीठ का उद्देश्य एक भारत व्यापी संस्था का आयोजन है। इसका तत्वावधान भारत के सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों में से चुने गये कार्य-कर्त्ताओं के अधि-

कार में हैं। अध्यात्म विद्यापीठ की आयोजनाओं में अभिरुचि रखने वालों के लिये बीजापुर प्रान्त में साउथ मराठा रेलवे के किनारे स्थित एक रेलवे स्टेशन निम्बल में एक आश्रम की स्थापना की गई है, जो प्रज्ञापरक अथवा आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है। विद्यापीठ को विना किसी पंथ, जाति, राष्ट्र, वंश आदि के भेद के समस्त दार्शनिक तथा धार्मिक तत्वज्ञान को अपना क्षेत्र समझकर अपनाना चाहिये। विद्यापीठ का निष्पक्ष तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण, जिससे संस्था के कार्य में सदा स्फूर्ति मिलेगी, इसकी उद्देश्य पत्रिका की प्रस्तावना के निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जायगा "व्यक्तिगत आत्माओं के अन्तर्गत विश्वात्मा का दर्शन तथा अध्रुव जगत में ध्रुव सत्य की खोज का प्रश्न प्रत्येक विचारशील पुरुष का ध्यान आकर्षित करता रहा है,चाहे वह दार्शनिक हो, चाहे राजा। दार्शनिकों में प्लेटो तथा शंकराचार्य, और राजाओं में अशोक तथा अकबर दिव्य-तत्व-दर्शन की प्रवृत्ति के जाग्रत (सजीव) उदाहरण हैं। प्लेटो की सबसे अधिक ख्याति व्यक्तिगत उपादानों में सामान्य विश्व-तत्व के दर्शन के लिये है। शंकराचार्य ने उसे पहचानने के लिये, जिसके जान लेने पर सब कुछ जान सकना सुगम हो जाता है, आजीवन साधना की। अशोक ने अपने एक शिलालेख में दूसरों के धर्म की निन्दा का निषेध किया है—क्योंकि वह कहता था कि इस प्रकार मनुष्य अपने ही धर्म की अवहेलना करता है—और समवाय तत्व का उपदेश दिया। अकबर ने सर्व-धर्म सम्मेलन की आयोजना में उस विश्व-तत्व को खोजने का प्रयास किया था। उसकी धारणा थी कि सम्भवतः इसी प्रकार विश्व-मन्दिर का 'वह द्वार जिसकी तालिका खो गई है, खुल जाय।' प्लेटो तथा शंकराचार्य अथवा अशोक तथा अकबर के समय की धारणाओं और आज के विश्वासों में आकाश-पाताल का अन्तर है। समय की प्रगति के साथ ज्ञान ने भी अनेक पथ ग्रहण किये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य के ज्ञान-कोश को सुसम्पन्न कर दिया है। प्राचीन परम्पराओं का स्थान अभिनव विधानों ने ले लिया। फिर भी मानव-जीवन का चरम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन वही रहे। निस्सन्देह आज भी ईश्वर की खोज सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हमारे आध्यात्मिक जीवन का तात्विक समाधान आज भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व था।" विद्यापीठ की कार्यवाही का विशेष विवरण संचालक, अध्यात्म विद्यापीठ पूना अथवा साउथ मराठा रेलवे स्टेशनस्थ निम्बल प्रान्त, बीजापुर से प्राप्त हो सकता है।

8. **प्रस्तुत ग्रन्थ का तत्वावधान**—स्वर्गीय श्रीमन्त केप्टन सर परशु-

राम राव भाऊ साहब पटवर्धन के. सी. आई. ई., जमखण्डी अधिपति के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रदर्शन करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सर्वांश श्रेय आपके कृपाप्रवण तत्वावधान को है। अपने प्रति आपके तथा आपके राज्य के—जिसमें मेरा जन्म और दीक्षा हुई और जिससे मैं साहित्य जगत में भेजा गया—आभार का प्रदर्शन एकान्त असम्भव है। जिस समय अंग्रेजी भारत में निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा का विचार अंकुरित भी न हुआ था, स्वर्गीय भाऊ साहब के पिता श्रीमन्त अप्पा साहब ने अपने राज्य में माध्यमिक शिक्षा की भी निःशुल्क योजना का साहसिक विचार किया था। यह श्रीमन्त अप्पा साहब के उदारचेता उत्तराधिकारी के अनुरूप ही था कि आपने साहित्यिक तत्वावधान के प्रति इतनी अभिरुचि प्रदर्शित की कि अन्य अपेक्षित प्रकाशनों के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रंथ का तत्वावधान स्वयं स्वीकृत किया। यह मेरे लिये और भी दुःख का विषय है कि श्रीमन्त भाऊ साहब इसका प्रकाशन अपनी आँखों से न देख सके जिसका भार आपने इतनी उदारता के साथ स्वीकार किया था। आपने एक वन्य हाथी को शिक्षा देते समय वीर गति पाई। यह और भी शोक का विषय है कि आप अपनी अपेक्षित ग्रंथ माला आँखों से न देख सके जिसका प्रस्तुत ग्रंथ प्रथम प्रकाशन मात्र है। यह कहना अधिक न होगा कि स्वर्गीय जमखण्डी अधिपति के प्रोत्साहन से ही मैं और डॉ० एस. के. बेलवलकर भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रति सहानुभूति की याचना के लिये बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड रोनाल्डशे के पास पहुँचने का साहस कर सके, जिन्होंने पहले एक दीक्षांत भाषण में भारतीय दर्शन के उद्देश्य का योग्यतापूर्ण विवेचन किया था। यह लार्ड रोनाल्डशे के प्रभूत प्रोत्साहन तथा बम्बई प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर जॉर्ज लॉयड की कृपाभिरुचि का ही परिणाम था कि अपने अपेक्षित भारतीय दर्शन के इतिहास के समुदार तत्वावधान के लिए बम्बई विश्वविद्यालय तक हमारी पहुँच सम्भव हो सकी। हर्ष का विषय है कि बम्बई विश्वविद्यालय ने उक्त पुस्तकमाला के तीन ग्रन्थों की स्वीकृति दे दी, जो उसके तत्वाधान में प्रकाशित किए जायेंगे। सोलह अपेक्षित ग्रन्थों में से दो अभी तक प्रेस में हैं, और शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

9. "उपनिषद्-रहस्य" और "विधायक—युग"—बम्बई विश्वविद्यालय की भारतीय दर्शन इतिहास-माला के तीन ग्रन्थों के प्रकाशन की स्वीकृति के समर्थन के साथ-साथ यह निर्देश कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि उक्त ग्रन्थ-माला में ही प्रकाशित "विधायक युग" के साथ "उपनिषद् रहस्य"

का क्या सम्बन्ध है। भारतीय विचार के विकास में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा उपनिषदों के परवर्ती युगों का क्या स्थान है, इसका निरूपण ही "विधायक युग" का विवेच्य विषय है। जैसा कि एक भारतीय दर्शन के इतिहास-ग्रन्थ के अनुरूप है, और जहाँ तक उपनिषदों का सम्बन्ध है, उपनिषदों का काल क्रमानुकूल विवेचन तथा सोपानबद्ध निरूपण तथा उपनिषदीय विचारतत्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन उसके अन्तर्गत आ जाता है। "उपनिषद् रहस्य" का विचारकोण केवल उपनिषदों पर ही केन्द्रित है। इसमें उपनिषदीय विचार-तत्व सम्बन्धी विविध प्रश्नों का उपयुक्त शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। एक एकान्त विश्लेषणात्मक है, दूसरा सम्यक् रूप से संश्लेषणात्मक । ग्रीक दर्शन के एक समानान्तर उदाहरण से दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। "प्लेटो के सम्वाद" जिनसे उपनिषदों की निकटतम तुलना की जा सकती है, की विवेचना विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दोनों रीतियों से हो सकती है। अभिप्राय यह है कि हम चाहे प्लेटो के विविध संवादों का कालक्रमानुसार तथा श्रेणीबद्ध निरूपण कर सकते हैं, चाहे विविध संवादों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संश्लिष्ट रूप से विवेचन कर सकते हैं। "विधायक युग", और 'उपनिषद् रहस्य' में वही सम्बन्ध है जो गोम्पटर्स द्वारा प्रस्तुत प्लेटो के संवादों के विश्लेषणात्मक निरूपण और जैलर द्वारा प्रस्तुत प्लेटो के तत्व सिद्धान्त के संश्लिष्ट विवेचन में है। एक में एक-एक संवाद विवेचन के लिए क्रमशः अलग-अलग लिया गया है और दूसरे में सब एक साथ। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपनिषदीय दर्शन का अध्ययन करने के लिए दोनों ही ग्रन्थ अनिवार्य हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, उन्मूलक नहीं।

10. प्रस्तुत ग्रन्थ की विवेचन पद्धति—इस ग्रन्थ का उद्देश्य उपनिषदीय तत्व ज्ञान सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न का सांगोपांग सुसंघटित तथा विधायक पद्धति से विवेचन करना है। इसमें भारतीय परतत्व शास्त्र की सुव्यवस्थित भूमिका भी मिलेगी। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि भारतीय दर्शन पद्धतियों के अभ्यास क्रम की भूमिका के रूप में उपनिषदों का सुव्यवस्थित अध्ययन महत्वपूर्ण है। भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भारतीय दर्शन की उपयुक्त भूमिका रूप एक पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता का अनुभव बहुत दिन से किया जा रहा है। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ उस अभाव की पूर्ति में कुछ सहायक होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य उपनिषदों के विविध सिद्धान्तों को तर्क क्रमानुकूल, सृष्टि-विधानशास्त्र, मनोविज्ञान, परतत्व-

शास्त्र, नीतिशास्त्र, रहस्यवाद आदि उपयुक्त शीर्षकों में संगठित करके एक विकासोन्मुख व्याख्या द्वारा उपनिषदीय दर्शन का दिग्दर्शन मात्र है। तत्व-ज्ञान के तार्किक विवेचन के महत्व से लेखक भली प्रकार अवगत है; इसी लिए इस ग्रन्थ में उसने कहीं अपनी ओर से कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है। फिर भी लेखक के विधायक विचार का महत्व इस ग्रन्थ के विचारशील पाठकों से छिपा न रहेगा। पश्चिमीय विद्वानों के लिए यह विवेचन पद्धति कोई नवीन वस्तु नहीं। प्रिंगल पैटीसन की "ईश्वर विषयक कल्पना" इसका अच्छा उदाहरण है। लेखक का उद्देश्य, जैसा कि ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा, परतत्व शास्त्र के प्रश्नों के विषय में अपने विमर्शपूर्ण विचारों के लिए पथ प्रशस्त करना है। ईश्वर की इच्छा से विद्यापीठ के अगले प्रकाशन "अध्यात्म मार्ग" नामक ग्रन्थ में यह प्रयास सफल होगा।

11. आभार प्रदर्शन—सबसे पहले मुझे स्वर्गीय डॉ० ब्रजेन्द्रनाथ सील, वाइस चान्सलर मैसूर विश्वविद्यालय को, इस ग्रन्थ की टाइप प्रति अपनी प्रकृत विद्युतगति से पढ़ने का कष्ट करने की कृपा के लिए तथा कुछ महत्वपूर्ण संकेतों के लिये हार्दिक धन्यवाद देना है। प्रो० के० एन० द्रविड एम० ए० विलिंगडन कालेज, सांगली का भी मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने प्रेस में जाने के पूर्व सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक बार मेरे साथ अवलोकन किया है तथा कुछ महत्वपूर्ण सूचनायें भी दीं। हमारे संयुक्त ग्रन्थ "भारतीय दर्शन का विधायक युग" में से एक दो अवतरण उद्धृत करने की अनुभूति तथा अन्य सहायताओं के लिए मैं डॉ० एस० के० वेलवलकर का भी बहुत आभारी हूँ। इस भूमिका तथा ग्रन्थ के अन्त की ओर दी हुई ग्रन्थ सूची के अवलोकन के लिए मैं अपने मित्र सेंट जेवियर कालिज वम्बई के प्रो० आर० त्सिमरमान का भी कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ के अधिकांश प्रूफ संशोधन के लिए मेरे भतीजे प्रो० एन० जी० दामले, फर्गुसन कालिज, पूना भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे अपने युवक मित्र मि० रंगदत्ता वाडेकर को भी उपनिषदों की ग्रन्थ-सूचिका के विचार-पूर्ण विवेचन तथा कुछ प्रूफ संशोधन के लिये धन्यवाद देना है। शब्द-सूची तथा उपनिषदीय सूची के निर्माण में सहायता देने के लिये मुझे अपने पूर्व-शिष्य प्रो०वी०एस० गोगटे एम० ए० तथा प्रो० के० वी० गजेन्द्रगडकर, आर्टस कालिज नासिक के प्रति भी कृतज्ञता प्रदर्शन करनी है। शब्दसूची के अध्यवसायपूर्ण निर्माण तथा उसके अन्तिम स्वरूप निर्धारण का श्रेय मेरे शिष्य तथा मित्र जी. के. साने, एम. ए. को है। अश्रान्त प्रयास

और धैर्य के साथ दिन प्रतिदिन अपनी समोद सहायता प्रदान करने वाले मेरे लघु लेखक मि० एस० के० धर्माधिकारी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ओरियण्टल बुक एजेन्सी के व्यवस्थापक डॉ० एन० जी० सार देसाई की इस ग्रन्थ के प्रति प्रदर्शित अनवरत तथा उत्साहपूर्ण अभिरुचि सराहनीय है। पूना के जगत-हितेच्छु प्रेस के मालिक मि० नाना साहब गोन्धलेकर ने इस ग्रंथ को इस स्वरूप में लाने में, जिसमें कि यह आज जनता के सामने रक्खा जाता है, कुछ उठा नहीं रक्खा है। और भी कुछ लोग हैं जिनको मुझे धन्यवाद देना है। किन्तु इस ग्रन्थ के साथ उनका सम्बन्ध आध्यात्मिक है। केनोपनिषद् की शैली के अनुसार मुझे उनका नाम निर्देश करना ही उचित जान पड़ता है। "शुद्ध सुवर्ण पर पानी करना, नलिनी को रंगना, कमल को सुवासित करना, निरर्थक और उपहासास्पद है।"

रा. द. रानडे

१

पृष्ठ-देश

१. उपनिषदों के अध्ययन का महत्व

भारतीय विचार–जगत के इतिहास में उपनिषदों के अध्ययन के पुनरुत्थान के साथ-साथ प्रत्येक वार एक महान धार्मिक आन्दोलन हुआ है। जब आज से लगभग दो हज़ार चार सौ वर्ष पूर्व भगवद्गीताकार ने प्रथम बार उपनिषदीय तत्व–सिद्धान्तों को एक स्वर्गीय अमर काव्य में समन्वित करने का प्रयत्न किया था, तो उसका उद्देश्य स्पष्ट रूप से धार्मिक विचार–धारा को एक नव जीवन प्रदान करने तथा इस प्रकार एक वास्तविक रहस्यात्मक धर्म की नींव डालना था, जो युगों तक रहस्यात्मक कार्य–कलनाओं के पन्थ को प्रकाशित करता रहे। पुनः, लगभग वारह सौ वर्ष वाद, जब वेदान्त-दर्शन के दिव्य प्रासाद के मनीषी विधायकों ने उपनिषदीय ऋषियों से प्राप्त उपादानों के आधार पर सत्य के श्रेणी-विधान से हाथ लगाया, तो फिर एक नवीन धार्मिक प्रतिवर्तन का युग उपस्थित हो गया। किन्तु इस वार के धार्मिक प्रतिवर्तन का स्वरूप केवल रहस्यात्मक होने की अपेक्षा प्रज्ञात्मक अधिक था। आज वीसवीं शताब्दी में, दूसरे वारह सौ वर्ष वीत जाने के वाद, जब कि वर्तमान विज्ञान और विश्व-धर्म तथा विश्व-दर्शन के सर्वांगीण अध्ययन से अनुप्राणित पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव वेग से बढ़ रहा है, अपने उपनिषदीय पूर्वजों द्वारा छोड़ी हुई एक महान आध्यात्मिक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों के सम्मुख रहस्यवाद और प्रज्ञावाद के अन्तर्गत एक ऐसे समन्वय-स्थापन की समस्या उपस्थित हो जाती है कि उपनिषदों से प्राप्त आत्मानुभूति के शाश्वत सत्यों के आधार पर हम जो कोई विचार-विधान संसार के सामने रक्खें वह विज्ञान, दर्शन और धर्म के सिद्धान्तों से समन्वित सामंजस्य रखता हो, जिससे हमारे सत्य विषयक

दार्शनिक सिद्धान्त अक्षुण्ण रहने के साथ-साथ वर्तमान वैज्ञानिक विकास से प्रतिरोध के स्थान पर परिपोषण प्राप्त कर सकें और हमारे वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त अपनी पारस्परिक प्रतिक्रिया द्वारा एक ही परमेश्वर के महिमा-संगीत की सामध्वनि से प्रतिगुंजित होने लगें। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक का विश्वास है कि उपनिषद् सत्य के उस स्वरूप का निरुपण करने में समर्थ हैं, जो मनुष्य की वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रत्याकांक्षाओं की परितुष्टि कर सकता है, क्योंकि उपनिषद् हमारे सामने सत्य का वह सिद्धान्त रखतीं हैं जो अपरोक्ष तथा रहस्यात्मक स्वानुभूति-जन्य है, जिसकी ओर कोई भी विज्ञान अँगुली नहीं उठा सकता, जिसे सभी दर्शन अपने प्रयासों का अन्तिम लक्ष्य समझते हैं, और जो भिन्न-पथ होने के कारण विरोधी से प्रतीत होने वाले विविध धर्म-स्वरूपों का एकान्त व्यापक तत्व है।

२. उपनिषद् और ऋग्वेद

आर्य-जाति के प्राचीनतम शास्त्र ऋग्वेद के साथ, जिसका रचना-काल उपनिषदों से दो हज़ार वर्षों से अधिक पूर्व रहा होगा, इन "रहस्यानुभूति-परक शास्त्र" उपनिषदों के सम्बन्ध की एक हलकी-सी रूप-रेखा बड़ी मनोरंजक होगी। पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि ऋग्वेद प्रकृति की अनुप्राणित मूर्त्त शक्तियों के प्रति सम्बोधित एक महान मन्त्र-काव्य है। अतः वह धर्म-भावना के विकास की सर्व प्रथम कला वाह्य-प्रकृति-पूजा का प्रतीक है। इसके विपरीत उपनिषदों की धर्म-भावना अन्तर्मुखी है। उपनिषदों में प्रकृति के देवी-देवताओं को लक्ष्य कर कहे हुए मन्त्र नहीं पाये जाते, वरन् इसके विपरीत प्रकृति की शक्तियों के आधार-भूत "मूल-तत्व" की वैज्ञानिक खोज का प्रयास दिखाई देता है। उनमें न देवताओं की अर्चना तथा वन्दना है और न उपनिषदीय युग में कहीं प्रकृति के अनुप्राणित शक्ति देवताओं के प्रति प्रकोप-जन्य भय का भाव ही परिलक्षित होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जैसे-जैसे हम वैदिक-युग से उपनिषदीय युग की ओर बढ़ते जाते हैं, हमें मानवीय भावना का केन्द्र ईश्वर की ओर से हटकर आत्मा की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। आत्मा के विश्वात्मा से एक रूप हो जाने पर, संक्षेपतः आत्मानुभूति जाग्रत होजाने पर, कौन और किसका भय करे? कौन और किसकी अर्चना करे? कौन और किस देवता की वन्दना करे? एक शब्द में हम यह कह सकते हैं कि जैसे हम वेदों से उपनिषदों की ओर बढ़ते हैं, हम उपासना से दर्शन की ओर, मन्त्र-गान से ध्यान की ओर, अनेकेश्वरवाद से एकेश्वर-भावना मूलक रहस्यवाद

की ओर बढ़ते हैं। दूसरे, हमें ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में विकसित होती हुई सृष्टि विधान की भावनाओं को भी स्मरण रखना चाहिये। ऋग्वेद के दशम् मण्डल के अठासीवें सूक्त में जहाँ मन्त्र द्रष्टा ऋषि यह विचार करता है कि "वह कौनसा मूल-तत्व है जिससे चिरन्तन स्वर्ग तथा शाश्वत सृष्टि का निर्माण हुआ और किस आधार पर खड़े होकर विधाता ने विश्व का उद्घाटन किया ?", अथवा दशम् मण्डल के पाँचवें तथा सत्ताईसवें सूक्त में जहाँ सत् और असत् द्वारा सृष्टि-विधान की भावनाओं का निरुपण किया गया है, अथवा दशम् मण्डल के प्रसिद्ध अज्ञेयवादात्मक एक सौ उन्तीसवें सूक्त में जहाँ मूल सत्ता सत् और असत् दोनों से परे मानी गई है तथा विधाता की ज्ञान-युक्त प्रक्रिया के विषय में भी सन्देह उपस्थित किया गया है, हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद के इस युग में उस दार्शनिक भावना का उदय हो चुका था, जो ब्राह्मण-युग में होकर उपनिषदीय युग के आदि में समुचित शक्ति संगठित कर लेती है। तीसरे, मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से, हम यह कह सकते हैं कि जहाँ ऋग्वेद भावना और कल्पना की सृष्टि है वहाँ उपनिषद् चिन्तन और तर्क की सृष्टि है। ऋग्वेद में, विशेषकर वरुण-सूक्तों में, ऐसे अनेक सूक्त हैं जो भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से बाइबिल के भक्ति-परक सूक्तों से साम्य रखते हैं। किन्तु; उपनिषदीय वाङ्मय में ऐसे भावना-प्रधान सूक्तों का एकान्त अभाव है। इसके विपरीत हम उपनिषदों में प्रशान्त प्रज्ञा और सूक्ष्म तर्क द्वारा चरम सत्य की तीव्र जिज्ञासा पाते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के सूक्तों में जहाँ हम अपनी ही कल्पना से प्रतिष्ठित देवता के सम्मुख समुदार क्षमा की याचना करते हुये दीन भक्त की विनीत शरणागति की अभिव्यक्ति पाते हैं, वहाँ उपनिषद् साहस के साथ यह घोषणा करते हैं कि "किसी देवता की अनुकम्पा की अपेक्षा मत करो; जिस देवता की तुम उपासना करते हो वह सत्य नहीं—नेदं यद् इदम् उपासते; सृष्टि-क्रम का नियामक बाहर नहीं है; निसर्ग और नीति कोई बाह्य सृष्टि नहीं हैं; इनकी उद्भावना अन्तरात्मा से होती है जो अन्तर्बाह्य दोनों सत्ताओं का समन्वय है, जो सृष्टि का शाश्वत आधार है, जो विश्व-सत्ता के उच्छृंखल स्रोत की अनियन्त्रित गति को संयत रखने वाली सुदृढ़ वेला है।"

३. उपनिषद् और अथर्ववेद

जब हम ऋग्वेद के युग से अथर्ववेद के युग की ओर बढ़ते हैं, तो सूक्तों का संसार मन्त्र–तन्त्र–जगत में परिणत होने लगता है। भूत, पिशाच, मान्त्रिक, तान्त्रिक, रोग, मृत्यु आदि इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं का

स्थान ले लेते हैं। अथर्ववेद निस्सन्देह प्राचीनों के मन्त्र–तन्त्रों का भण्डार है। अथर्ववेद का एक आशामय अंग भी है जहाँ कल्याण–मूलक मन्त्र विघातक मन्त्रों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु अथर्ववेद का जो साधारण प्रभाव हमारे हृदय पर रह जाता है, वह भक्ति और तर्क के सहज स्रोत का शोषण करने वाले मृतक-भोजी राक्षस का ही है। यह धारणा हमें जादू–टौना और मन्त्र–तन्त्रों के घोर अरण्य में छोड देती है। अथर्ववेद और उपनिषदों की भावना में आकाश–पाताल का अन्तर है। यदि एक उत्तरी ध्रुव पर है, तो दूसरी दक्षिणी ध्रुव पर। इसमें सन्देह नहीं कि अथर्ववेद में कहीं कहीं दार्शनिक चिन्तन के चिह्न दिखाई देते हैं। काल के प्रति सम्बोधित इक्कीसवें मण्डल का तिरेपनवें और चौअनवें मन्त्र इसके उदाहरण हैं। और न हम यही कह सकते हैं कि उपनिषदों में अथर्ववेद के मन्त्र तन्त्रों के प्रभाव का कोई चिह्न नहीं है। किन्तु दोनों का प्रधान भेद यथावत् रहता है कि अथर्ववेद से उपनिषदों की ओर बढ़ते समय हम तन्त्र–जगत से तत्व–जगत की ओर बढ़ते हैं। फिर भी उपनिषदीय विचार–जगत के कुछ दोषों का निदर्शन कर देना असंगत न होगा, जो बृहदारण्यक और कौपीतकी में पाये जाते हैं तथा जो दर्शन के साम्राज्य में भी कुछ निकृष्ट परिपाटियों के प्रभाव को प्रमाणित करते हैं। जब हम बृहदारण्यक के छठे अध्याय के चौथे आरण्यक में स्त्री–वशीकरण, जारण, मारण, व्यभिचार आदि, अथवा कौपीतकी के दूसरे अध्याय में मन्त्र-द्वारा पर–धन-सिद्धि, पर-पुरुष या पर-स्त्री की प्रेम–प्राप्ति तथा अपने जीवन–काल में सन्तान के मरण-निरोध आदि के साधनों का उल्लेख अथवा अन्ततः तन्त्र–द्वारा शत्रु–संघातक 'दैव-परिमर' की दीक्षा उस उपनिषद् में पाते हैं, तो हमें स्मरण रखना चाहिये कि ये दार्शनिक तथा रहस्यात्मक चिन्तन के युग के दोषों के दृष्टान्त मात्र हैं, और जैसा कि कवि का कथन है उपनिषदीय तत्व–विचार के सौन्दर्य को नष्ट करने के स्थान पर चन्द्रमा के कलंक की भांति दार्शनिक चिन्तन के सौन्दर्य को और बढ़ाते हैं 'मलिनमपि हिमांशोलक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।'

४. उपनिषद् और ब्राह्मण

ब्राह्मणों का युग यज्ञ–यागादि तथा कर्मकाण्ड का युग है। जिस प्रकार अथर्ववेद का मुख्य विषय मन्त्र–विद्या है, उसी प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य विषय यज्ञ–विधान है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि ऋग्वैदिक सूक्तों की मूल पावनता का ब्राह्मणों के युग में इतना विपर्यास क्योंकर होसका, जो वैदिक सूक्तों के आधार पर एक निरर्थक कर्म–विधान का प्रासाद आरोपित

करना चाहते हैं और वेदों के अवतरणों तथा ऋचाओं को अपने सिद्धान्तानुकूल प्रयोग में लाते हैं और उन्हें याज्ञिक के नीरस जीवन का समर्थन करने को वाध्य करते हैं। ब्राह्मण–सूक्तों में दन्त–कथा, वेदानुशासन रूढ़ि, भाषा–शास्त्र तथा दर्शन सम्बन्धी विचार–तत्वों का ऐसा कुशल समन्वय किया गया है कि वे यज्ञकर्ता के व्यावहारिक जीवन पर मन्त्रों के प्रभावाधिकार का प्रतिपादन करते हैं। खेद का विषय है कि ब्राह्मण–युग में विविध यज्ञों के सांगोपांग रीति–विधान के लिए ही इतने श्रम और मनः-प्रयास का दुरुपयोग हुआ। यह हमें केवल मध्य–युग की क्रिश्चियन रूढ़ि के प्रज्ञापरक विश्लेषण के चक्रान्तर्गत चक्रों का स्मरण दिलाता है। इसके विपरीत थोड़े से अपवादों को छोड़कर उपनिषदों की प्रकृति ब्राह्मणों के कर्म–विधान–सिद्धान्तों के एकान्त प्रतिकूल है। ब्राह्मणों में प्रतिपादित कर्म–विधान के प्रभाव और फल के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् का अनिर्दिष्ट मत ब्राह्मण वाङ्मय के निष्फल तथा निरर्थक कर्मकाण्ड के विरुद्ध उपनिषदीय दार्शनिक चिन्तन की सामान्य प्रतिक्रिया का अपवाद मात्र है। जहाँ एक स्थान पर मुण्डकोपनिषद् इस वात का समर्थन करती है कि मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन हमारे पूर्वजों द्वारा अनुमोदित यज्ञ और कर्म विधिवत् अन्वानुकरण मात्र है (मूल० १–क), वहाँ वह इससे तनिक आगे चलकर ही यह कहने लगती है कि "यज्ञ जीवन–सागर की तरंगों में उन अस्थिर नौकाओं के समान हैं जो हमें जब चाहे डुबाकर रसातल में पहुँचा सकती हैं। जो यज्ञों को मानव–जीवन का परमश्रेय समझते हैं वे वार-वार जराजीर्ण होकर मृत्यु की शरण लेते हैं। अन्धकार में रहने वाले तथा अपने को ज्ञानी समझने वाले ये मूढ़ पुरुष अन्धों द्वारा अधिनीत अन्धों के समान इधर उधर भटकते हैं। घोर अज्ञान में रहते हुये भी ये अपने को परमार्थ–प्राप्त सिद्धज्ञानी समझते हैं। पुण्यक्षय होने पर वे अपनी वासनाओं के सहित अपने स्वर्गीय स्थानों से पतित होकर फिर इसी लोक में आते हैं। यज्ञ को ही मानव–जीवन का चरम ध्येय मानने के कारण वे अन्य किसी ध्येय की कल्पना भी नहीं कर सकते। स्वर्ग में अपने सुकृतों के प्रतिफल का उपभोग करने के वाद फिर इसी लोक में अथवा इससे भी अवोवर्ती लोक में उनका पतन होता है। वन में श्रद्धासमाहित तपःसाधना करने वाले जितेन्द्रिय, भिक्षा–निर्वाही ज्ञानी ही सूर्य–द्वार से शाश्वत आत्म–लोक तक पहुँच पाते हैं" (मूल० १–ख)। उन उपनिषदों में, जो ब्राह्मणों के कर्म–विधान के प्रतिकूल ज्ञान का प्रतिपादन करती हैं, मुण्डक जैसा अनिश्चित मत भी नहीं पाया जाता। उनका मूल उद्देश्य मानव–जीवन के चरम–तत्व का अन्वेषण है।

छान्दोग्योपनिषद् के इतने प्राचीन युग में भी 'अन्तर्यज्ञ' की महत्ता निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। "हमारा वास्तविक यज्ञ अपने अन्तर्गत 'प्राण' को आहुति देना ही है। इस "अन्तर्यज्ञ को न जानने वाले का वहिर्यज्ञ-विधान धूल में आहुति डालने के समान है। इसके विपरीत अन्तर्यज्ञ को जानने वाला अपने पापों से मुक्त हो जाता है। उसके पाप अग्नि में तूल के समान निश्चय ही भस्म हो जाते हैं। अन्तर्यज्ञ को जानने वाले का चाण्डाल के प्रति दान भी विश्वात्मा के प्रति आहुति–दान माना जाता है" (मूल० २-क)। आरण्यकों के युग में प्रचलित मनोयज्ञ की परिपाटी की ओर लक्ष्य करते हुये कौपीतकी में यह निश्चित रूप से उल्लेख किया गया है कि "यह जानकर कि हमारे अन्तर्गत एक अखण्ड यज्ञ संचालित है, प्राचीन ऋषि वाह्य–यज्ञ की चिन्ता नहीं करते थे" (मूल० २-ख)। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् काल में ब्राह्मण-युग का यज्ञ–विधान अन्ततः मनोयज्ञ के एक अभिनव स्वरूप में परिणत हो जाता है, जो आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है। अन्त में यह कहना असत्य न होगा कि उपनिषद्–काल में कर्मकाण्ड की निरर्थकता पूर्णतः स्पष्ट हो चली थी, अतः ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड–विधान का स्थान उपनिषदों के ज्ञान–मूलक तत्व–ज्ञान ने ले लिया।

५. श्रुति का अर्थ

अत्यन्त प्राचीन काल से वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् 'श्रुति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। हमें इस शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। अपने मूल-ग्रन्थों को ईश्वर-प्रणीत मानने की परम्परा सभी धर्मों में चली आती है। कुछ अपने धर्म-ग्रन्थों को मेघ-गर्जन और विद्युत्कम्पन के बीच वाह्य अथवा अन्तः स्फूर्ति से स्वयमेव उद्भूत मानते हैं। दूसरे उन्हें कुछ विशेष ध्वनियों के रूप में प्राप्त मानते हैं। इस प्रकार वेद तथा उपनिषदों की भाँति वाइविल और कुरान भी ईश्वर प्रणीत और ईश्वर-प्रदत्त माने गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को 'श्रुति' का अर्थ कोई वाह्य संदेश नहीं, वरन् आत्मानुभूति के भावावेग-पूर्ण पुण्य क्षणों में जाग्रत एक दिव्य अन्तः प्रेरणा प्रतीत होता है। इसी स्थिति में सेण्ट पॉल ने कहा था कि "यह मैं नहीं बोलता हूँ, वरन् मुझमें होकर अन्तः स्थित ईश्वर वोलता है।" इसी कारण ईसा ने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था कि "तुम क्या कह रहे हो इसका विचार न कर, एकान्त शुद्ध अन्तः करण से वोलो। इस प्रकार तुम्हारी वाणी द्वारा ईश्वर वोलने लगेगा।" इसी कारण प्लेटो ने अपने इयॉन (ION) नामक एक संवाद में काव्य का उद्गम दिव्य-प्रेरणा-जन्य भावावेग वतलाया है। "महान काव्यों के प्रणेता

कवि उस उत्कृष्ट काव्य-कोटि तक कला के किन्हीं सिद्धान्तों के अनुसरण द्वारा नहीं पहुँचते, किन्तु अन्तः प्रेरणा के किन्हीं परिपूर्ण क्षणों का भावोद्रेक ही उनके उस स्वर्गीय संगीत-मय काव्य के रूप में मुखरित हो उठता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे उस समय किसी इतर आत्मा से अनुप्राणित हों। इस प्रकार गीति-काव्यों के प्रणेता एक स्वर्गीय प्रमाद की अवस्था में अपने मनोहर गीतों की रचना कर जाते हैं। इसीलिये तीव्र-तम भावोद्रेक में रचना करने वाला कवि दिव्य प्रेरणा में अपनी आनन्दानुभूति की सीमा और अन्तस में सरस्वती की अवतारणा-कोटि के अनुरूप अनुपात में ही सौन्दर्य-साधना कर पाता है। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये अतीन्द्रिय काव्य मनुष्य-रचित होने के नाते ही पौरुषेय नहीं कहला सकते, वरन् दिव्य तथा ईश्वर-प्रदत्त है।" इस अवतरण में उत्कृष्ट काव्य और तत्व-मूलक दर्शन की रचना-प्रणाली का सुन्दर निरूपण किया गया है। इसी स्वरूप में, हम कह सकते हैं कि, वैदिक ऋषियों ने अपने सूक्तों की रचना की और उपनिषदीय दार्शनिकों ने अपने तर्क-मूलक विवेचन हमारे सामने रक्खे। नैय्यायिकों और मीमांसकों की भाँति वेदों के पौरुषेय अथवा अपौरुषेय होने की विवेचना करना नितान्त निरर्थक है। नैय्यायिकों का मत था कि वे 'पौरुषेय अर्थात् ईश्वर-प्रणीत हैं। मीमांसक शब्द की शाश्वत सत्ता में विश्वास करते हुये उन्हें अपौरुषेय बतलाते थे। उनका मत था कि वे, उन्हीं शब्दों के स्वरूप में जिनमें कि हम उन्हें आज देखते हैं, अनादि काल से वर्तमान हैं। इन दोनों से भिन्न वेदान्तियों का यह मत था कि वेद तथा उपनिषद् ईश्वर-प्रेरित होने के कारण अपौरुषेय हैं—पुरुष-प्रयत्नं विना प्रकटीभूता। अपौरुषेय की यह अन्तिम व्याख्या हमारे प्रतिपादित 'श्रुति' के अर्थ के बहुत निकट आ जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों के मूल-शास्त्रों के समान वेद तथा उपनिषद् भी ऋषियों द्वारा दिव्य-प्रेरणा-जन्य भावोद्रेक में प्रणीत समझे जा सकते हैं।

६. श्रुति का उपनिषदीय अर्थ

हमें यह देखना चाहिये कि हमारे प्रतिपादित 'श्रुति' के अर्थ के विषय में स्वयं उपनिषदों का क्या मत है। वृहदारण्यकोपनिषद् का मत है कि "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद सब उसी आदि पुरुष के निश्वास से निःसृत हुये हैं। इसी प्रकार समस्त इतिहास, समस्त पुराण, समस्त विद्या, समस्त उपनिषद्, समस्त काव्य, समस्त सूत्र तथा उन पर प्राप्य समस्त भाष्य भी उसी परमात्मा के निश्वास से निःसृत हुये हैं (मूल० ३)।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उपनिषद् का यह वाक्य एक ओर वेद तथा उपनिषद् और दूसरी ओर इतिहास, पुराण आदि को एक साथ परमात्मा के निश्वास से निःसृत मानता है। इतिहास तथा पुराण को किसी ने 'श्रुति' नहीं माना है, यद्यपि वेद तथा उपनिषद् 'श्रुति' माने गये हैं। फिर भी उपनिषद् के इस वाक्य में दोनों एक साथ परमात्मा के निःश्वसित माने गये हैं। इस वाक्य का जो एक मात्र अर्थ हम कर सकते हैं, वह यह है कि ये सभी महान ग्रन्थ, चाहे हम एक ओर वेद और उपनिषदों को लें, चाहे हम दूसरी ओर इतिहास और पुराण को लें, उनके प्रणेताओं के हृदय में जाग्रत दिव्य प्रेरणा से समुद्भूत समझे जा सकते हैं। इनके लेखक इनके प्रणेता नहीं थे, वरन् उनके अन्तःस्थित दिव्यात्मा इनके उद्भव की प्रेरक है। इस प्रकार हमें उपनिषदों के ईश्वरीय-प्रेरणा-जन्य होने के विषय में उपनिषद्-कार कहे जाने वाले तत्वज्ञ ऋषि उस दिव्य प्रेरणा के प्रस्फुरण के निमित्त मात्र हैं। यह एक नवीन 'उपनिषदीय निमित्त-वाद' है, जिसमें ऋषि ईश्वर की विधायक प्रेरणा का निमित्त मात्र है। ऋषि श्वेताश्वतर का यह कथन कि उनके नाम से प्रसिद्ध उपनिषद् उनके तप तथा ईश्वरीय अनुकम्पा की शक्ति-द्वारा दिव्य प्रेरणा के रूप में समुद्भूत हुई थी (मूल० ४—क), अथवा त्रिशंकु ऋषि का 'वेदानुवचन', जिसका अर्थ चाहे 'आत्म-प्रकाशोत्तर प्रवचन' हो सकता है, चाहे 'रहस्यात्मक आत्मानुभूति से संवादी प्रवचन', हमारे प्रतिपादित 'श्रुति' के अर्थ का समर्थन करता है (मूल० ४—ख)। एक दूसरा मत भी है जो, यदि इन 'श्रुति-शास्त्रों' की उद्भावना में नहीं तो, उनकी क्रमागत परम्परा में कुछ मानवीय सहयोग का हाथ मानते हैं। ईश, केन आदि उपनिषदों में उपनिषद्-काल तक चली आने वाली दार्शनिक परम्परा के निर्विरोध क्रम की ओर संकेत किया गया है (मूल० ५—क)। छान्दोग्योपनिषद् में भी हम देखते हैं कि प्राचीन ऋषिजन अपने गुरु से अध्यात्म-ज्ञान सम्पादन कर लेने में बड़े सचेत रहते थे। उन्हें भय रहता था कि गुरु के पश्चात् उस अश्रुत, अमत, अविज्ञात तत्वज्ञान को अधिकार-पूर्वक वतलाने वाला कोई न रहेगा (मूल०५—ख)। वृहदारण्यकोपनिषद् में 'श्रुति' की उत्पत्ति के विषय में एक विलक्षण मत का प्रतिपादन किया गया है। उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद मृत्युदेवता द्वारा प्रणीत माने गये हैं, जिसने वाक्-रूपी एक आत्म-सृष्ट स्त्री के सहयोग द्वारा मनुष्य और पशुओं के साथ ही उक्त वेद उत्पन्न किये (मूल० ६)। दार्शनिक प्रसंग में यह मत नितान्त प्रमाद-पूर्ण है। यह ब्राह्मण-वाङ्मय तथा उपनिषद्-साहित्य में प्रचुरता से पाई जाने वाली पौराणिक विचार-

प्रणाली का ध्वंसावशेष कहा जा सकता है । मानव-प्रगति शास्त्र (Anthropology) की दृष्टि से इसका कुछ अर्थ सम्भव हो सकता है। अस्तु, यह कहना असत्य न होगा कि उपनिषद्-वाङ्मय उपनिषदों में भी मानव-हृदय में जाग्रत दिव्य-प्रेरणा से समुद्भूत माना गया है।

७. उपनिषदों का कालानुक्रम

उपनिषदों के 'श्रुति'-विषयक मत को स्पष्ट कर देने के बाद, अब हमें उन उपनिषदों का कालक्रमानुसार विभाजन कर लेना चाहिये, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के मुख्य वस्तु-तत्व हैं। आरम्भ से ही यह स्मरण रखना चाहिये कि हमें प्राचीन उपनिषदों और नव्य उपनिषदों को दो पृथक्-पृथक् समूहों में विभाजित करना आवश्यक है। प्राचीन विभाग में तेरह उपनिषद् हैं, जिनकी गणना अभी की जायगी, किन्तु नव्य विभाग के शेष उपनिषदों की प्रामाणिकता अभी साहित्य-मर्मज्ञों के विवेचन का विषय है। हाल ही में डॉ० श्रेडर द्वारा अन्वेषित चार उपनिषद्-वाष्कल छागलेय, आर्षेय और शौनक-प्रस्तुत ग्रन्थ से सम्बन्ध नहीं रखतीं, क्योंकि उनकी प्रामाणिकता अभी सर्वसम्मत सिद्ध नहीं हो सकी है। महानारायणोपनिषद् भी हाल में परवर्ती युग की रचना सिद्ध हो चुकी है। अतः यह भी हमारी प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती । मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार तेरह प्राचीन उपनिषदों का क्रम इस प्रकार है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी और मैत्री । किन्तु उपनिषदों का यह क्रम कालक्रमानुकूल नहीं है। अतः वर्तमान साहित्य-समालोचना के दृष्टिकोण से तथा उपनिषदों के इतिहास-मूलकभाषा-शास्त्रीय महत्व निर्धारण के लिये उनका समुचित काल-क्रम-विधान आवश्यक हो जाता है । किन्तु, इस प्रश्न की सम्यक् विवेचना अन्यत्र की जा चुकी है, अतः उपनिषदों के काल-क्रम विधान की विस्तृत समीक्षा कुछ अप्रासंगिक जान पड़ती है। यहाँ केवल उस विवेचना के सार मात्र का दिग्दर्शन पर्य्याप्त होगा । ईसा के पूर्व बारहवीं शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय प्रायः 'उपनिषद्-काल' माना जाता है। अतः उपनिषद् वाङ्मय का कालक्रम–विभाग इन्हीं दो निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत आवश्यक हो जाता है। उपनिषदों के काल–क्रम–विधान की कई कसौटियाँ हैं (१) भाषा, शैली, शब्दावली, विभक्ति, प्रत्यय आदि व्याकरण सम्बन्धी विशेषतायें उपनिषदों का समय निश्चित करने का एक स्पष्ट साधन हैं, किन्तु यह अन्तिम कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि एक प्राचीन उपनिषद्

प्रसाद–शैली में लिखी हुई हो सकती है, और एक नव्य उपनिषद् की शैली प्राचीन हो सकती है। (२) और न गद्य तथा पद्य का भेद ही उपनिषदों के काल–क्रम–विधान की पर्य्याप्त कसौटी है। डॉयसन (Deussen) आदि समीक्षकों का मत है कि प्राचीन–तम उपनिषद् गद्य में लिखी गईं और उनके परवर्ती उपनिषद् पद्य में लिखी गईं तथा इनके अतिरिक्त शेष कुछ उपनिषद् पुनः गद्य में लिखी गईं। किन्तु यह मत कल्पना मात्र है, वर्तमान समालोचना पद्धति की दृष्टि से इसमें कोई विशेष तथ्य नहीं। (३) मूल भाव के क्रमागत विकास–विस्तार की कसौटी बहुत कुछ विश्वसनीय है, यद्यपि यह अन्ततः निर्णायक नहीं कही जा सकती। कुछ उपनिषदों में पायी जाने वाली इन्द्रियान्तर्गत–कलह' के आधार पर उनका काल–क्रम–निरुपण एकान्त अमान्य नहीं। यह उपाख्यान छान्दोग्य, बृहदारण्यक, एतरेय, कौषीतकी, और प्रश्न उपनिषदों में पाया जाता है। इस उपाख्यान के विकास–विस्तार के आधार पर इनके क्रम और पारस्परिक प्राचीनता तथा नवीनता का अनुमान युक्ति–संगत है। (४) एक चौथी विचार–परिणति के विकास की कसौटी कुछ दुरूह होते हुये भी नितान्त निरुपादेय नहीं। उदाहरणार्थ, आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना जो कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाई जाती है, इन उपनिषदों के काल–क्रम विधान की निर्णायक कही जा सकती है। कठोपनिषद् के उपाख्यान में आत्मा और परमात्मा एक ही कोटि पर मानी गई हैं। वे समान रूप से अपने कर्म–फल का उपभोग करती हैं। मुण्डकोपनिषद् में केवल एक के कर्म–फलोपभोग का निर्देश किया गया है; दूसरी निरीक्षक मात्र है। श्वेताश्वतर में मुण्डकोपनिषद् की कल्पना में रक्त–श्वेत–कृष्ण–वर्ण युक्त त्रिगुणात्मिका और अजात प्रकृति का योग और कर दिया गया है। आत्मा इन तीनों गुणों का उपभोग करती हैं, किन्तु विश्वात्मा इनसे अलिप्त है (मूल० ७)। इस प्रकार हम कठोपनिषद् से लेकर मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पना का क्रमिक विकास देखते हैं। (५) एक पाँचवीं कसौटी जो पिछली कसौटी का ही एक विशेष स्वरूप है, किन्तु प्रो० कीथ (Keith) आदि आधुनिक समीक्षकों के हाथों अधिक महत्व ग्रहण कर लेने के कारण पृथक् निदर्शन की अधिकारिणी है, उपनिषदों की पुनर्जन्म कल्पना के विकास के चतुर्दिक केन्द्रीभूत है। जिस प्रकार प्लेटो (Plato) के संवादों का काल-क्रम-निरुपण उसके 'परम-स्वरुप-भाव-सिद्धान्त' (Theory of Ideas) के विकास के आधार पर किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी उपनिषदों की पुन-र्जन्म-कल्पना के विकास के आधार पर उनके क्रम-विधान का प्रयत्न किया

गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रणाली की प्रकृति का आधार प्राय: निषेधात्मक है। किसी उपनिषद् में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव उसकी प्राचीनता का प्रमाण नहीं, क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि पुनर्जन्म की कल्पना का उसके वस्तु-तत्व से कोई सम्बन्ध न हो। ऐसी स्थिति में उसमें पुनर्जन्म की कल्पना का उल्लेख न होना नितान्त स्वाभाविक है। प्रो० कीथ तथा उनके अनुयायियों का कथन है कि एतरेय आरण्यक, विशेषत: उसका पूर्वांश, अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन मानना चाहिये, क्योंकि उसमें पुनर्जन्म की कल्पना का उल्लेख नहीं है। इन समीक्षकों की विवेचन-शैली कुछ गोलमाल है, क्योंकि ये समझते हैं कि पुनर्जन्म की कल्पना के अभाव के कारण ही एतरेय आरण्यक का पूर्वांश उत्तरांश से पृथक् मानना चाहिये। उनका अनुमान है कि पुनर्जन्म की कल्पना को एक परवर्ती युग की सृष्टि समझना चाहिये क्योंकि उत्तरांश में उसका उल्लेख नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि हम एतरेय आरण्यक के पूर्वांश और उत्तरांश के विभाजन में सफल हो सकते हैं, तो भी उत्तरांश में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव पूर्वांश से उसके काल-क्रमिक पृथक्करण का आधार नहीं हो सकता। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि एतरेय आरण्यक के दूसरे भाग के पाँचवे अध्याय में, जहाँ मनुष्य के मरणोपरान्त जीवन-धारण का उल्लेख किया गया है, जिसे वह 'तीसरा जन्म' बतलाता है, पुनर्जन्म की कल्पना का स्पष्ट निदर्शन किया गया है। (६) अन्त में, अन्तर-अवतरण का आधार उपनिषदों के काल-क्रम विधान की सबसे अधिक निश्चित कसौटी मानी जा सकती है। उपनिषदों में प्राय:एक दूसरे से उद्धृत अवतरण पाये जाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् के 'पंचीकरण' का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में बिलकुल उन्हीं शब्दों में मिलता है, इस आधार पर हम कह सकते हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद् निश्चित रूप से बृहदारण्यकोपनिषद् से परवर्ती है (मूल० ८)। किन्तु इस कसौटी का प्रयोग व्यापक रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपनिषदों में पाये जाने वाले अन्तर-अवतरणों की संख्या अधिक नहीं है। यदि हम विविध उपनिषदीय वाङ्मय के स्तरों पर विचार करें और प्रत्येक उपनिषद् के निर्माण-मूलक तत्व की इकाईयों के आधार पर उनका विभाजन करें तो उपनिषदों का काल-क्रम-निरुपण कुछ दुरूह हो जाता है। किन्तु यदि हम उपनिषदों के इन विविध स्तरों को छोड़कर उन पर सामूहिक दृष्टि से विचार करें तो तेरह उपनिषद् जो प्रस्तुत ग्रन्थ के उपादान हैं, निम्न पाँच समूहों में विभाजित किये जा सकते हैं—

१—बृहदारण्यक और छान्दोग्य।

२—ईश और केन।

३—एतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी।

४—कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर।

५—प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य।

बृहदारण्यक और छान्दोग्य के अध्ययन से उनका प्राचीनतम होना स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है। यद्यपि उनमें भिन्न-भिन्न स्तरों की तत्व-इकाईयाँ पाई जा सकती हैं, फिर भी हम कह सकते हैं कि वे उपनिषदों के प्राचीनतम विभाग में हैं, दूसरे विभाग की उपनिषदों–ईश और केन को प्रायः अपेक्षाकृत परवर्ती काल की सृष्टि माना जाता है। किन्तु, ईशोपनिषद् की भाषा, उसके भाव तथा आर्ष-प्रयोग और विशेषतः बृहदारण्यक और केन उपनिषदों के उपादान-तत्व से साम्य रखने वाला इसका उपादान-तत्व दूसरे विभाग के निर्माण-तत्व कहे जा सकते हैं। केनोपनिषद् भी ईशोपनिषद् के साथ उसी श्रेणी में रक्खा जा सकता है। तीसरे विभाग की एतरेयोपनिषद् निस्सन्देह एक प्राचीन उपनिषद् है; किन्तु जैसा कि सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, केवल प्राचीनतम वेद-ऋग्वेद से सम्बन्वित होने के कारण ही यह प्राचीनतम नहीं मानी जा सकती। तैत्तिरीयोपनिषद् भी एतरेयोपनिषद् के साथ तीसरे विभाग का अङ्ग है; और कौषीतकी सामान्यतया मौलिक न होते हुये भी, अपने मूल अंशों के आधार पर ही एतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदों के साथ तीसरे विभाग का अंग मानी जा सकती है। चौथा विभाग पूर्णरूप से निश्चित है। कठोपनिषद् के बाद मुण्डकोपनिषद् आती है, और मुण्डकोपनिषद् के बाद श्वेताश्वतरोपनिषद्। यद्यपि श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राचीन आर्ष-प्रयोगों की स्पष्ट छाया दिखाई देती है, तथा एक ओर इसके पहले अध्याय और दूसरी ओर इसके शेष अध्यायों में स्पष्ट रूप से भिन्नता पाई जाती है, यह सामान्यतः इन महान काव्यमय उपनिषदों के पीछे गिनी जा सकती है। पाँचवें विभाग में प्रश्नोपनिषद्, जो अन्य उपनिषदों से पूर्व-निरुपित एकसूत्रता प्रदर्शित करती है, अन्तिम विभाग के अन्तर्गत समझनी चाहिये। मैत्री उपनिषद् को, जिसकी शब्दावली अपनी निजी विशेषता रखती है तथा जिसमें निश्चित रूप से दो स्तर पाये जाते हैं, अपने पौराणिक और ज्योतिष-विषयक उल्लेखों के कारण, प्रारम्भिक पौराणिक युग के अत्यन्त निकट समझना चाहिये। मैत्री उपनिषद् में प्रतिपादित ॐकार की तीन मात्राओं के स्थान पर साढ़े तीन मात्राओं का उल्लेख आदि कई अंशों में मैत्री उपनिषद् के ही विचार-तत्व का विकास होने के कारण तथा भाव-व्यंजना की सूत्रात्मक शैली के कारण

माण्डूक्योपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम मानी जा सकती है। इनमें से किसी भी उपनिषद् का ठीक-ठीक रचना-काल निश्चित करना कठिन है; किन्तु ईसा के पूर्व बारहवीं शताब्दी तथा छठी शताब्दी को उपनिषदीय युग की दो निश्चित सीमायें मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसकी परवर्ती उपनिषद् उपनिषदीय युग तथा उत्तर-उपनिषदीय युग की विचार-धाराओं का संगम-संगीत जान पड़ती हैं; जब भारत में बौद्ध धर्म का बीज अंकुरित हो रहा था, जब सांख्य और योग की पद्धतियाँ व्यवस्थित हो रही थीं, जब निरीश्वरवादी सांख्य तथा ईश्वरवादी योग के ईश्वरपरक तत्वों के समन्वय द्वारा तथा उपनिषदीय दर्शन के सारभूत अंशों को संगठित करके, उनके ईश्वरपरक रहस्यवाद के एक मनोहर काव्यमय संगुम्फन द्वारा, भौतिक सुखवादियों तथा निरीश्वरवादियों का मुँह बन्द करने के लिये भगवद्गीता पथ खोज रही थी। उस समय भगवद्गीता का आदर्श लेकर न जाने कितनी गीतायें रचीं गईं।

८. बृहदारण्यकोपनिषद्

ऊपर की रूपरेखा में काल-क्रमानुसार दी हुई उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त विवरण तथा उनके मुख्य-मुख्य रोचक स्थलों का संक्षिप्त दार्शनिक निरूपण आवश्यक जान पड़ता है। उपनिषदीय विचार-तत्व का परिपूर्ण विश्लेषण न यहाँ सम्भव ही है और न वांच्छनीय। उसके पूर्ण विवेचन के लिये हमारे भारतीय दर्शन के इतिहास का दूसरा भाग अवलोकनीय है। किन्तु, पाठकों को उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय के मूल-तत्वों से परिचित करा देना आवश्यक है, जिससे वे अगले अध्यायों में की गई उपनिषदों के विविध प्रश्नों की संश्लिष्ट समीक्षा को भली प्रकार समझ सकें। हम बृहदारण्यक के विश्लेषण से इसका प्रारम्भ कर सकते हैं। इस उपनिषद् में कुल छः अध्याय हैं, जिसमें केवल दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय दार्शनिक महत्व रखते हैं; शेष अध्यायों का दार्शनिक तत्व प्रसंगेतर विचारों से आमिश्रित है। पहले अध्याय में हिरण्य-गर्भ का यज्ञ-अश्व के रूप में बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। उसके बाद मृत्यु के समस्त वस्तु-जगत की उत्पत्ति होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। तदुपरान्त प्राण की श्रेष्ठता प्रमाणित करता हुआ एक उपाख्यान है, जिसके आधार पर आगे चलकर सृष्टि-विधान के विषय में अनेक असंयत दन्त कथायें गढ़ी गईं। दूसरे अध्याय में गार्ग्य नामक एक अभिमानी ब्राह्मण और अजातशत्रु नामक एक शान्त-प्रकृति राजा का संवाद है। इसी अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य से, जो अपनी दोनों पत्नियों के बीच अपनी सम्पत्ति विभाजित कर रहे हैं तथा महर्षि दध्यच आथर्वण से, जिनके

दार्शनिक सिद्धान्तों पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर विचार करेंगे, हमारा प्रथम परिचय होता है। यही महर्षि याज्ञवल्क्य जिनसे हमारा परिचय दूसरे अध्याय में होता है, आगे चलकर तीसरे और चौथे अध्यायों में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रकार हम उन्हें दूसरे अध्याय में अपनी पत्नी मैत्रेयी से संलाप करते हुये पाते हैं, उसी प्रकार तीसरे अध्याय में हम उन्हें राजा जनक की सभा-अनेक तत्व-ज्ञानियों-के साथ तथा चौथे अध्याय में स्वयं राजा जनक के साथ वाद-विवाद करते हुये पाते हैं। याज्ञवल्क्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हम आगे चलकर करेंगे, किन्तु यहाँ उनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ बतला देना आवश्यक है। कुछ उग्र प्रकृति के तत्व-ज्ञानी होते हुये भी, जैसा कि जनक की सभा में उनसे वाद-विवाद करने वाले शाकल्य के प्रति उनके व्यवहार से प्रतीत होता है, उनका अन्तःकरण प्रेम, दया, मृदुता आदि सुकुमार मानवीय भावनाओं से एकान्त वंचित न था। मैत्रेयी के प्रति उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ मृदुलता थी। उनके दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी से उनका सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक था। दूसरी पत्नी कात्यायनी को वे एक सांसारिक महिला मानकर उसके साथ तदनुकूल व्यवहार करते थे। गार्गी को 'ईश्वर की सर्व-व्यापकता' के सिद्धान्त का निदर्शन करते समय, जब वह प्रश्न पर प्रश्न करके उनके आवेग को उकसाती है, तब भी वे उसकी दार्शनिक उद्दण्डता को रोकने का प्रयास किये बिना आगे बढ़ते जाते हैं। उनमें, जैसा कि हमें प्रतीत होता है, स्त्री-विषयक सुरुचि और समादर का भाव भले ही न हो, पर इससे उनकी विचक्षणता स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है। जब जारत्कारव ऋषि ने उनसे कई महत्वपूर्ण प्रश्न किये, तो वे उनको हाथ पकड़कर सभा के बाहर ले गये और वहाँ उनसे कर्म के विषय में वाद-विवाद किया। आप बड़े दूरदर्शी भी थे; प्रायः अपने प्रतिवादियों को यथोचित उत्तर देते थे, जैसा कि उनके एक बार आश्वल को उसके आचारसम्प्रदाय-विषयक प्रश्न के आचार-सम्प्रदाय-मूलक उत्तर द्वारा समाधान कर देने की रीति से ज्ञात होता है। प्रकृति से ही उभयसुखवादी (Eudaemonist) होने के कारण दार्शनिक उपदेशों के प्रतिफल स्वरूप भेंट ग्रहण कर लेने में कोई अनौचित्य न मानते हुये भी, तथा इस प्रकार, सॉक्रेटीज़ (Socrates) के इस सिद्धान्त की अपेक्षा कि धर्म-गुरु को किसी भी भेंट द्वारा अपने को दूषित न करना चाहिये, ज्ञान के सॉफ़िस्टिक (Sophistic) सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये भी, याज्ञवल्क्य निस्सन्देह उपनिषद्-काल के सबसे बड़े तत्व-ज्ञानी हैं। उनके सुसंगत आदर्शवाद (Idealism) तथा व्यावहारिक आत्मवाद अध्यात्मवाद (Atmanism) से वर्तमान विचार-वेत्ता भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। राजा जनक, जो दार्शनिक

तथा आत्मिक ज्ञान के उत्कट प्रेमी जान पड़ते हैं, इस महान तत्व-ज्ञानी ऋषि के चरणों में साष्टांग प्रणति के सहित अपनी समस्त सम्पत्ति तथा अखिल राज-सत्ता उनके चरणों में रख देते हैं। किन्तु ऋषि ने उसे स्वीकार नहीं किया। इस उपनिषद् के तीसरे तथा चौथे अध्याय में राजा जनक का भी अच्छा स्थान है। तीसरे अध्याय में तो वे अपनी सभा में होने वाले महान वाद-विवाद के साक्षी मात्र हैं। चौथे अध्याय में वे महर्षि याज्ञवल्क्य से स्वयं ज्ञान-लाभ करते हैं। इस उपनिषद् के पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में राजा जनक से हमारी पुनः भेंट होती है। पाँचवें अध्याय में नीतिशास्त्र (Ethics), सृष्टि-विधान-शास्त्र (Cosmology), परलोकशास्त्र (Eschatology) आदि से सम्बन्ध रखने वाले कुछ बिखरे चिन्तनों के अतिरिक्त अनेक तत्वों का सम्मिश्रण है। अन्तिम छठे अध्याय में इन्द्रिय-विषयक एक प्रसिद्ध उपाख्यान है। यहाँ हमारा परिचय महर्षि प्रवाहण जैवली से होता है, जिनकी 'पंचाग्नि मीमांसा' पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यह अन्तिम अध्याय, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, ब्राह्मण-कालीन कुछ मन्त्र-प्रयोगों के साथ समाप्त होता है। इसमें अन्य कई बातों के साथ उपनिषदों की ऋषि वंश-गत परम्परा दी है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कितना मूल्य है, यह विवेचना का विषय है।

९. छान्दोग्योपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्, जो वृहदारण्यकोपनिषद् की भाँति पहले विभाग के अन्तर्गत है, साहित्यिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से वृहदारण्यकोपनिषद् के समान महत्व नहीं रखती; यद्यपि वेदान्तसूत्र-कार ने इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। इसके छठे, सातवें तथा आठवें अध्याय दार्शनिक महत्व रखते हैं। शेष अध्याय गौण हैं। पहले और दूसरे अध्याय तो ब्राह्मण-कालीन कर्मकाण्ड की पुनरावृत्ति मात्र हैं। यदि हम उपनिषदीय वाङ्मय में ब्राह्मण-कालीन कर्मकाण्ड से सबसे अधिक प्रभावित स्थल दिखलाना चाहें तो छान्दोग्योपनिषद् के पहले तथा दूसरे अध्याय की ओर संकेत मात्र पर्य्याप्त होगा। इनमें जहाँ तहाँ कुछ सृष्टि-विधान-सम्बन्धी तथा कुछ तत्व-ज्ञान-सम्बन्धी चर्चा है, किन्तु सामान्यतः ॐकार का महत्व और अर्थ, 'सामन्' के भेद और नाम, ॐकार की उत्पत्ति और उसके व्यापार आदि इनके विषय हैं। पहले अध्याय के अन्त की ओर एक व्यंग्यात्मक अंश उल्लेखनीय है। इसका विषय भौतिक-उद्देश्य-पूर्ण मन्त्र-गान है। एक बार वकदाल्म्य, जिसे ग्लाव-मैत्रेय भी कहते हैं, वेदपाठ करने के लिये एकान्त स्थान में गया। उसे सामने एक सफ़ेद कुत्ता

दिखाई दिया। शीघ्र ही कुत्तों का एक समूह इस कुत्ते के पास आगया और सफ़ेद कुत्ते से कुछ मन्त्र-गान करने की प्रार्थना करने लगा, क्योंकि वे सभी कुत्ते बहुत भूखे थे और उन्हें आशा थी कि मन्त्र-बल से सफ़ेद कुत्ता उनके लिये भोजन उत्पन्न कर देगा। सफ़ेद कुत्ते ने उनसे अगले दिन प्रातः काल आने को कहा। वकदाल्भ्य मन्त्र-गान के इस श्वान-संगीत का स्वाद चखने के कुतूहल से अगले दिन प्रातःकाल श्वान-सम्मेलन देखने आया। पूर्व निश्चय के अनुकूल सभी श्वान वहाँ एकत्र हुये। जिस प्रकार यज्ञ के समय ब्राह्मण एक दूसरे का उत्तरीय पकड़कर मन्त्र-गान करते हुये वेदिका की परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार वे श्वान भी एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चक्राकार घूमने लगे। फिर बैठ कर यह मन्त्र-गान आरम्भ किया—"हिम्! ॐ! आओ खायें; ॐ! आओ पियें; ॐ! देवता हमें भोजन दें; ओ! भोजन-देवता! हमें भोजन दो; हमें भोजन दो; ॐ!" यह हमें भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मन्त्र-साधना करने वालों को लक्ष्य कर गढ़ा हुआ प्रहसन सा प्रतीत होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह श्वान-संगीत, जिसे "शौवउद्गीथ" कहा गया है, ब्राह्मण-कालीन वाह्य-कर्मकाण्ड के प्रति निर्भर्त्सना प्रदर्शन तथा भौतिक उद्देश्य की अपेक्षा आध्यात्मिक ध्येय की महत्ता का प्रतिपादन है। तीसरे अध्याय में आकाश-स्थित एक महान मधुचक्र के रूप में सूर्य का प्रसिद्ध वर्णन है। ब्राह्मण-पद्धति के अनुकूल गायत्री का वर्णन, शाण्डिल्य-सूत्र, विश्व-मंजूषा, देवकी-नन्दन कृष्ण को आंगिरस का उपदेश, एक विशाल अण्डे से सूर्य की उत्पत्ति सहित सूर्योपासना आदि अनेक विषय इसके अन्तर्गत हैं। चौथे अध्याय में हम रैक्व का दर्शन-सिद्धान्त, सत्यकाम जाबाल और उसकी माता की कथा और उपकोसल की कथा पाते हैं, जो अपने गुरु सत्यकाम जावाल से तत्व-ज्ञान सीखता है। पाँचवें अध्याय में जैवली का परलोक-विषयक सिद्धान्त है, जो वृहदारण्यकोपनिषद् के परलोक-शास्त्र से वहुत कुछ साम्य रखता है। अश्वपति कैकेय के पास ज्ञान-सम्पादन के लिये आये हुये छः तत्व-जिज्ञासुओं के सृष्टि-विधान-सम्बन्धी छः पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों का कैकेयकृत प्रसिद्ध समन्वय-सिद्धान्त भी इसी में पाया जाता है। छठा अध्याय स्पष्टरूप से सर्वोत्तम है। इसमें हम आरुणि का विचार-परिप्लुत अद्वैतवाद पाते हैं, जो आत्मा और विश्वात्मा के एकान्त अभेद का प्रतिपादन करता है, दूसरे शब्दों में जिसके लिये आत्मा और विश्वात्मा दोनों में कोई अन्तर नहीं। वृहदारण्यकोपनिषद् में जिस प्रकार याज्ञवल्क्य अत्यन्त श्रेष्ठ तत्वज्ञानी हैं, उसी प्रकार छन्दोग्योपनिषद् में आरुणि। शतपथ ब्राह्मण का मत है कि आरुणि प्राचीन काल के एक प्रख्यात ऋषि थे

श्रौर याज्ञवल्क्य उनके शिष्य थे। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रतिपादित आरुणि का तत्वज्ञान उनके इस पद के योग्य होने का समर्थन करता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जब आरुणि की एक महान् तत्वज्ञानी के स्वरूप में ख्याति स्थापित होगई तो, अन्य उपनिषदों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिये उनका सहयोग पाने की चेष्टा नहीं की। कौषीतकी जैसी निश्चित रूप से परवर्ती उपनिषद् में भी हम उन्हें एक साधारण पात्र की भाँति पाते हैं। एक महापुरुष की स्मृति को पुनर्जीवित करके उसका दुरुपयोग करना लेखकों के लिये दुर्भाग्य का विषय है। शेक्सपियर (Shakespeare) के पाठक जानते होंगे कि पुनर्जीवित फ़ॉल्स्टाफ़ (Fallstaff) भी अपनी समस्त पूर्व–रोचकता खो बैठता है। यही दशा ऋषि आरुणि की हुई। छान्दोग्योपनिषद् में निस्सन्देह आरुणि का एक महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु परवर्ती शास्त्रकार साधारण व्यापारों के लिये उनके नाम के दुरुपयोग से तनिक भी संकुचित नहीं होते। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार का प्रसिद्ध संवाद है, जिसके मुख्य तत्वों का विवेचन इसी अध्याय में आगे चलकर किया जायगा। अन्तिम आठवें अध्याय में आत्मानुभूति के लिये कुछ उपयोगी तथा उत्तम व्यावहारिक साधन दिये गये हैं इसमें इन्द्र और विरोचन की कथा भी है, जिसका वर्णन किसी अगले अध्याय में किया जायगा।

१०. ईश और केन उपनिषद्

स्केन्डिनेविया के "हायम्स्क्रिग्ला" (Heimskringla) नामक कालक्रमानुकूल इतिहासों की भाँति ईश के और केन उपनिषदों का नामकरण उनके प्रारम्भिक शब्दों के आधार पर ही किया गया है। ईशोपनिषद् एक बहुत छोटी सी उपनिषद् है, किन्तु इसमें कितने ही ऐसे संकेत हैं जिनसे आश्चर्यजनक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। अठारह श्लोकों की छोटी सी परिधि में यह हमें आत्मा का एक महत्वपूर्ण रहस्यात्मक वर्णन, एक आदर्श ऋषि का वर्णन जो संसार के विषय, वासना, दुःख, शोक आदि में भी स्थित-प्रज्ञ रहता है, परवर्ती कर्मयोग का दिग्दर्शन और अन्त में कर्म तथा ज्ञान का समुचित समन्वय प्रदान करती है। इसकी सबसे अधिक मूल्यवान कल्पना, जो इस उपनिषद् के मूल में स्थित है, कर्म और ज्ञान दो विपरीत भावों का तर्कसंगत समन्वय है। इस उपनिषद् के अनुकूल एक उच्चतर समन्वय में विलय हो जाने के लिये दोनों ही आवश्यक हैं। भारतीय विचार-विधान के विकास में उपनिषदीय ऋषियों के इन विरोधी भावों के तर्कसंगत समन्वय का महत्वपूर्ण स्थान है।

केनोपनिषद् भी जिसमें चार खण्ड—दो पद्य में और दो गद्य में—हैं, आत्मा के वाह्य और आभ्यन्तरिक अथवा मनोवैज्ञानिक और सृष्टि—विधान-शास्त्र—सम्मत दोनों प्रकार के प्रमाणों का भेद प्रदर्शित करती है। इसके काव्यांश में हमें विविध इन्द्रिय-व्यापारों के प्रेरक के स्वरूप में आत्मा के अस्तित्व का मनोवैज्ञानिक विवेचन मिलता है। यह आत्मानुभूति—मूलक चरम सत्य की उपासना के पक्ष में मूर्ति पूजा का खण्डन भी करती है। अन्त में एक विरोधाभास के रूप में यह कहकर कि 'जो जानते हैं वे वास्तव में चरम सत्य को नहीं जानते और जो नहीं जानते वे ही जानते हैं, एक प्रकार के आध्यात्मिक अज्ञेयवाद के प्रतिपादन का प्रयास करती है। इसके गद्य-भाग में हम इन्द्र और अप्सरा की प्रसिद्ध कथा पाते हैं। इसमें प्रकृति के अन्तस में सन्निहित अपरिमित शक्ति के अस्तित्व की सृष्टि-विधान-शास्त्र—संगत विवेचना की गई है। यह हमें नम्रता का पाठ पढ़ाती है। इसका कथन है कि जो मनुष्य विनम्र नहीं है वह इस महान शक्ति के साक्षात्कार की आशा नहीं कर सकता। इसका यह कथन कि तप संयम, कर्म इस शक्ति के अधिष्ठान हैं, वेद इसके अवयव हैं, सत्य इसका आश्रय है, इस अलौकिक सिद्धान्त की नैतिक स्थापना करता है। यह उपनिषद् हमें वाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों ही सत्ताओं में, विद्युत के आलोक और मन की प्रगति में, उसी एक चरम सत्य का स्वरूप देखने का उपदेश देती है।

११. ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी उपनिषद्

ऐतरेय उपनिषद् वस्तुतः ऐतरेय आरण्यक का एक अंश है, जिसका विस्तार आरण्यक के दूसरे अध्याय के चौथे खण्ड से उस अध्याय के अन्त तक है। उपनिषद् के स्वयं तीन अध्याय हैं, जिनमें सभी महत्वपूर्ण हैं। पहले अध्याय में विराज के माध्यम द्वारा मूल आत्मा के सृष्टि—विधान का वर्णन है। दूसरे अध्याय में त्रिजन्म-सिद्धान्त की मीमांसा है, जिसका सम्बन्ध सम्भवतः वैदिक ऋषि वामदेव से है, जिनका उल्लेख ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के सत्ताइसवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में हुआ है, जिनके मत का उल्लेख ऐतरेय उपनिषद् में समर्थन सहित किया गया है, और जिनका आदर्श अमरता के साधकों के सामने रक्खा जाता है। वामदेव के दार्शनिक—सिद्धान्तों की मीमांसा हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे। फिर भी हम यह कह देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते कि पुनर्जन्म की कल्पना ऐतरेय उपनिषद् के इस अध्याय में निश्चित रूप से प्रस्फुटित हुई है। इसके अन्तिम अध्याय में अद्वैत-दर्शन के मूल—तत्व की बड़ी साहसिक मीमांसा

है कि समस्त सचेतन तथा अचेतन सत्ताओं में एक ही सामान्य तत्व 'चैतन्य' की अभिव्यक्ति है।

तैत्तिरीय उपनिषद् तीन अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में मस्तिष्क के नीचे की ओर लटकती हुई एक स्तन-शिखराकर मांस–ग्रन्थि का शरीर–विज्ञान की दृष्टि से वर्णन है, जो शाश्वत आत्मा का निवास स्थान माना जाता है। इसी अध्याय में त्रिशंकु के दो नीति-विषयक वर्णन तथा रहस्यात्मक प्रवचन भी हैं। दूसरा अध्याय विविध सिद्धान्तों का समुच्चय है जिनमें प्रथम वार आत्मा के कोशों तथा आनन्द-मय कोश की मीमांसा भी सम्मिलित है। तीसरा अध्याय दूसरे अध्याय से आत्मा के कोश–विधान को लेकर उन्हें परतत्व-मूलक सत्ताओं की सोपान–श्रेणी के रूप में उपस्थित करता है, और उस रहस्यात्मक स्वगतोक्ति के साथ समाप्त होता है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की चरम एक-रूपता का निदर्शन किया गया है।

कौषीतकी उपनिषद् चार अध्यायों में विभाजित है, जिनमें पहला छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् के देवमार्ग तथा पितृमार्ग के वर्णनों का प्रस्तार मात्र है; और अन्तिम बृहदारण्यकोपनिषद् के बालाकी तथा अजातशत्रु की कथा की पुनरावृत्ति मात्र है। कौषीतकी उपनिषद् की मूल सम्पत्ति इसके दूसरे और तीसरे अध्याय हैं। दूसरे अध्याय में कुछ स्वतन्त्र तत्व-कणों का संग्रह है। इसमें सर्वजित कौषीतकी, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्कभृंगार इन चार ऋषियों के सिद्धान्त संचित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें उस समय की परम्परागत रूढ़ियों तथा सामाजिक रीतियों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से तत्वज्ञान ग्रहण करता है। इन्द्र केवल एक पौराणिक नाम है, जो वेदों में प्रसिद्ध है। अतः हम कह सकते हैं कि इस अध्याय के दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वयं प्रतर्दन के सिद्धान्त मानना युक्तिसंगत है, फिर भी वह कथा विचारणीय है। वेदों में इन्द्र के जिन पराक्रमों का वर्णन है उनका इस कथा में स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया गया है। इन्द्र प्रतर्दन से कहता है कि "मानव जाति के कल्याण का एकमात्र साधन मुझे जानने–मेरी अनुभूति जाग्रत करने में है। मैंने त्वष्ट्रि के त्रिमुंड पुत्र का संहार किया। मैंने ही अरुण्मुखों को शृगालों के सामने डाल दिया। कई सन्धियाँ भंग करने के बाद मैंने स्वर्ग में प्रहलाद के पुत्रों का, अन्तरिक्ष में पौलोमों का और पृथ्वी पर कालंकजों का वध किया। यद्यपि मैंने इतने पराक्रम किये, किन्तु इनसे मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ। अन्त में, जो मेरी इस प्रकृति को पहचानता है तथा मेरे कृत्यों के महत्व का अनुभव

करता है, वह कभी कष्ट नहीं पाता, चाहे वह मातृघाती, पितृघाती, चोर अथवा भ्रूणघ्न ही क्यों न हो; और न कभी उसके यौवन की आभा क्षीण होती है। इन्द्र और प्रतर्दन के इस संवाद में भी प्राण प्रथम जीवन का तत्व, फिर चैतन्य का तत्व, फिर चरम-तत्व आत्मा से एकरूप माना गया है। यही आत्मा संसार के समस्त भले-बुरे कार्यों का कारण है। समस्त पुरुष उसके हाथ में केवल निमित्त-मात्र हैं।

१२. कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद्

कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद् जो हमारे चौथे विभाग के अन्तर्गत हैं, एक दूसरे से जितना निकट सम्बन्ध रखती हैं उतना कोई अन्य तीन उपनिषद् आपस में नहीं रखतीं। काव्य-मय शैली द्वारा उच्चतम दार्शनिक सत्यों का निरुपण करना इन सबका उद्देश्य है। यही कारण है कि भगवद्गीता तथा अन्य दार्शनिक काव्य इन्हीं के आधार पर लिखे गये। इनमें परस्पर इतना ही अन्तर है कि कठोपनिषद् परतत्व-परक है, मुण्डकोपनिषद् भावना-प्रधान है, तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् तत्वज्ञान और रहस्यवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। तीनों उपनिषद् उस समय की रचनायें प्रतीत होती हैं जब तक सांख्य और वेदान्त अपने पृथक्-पृथक् पन्थ निर्धारित नहीं कर पाये थे। इनमें से कठोपनिषद् स्वाभाविक रूप से पहले अध्याय के अन्त में समाप्त हो जाती है, जैसा कि इस अध्याय के अन्त में शब्दों की पुनरावृत्ति से तथा उसी स्थान पर वर्णित 'फलश्रुति' से प्रतीत होता है। अतः दूसरा अध्याय मूल उपनिषद् का क्षेपक ज्ञात होता है। यद्यपि यह दूसरा अध्याय नचिकेतस की मृत्यु की कथा का पूरक है, जैसा कि इस अध्याय के अन्तिम श्लोक से, तथा यहाँ भी शब्दों की पुनरावृत्ति से ज्ञात होता है, तो भी, जैसा कि कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय के पाँचवे और छठे श्लोक के प्रसंग से, जहाँ कि पहले अध्याय के पहले के उन्तीसवें श्लोक में किये गये नचिकेतस के प्रश्न का उत्तर देता है, यह स्पष्ट प्रतिलक्षित होता है कि यह सब अन्तराल कथानक प्रक्षिप्त तथा परवर्ती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् की भाँति कठोपनिषद् का भी उल्लेख इतना अधिक किया जायगा कि उसके प्रतिपाद्य विषय का विस्तृत विवेचन अनावश्यक जान पड़ता है। कठोपनिषद् के दो महत्वपूर्ण स्थल 'शरीर-रथ' का वर्णन तथा मृत्यु और स्वप्न की कल्पनाओं से संवलित सत्य-मीमांसा है। समस्त कठोपनिषद् आत्मा की अमरता-विषयक उच्च कल्पनाओं तथा आत्मानुभूति के व्यावहारिक साधन-संकेतों से परिपूर्ण है। कठोपनिषद् में एक स्थान पर

विविध लोकों की आत्मानुभूति के अन्तर की ओर संकेत किया गया है। जब तक हम इस देह से इस संसार में हैं तब तक हम दर्पण-प्रतिविम्ब-वत ही आत्म-चिन्तन कर सकते हैं। इस आत्म-चिन्तन की रीति विपरीत होगी— वायाँ पक्ष दाईं ओर और दायाँ पक्ष बाईं ओर रहेगा। पितृलोक में हमारा आत्म-दर्शन स्वप्न-तुल्य होता है। उससे प्रतिविम्व का परिणाम-प्रभाव मानसिक होता है, वास्तविक नहीं। गन्धर्व-लोक में हम आत्मा को उसी प्रकार देखते हैं जैसे पानी में प्रस्तर-खण्ड; उसका प्रतिबिम्ब सत्य परन्तु वक्र होता है। यह केवल ब्रह्म-लोक में ही सम्भव है कि हम छाया और प्रकाश की भाँति अनात्मा और आत्मा का पृथक्-पृथक् निरुपण कर सकें। वहाँ हम आत्मा को उसी प्रकार स्वच्छ प्रकाश में देख सकते हैं जिस प्रकार हम खुले दिन में चीजों को देखते हैं। यह उपनिषदीय विचार-तत्व के लिए कठोपनिषद् की महत्वपूर्ण देन है।

मुण्डकोपनिषद्, जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है, मुण्डित संन्यासियों को लक्ष्य कर रची हुई उपनिषद् है। अतः वस्तु-तत्व के अनुकूल यह परवर्ती संन्यास उपनिषदों में ही गिनी जा सकती है। इसका तत्व-ज्ञान सार-संग्रहात्मक है। कर्मकाण्ड के प्रति इसका दृष्टिकोण अनिश्चित है। इसके सृष्टि-विधान सम्बन्धी सिद्धान्त सांख्य तथा वेदान्त के विचारों से अनुभावित हैं। इसका परतत्व-शास्त्र स्पष्ट रूप से वैदिक कल्पनाओं पर आश्रित है, अतः उसमें कर्मकाण्ड की छाया दिखाई देती है। किन्तु रहस्यात्मक भावनाओं की प्रेरणा-शक्ति की दृष्टि से यह समस्त उपनिषदीय वाङ्मय में अद्वितीय है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् शैव मत के प्रतिपादन के लिए लिखी गई जान पड़ती है, इसका स्वाभाविक अन्त इसके पहले अध्याय के अन्त में हो जाता है, जैसा कि अन्त में शब्दों की पुनरावृत्ति से प्रतीत होता है। शेष अध्याय किसी परवर्ती युग के क्षेपक हैं। पहले अध्याय में आत्मवाद के सहित सभी तत्कालीन दर्शन सिद्धान्तों की 'त्रैमूर्त्यात्मक अद्वैत शैव मत" के पक्ष में समीक्षा है। दूसरे अध्याय में योग का विशद वर्णन है। तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायों में शैव और सांख्य दर्शन की मीमांसा है तथा पाँचवे अध्याय के दूसरे श्लोक में उल्लिखित 'कपिल' शब्द की व्युत्पत्ति है। अन्तिम अध्याय इस उपनिषद् का एकमात्र अंश है जो साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि के बाहर है। इसमें शुद्ध सगुण ईश्वर का निरूपण तथा गुरु-भक्ति और ईश्वर-भक्ति का आदेश है। इस समूह की अन्य उपनिषदों की भाँति श्वेता-

श्वतरोपनिषद् भी ऐसे युग में लिखी गई थी जब तक सांख्य और वेदान्त की विचार-धारायें पृथक्-पृथक् नहीं हुई थीं। "सांख्य ने अभी अपने ईश्वर को नहीं खोया था जो प्रधान का शासक है (अध्याय–६, श्लोक १०), तथा सांख्य प्रकृति की रूपान्तरित माया की कल्पना अभी वेदान्त में रूढ़ नहीं हुई थी। चौथे अध्याय के पाँचवे श्लोक के तीन गुणों की कल्पना जिनका मूल छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय के चौथे श्लोक में पाया जाता है, अभी सांख्य और वेदान्त दोनों की संयुक्त सम्पत्ति थी। और न अभी सांख्य ने इन्द्रिय-विज्ञान की आध्यात्मिकता पर जोर दिया था, जो सांख्य और वेदान्त के विचार-पथ के विभाजन की उत्तरदायिनी है। पाँचवे अध्याय के पाँचवे श्लोक में सृष्टि की विकास-वाद-मूलक उपपत्ति का उपक्रम दिखाई देता है, किन्तु इसकी पूर्ण मीमांसा अभी नहीं हुई थी। सांख्य का मनोविज्ञान तथा परतत्व-शास्त्र अभी रूपग्रहण कर रहा था और अभी वेदान्त के मनोविज्ञान तथा परतत्व-शास्त्र से पृथक् न हुआ था। इन्हीं कारणों से हम कह सकते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद्, जिसमें सांख्य और वेदान्त के सृष्टि-विधान-शास्त्र, मनोविज्ञान, तथा परतत्व-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त सन्निहित हैं, इन दो महान दर्शन पद्धतियों के पृथक्-पृथक् विचार-पथ ग्रहण के पूर्व मूलरूप के अध्ययन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

१३. प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य उपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् उपनिषद् वाङ्मय के इतिहास में स्पष्ट रूप से परवर्ती युग की रचना है। इसके विषय-तत्व में एक पूर्व-संकल्पित एकसूत्रता पाई जाती है, जो किसी अन्य उपनिषद् में नहीं है। पिप्पलाद ऋषि के पास ज्ञान-सम्पादन के लिये आने वाले छः ऋषि पिप्पलाद से एक ऐसी रीति से प्रश्न करते हैं, कि अन्तिम ऋषि अपना प्रश्न सबसे पहले पूछता है, उनके प्रश्नों का क्रम ऐसा है कि वे प्रश्नों के विविध उत्तरों के स्वरूप में पिप्पलाद से एक विकास-शील तथा सुसम्बद्ध तत्व सिद्धान्त ग्रहण कर लेते हैं, जिसका विवेचन हम आगे चलकर करेंगे। प्रश्नोपनिषद् की प्रकृति, भाषा, शैली तथा विवेचन-पद्धति भी अपेक्षाकृत परवर्ती युग की है।

शब्दावली तथा प्रसंगों की विशेषता की दृष्टि से मैत्री उपनिषद् उपनिषदीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह दो पृथक्-पृथक् स्तरों में विभाजित की जा सकती है। पहले चार अध्याय प्रथम स्तर के अन्तर्गत तथा अन्तिम तीन अध्याय द्वितीय स्तर के अन्तर्गत हैं। हम यह

भी कह सकते हैं कि इसके पहले चार अध्याय प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं, अतः ये ही हमारे प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्ध रखते हैं। पिछले तीन अध्यायों में शनि, राहु, केतु (अध्याय ८; श्लोक ६) तथा एक प्रतिवादात्मक दर्शन के विधाता बृहस्पति आदि ज्योतिष-सम्बन्धी नाम (अध्याय–७, श्लोक–६) तथा परवर्ती अष्टांग-योग के आधार-भूत षडंग-योग का निर्देश पाया जाता है (अध्याय–६, श्लोक–१८)। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय केवल प्राचीन उपनिषदीय तत्व-सिद्धान्तों की समीक्षा है। अतः हम अपनी विचार-परिधि को इस उपनिषद् के पहले चार अध्यायों तक ही सीमित रख सकते हैं। सांख्य और बौद्ध दर्शन के प्रभावोन्माद में राजा बृहद्रथ, जिससे हमारा परिचय इस उपनिषद् में होता है, कुछ निराशात्मक तथा विराग-शील प्रवृत्ति का परिचय देता है, जो उपनिषदीय वाङ्मय के लिये अस्वाभाविक है। राजा शाकायन ऋषि के पास जाकर उनसे तत्व-ज्ञान के रहस्यों की भिक्षा माँगता है। शाकायन ने मैत्री ऋषि से जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया था वह सब राजा को सिखा दिया। इस प्रकार मैत्री ऋषि को हम इस उपनिषद् के सिद्धान्तों का प्रतिपादक कह सकते हैं। शरीर से समुद्भूत तथा अपनी ही ज्योति से ज्योतित् विशुद्ध आत्मा का निरुपण मैत्री उपनिषद् के दर्शन का पहला सिद्धान्त है, और दूसरा सिद्धान्त भूतात्मा का वर्णन है, जो सत् तथा असत् कर्मों से प्रभावनीय है और इसी के परिणाम-स्वरूप जन्म-जन्मान्तर के चक्र में घूमती है। हम नहीं जानते कि इस उपनिषद् में किया हुआ राजस और तामस गुणों का वर्णन कहा तक गुण-विवेचन से सम्बन्ध रखने वाले भगवद्गीता के सिद्धान्तों का अग्रदूत कहा जा सकता है। किन्तु यह विचारणीय है कि इस उपनिषद् में मोह, भय, औदास्य, निद्रा, आलस्य, अपाय, वार्धक्य, क्षुधा, तृजा, कृपणता, क्रोध, नास्तिक्यता, अज्ञान, असूया, निर्दयता, मूर्खता, निर्लज्जता, शठता, अभिमान तथा चांचल्य तामस गुण के अन्तर्गत माने गये हैं। और इच्छा, प्रेम, काम, कृपणता, अपकार, प्रीति, आसक्ति, उद्योग, स्पर्धा, असंतोष, चंचलता, अस्थिरता, लोभ, मित्रों के प्रति पक्षपात, आश्रितों की सहायता, अनिष्ट का तिरस्कार, इष्ट से प्रेम ये सब राजस गुण के अन्तर्गत माने गये हैं (अध्याय–३, श्लोक–५)। इस उपनिषद् का आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का वर्णन मनोरंजक है। जहाँ विशुद्ध आत्मा को शरीर का संचालक माना गया है, जिसकी प्रेरणा से शरीर कुम्हार के चक्र की भाँति घूमता है तथा ज्ञानेन्द्रियों को लगाम, कर्मेन्द्रियों को अश्व, शरीर को रथ, मन को सारथी और प्रवृत्ति को चाबुक माना गया है (अध्याय–२, श्लोक–६), वहाँ भूतात्मा को पाप-पुण्य की शृङ्खला में बन्दी के समान आबद्ध, मरणासन्न पुरुष की

भाँति भयार्त, मद्यप की भाँति प्रमादशील, भूताक्रान्त व्यक्ति की भाँति अनर्गल प्रधावमान, सर्पदंशित की भाँति आपत्ति-ग्रस्त, निशिभ्रान्त की भाँति विषयों में अन्ध, हस्त-लाघव के इन्द्रजाल की भाँति माया-मय, स्वप्न-वत असत्य, केले के गाभा की भाँति सारहीन, नट की भाँति रूप-परिवर्तनशील और चित्रित दीवार की भाँति मन को क्षपिक आह्लाद प्रदान करने वाला पशु कहा गया है। यहाँ तक मैत्री उपनिषद् के प्राचीन भाग का विषय है। परवर्ती भाग में हम सर्वेश्वरवाद की सीमाओं को छूने वाली सूर्योपासना; अनेक ज्योतिष-विषयक विचार (अध्याय–६, श्लोक–१४–१६); शब्द तथा निःशब्द ब्रह्मवाद; शब्दब्रह्म की अपेक्षा निःशब्द ब्रह्म की महत्ता; प्रमोदशीलों, भिक्षा-जीवियों, कला-जीवियों, निकृष्ट देवता के प्रति यज्ञ करने वालों, वेदपाठी शूद्रों, जटाधारी प्रवंचकों, नर्तकों, धन के लिये काम करने वालों, धन के लिये कला दिखाने वालों, याचकों, नटों, राज्य-सेवा भ्रष्ट पुरुषों, भूत-पिशाचों की विघ्न-बाधा दूर कर देने का छद्म रचने वालों, रक्त-वस्त्र तथा कुण्डल-धारी कापालिकों और अन्ततः पाखण्डवाद द्वारा वेदों के प्रति लोगों की आस्था भंग करने वालों की असंगति का आदेश दिया गया है (अध्याय–७, श्लोक–८)। जीभ को मूर्धा से लगाना, सुषुम्ना से श्वास लेना आदि हठयोग के प्रयोगों का भी कुछ दिग्दर्शन इसमें किया गया है (अध्याय–६, श्लोक–१८–२१)। नदी-प्रवाह, घंटा, कांस्य-पात्र, चक्र, दादुर, वर्षा तथा एकान्त की भिन्न-भिन्न सात ध्वनियों के अनुरूप समाधि की अवस्था में सुनाई देने वाले सात प्रकार के अनाहत नादों का वर्णन किया गया है (अध्याय–६, श्लोक–२२)।

माण्डूक्योपनिषद्, जो प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम है, परवर्ती वेदान्त-दर्शन की चिरन्तन मूल–स्थापना करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह ॐकार को तीन मात्राओं में विभाजित करती है और साथ ही एक मात्रा-हीन चौथा भाग भी जोड़ देती है। ॐकार की मात्राओं के अनुरूप ही मानसिक स्थिति की विविध अवस्थायें तथा आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रकार माने गये हैं। माण्डूक्योपनिषद् की महत्वपूर्ण मौलिकता जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय इन चार मानसिक अवस्थाओं की कल्पना है। माण्डूक्य का मत है कि इन चार मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप ही परमात्मा के चार पक्ष हैं, जिनमें अन्तिम ही चरमतः सत्य है। दर्शन के ऐकान्तिक चरम-सत्य की कल्पना ईश्वर की सगुण कल्पना से भी परे है।

१४. उपनिषदीय दर्शन की विवेचन-पद्धति

उपनिषदीय दर्शन के प्रतिपाद्य विषय की संक्षिप्त रूप—रेखा के निरुपण के वाद, अव हम उपनिषद्कारों द्वारा प्रयुक्त विविध विवेचन-पद्धतियों पर विचार करेंगे । उपनिषद्-कारों ने एक पद्धति का अनुशीलन नहीं किया है, वरन् उन्होंने भिन्न-भिन्न समय पर विषय के अनुरूप विविध पद्धतियों का आश्रय लिया है ।

(१) पहेली—पद्धति—सवसे पहले हमें पहेली-पद्धति पर विचार करना चाहिये, जिसका उपयोग उपनिषदों में समय-समय पर किया गया है। शाण्डिल्य का यह कथन कि ब्रह्म 'तज्जलान्' है, ब्रह्म की भूत-मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की मूल—कारणता के प्रतिपादन का ही रहस्य-मय स्वरूप है। विद्या तथा अविद्या और सम्भूति तथा असम्भूति की गूढ़ात्मक त्रयी का निरुपण करते समय दोनों सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिलक्षित होने वाले विरोधाभास के समन्वय की ओर संकेत करते हुए ईशावास्योपनिषद् के ऋषि ने भी इसी पद्धति का आश्रय लिया है। इस पहेली—पद्धति का सवसे उत्तम उदाहरण श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलता है, जहाँ सत्य को वर्तुलाकार चक्र की भाँति वतलाया गया है; तीनों गुण जिसकी कोटियाँ हैं, सोलह कलायें जिसके प्रान्त हैं; पंचाशत भाव जिसकी तीलिकायें हैं; दस इन्द्रियाँ तथा उनके विषय जिसकी प्रति-तीलिकायें हैं; अष्ट-धातु, अष्ट-ईश्वर, अष्टधा-प्रकृति आदि जिसके अष्टक हैं; विराट—पुरुष जिसका एक मात्र रज्जु—वन्धन है; नीति, अनीति तथा उभयातीति अथवा पाप, पुण्य तथा पाप-पुण्यातीत त्रिविध कर्म जिसके तीन पथ हैं; और जो पाप-पुण्यात्मक कर्म द्वारा जीवात्मा को अज्ञान तथा मोह के गर्त में डाल देता है (मूल० ६—क)। श्वेताश्वतरोपनिषद्-कार हमें वतलाता है कि वह उस महाप्रकृति का ध्यान करता है, जो एक महान् जल—पटल की भाँति है; जिसे इन्द्रिय रूपी सरितायें निरन्तर भर रही हैं; पंचभूत रूपी निर्भर जिसे भयंकर तथा विकराल वनाते हैं; पंच प्राण जिसकी लहरें हैं; अन्तःकरण—पंचक जिसका उद्गम है; इन्द्रियों के पंच-विषय जिसके भ्रमर हैं, जिनमें मनुष्य चक्कर काटता है, उत्पत्ति, स्थिति, विकृति, क्षय और नाश से प्रसूत विविध दुःख जिसके प्रवाह हैं; जो सांख्य-दर्शन के अर्ध-शत-भाव रूपी धाराओं में प्रवाहित होता है; और अन्त में जन्म, शैशव, यौवन, जरा तथा मृत्यु जिसके पाँच कालानुकूल ज्वार हैं (मूल० ६—ख)। जहाँ-तहाँ ऐसे ही रूपकात्मक प्रयोगों के विना दर्शन-मीमांसा नीरस तथा रूक्ष हो जाती है। प्लेटो ने भी इसी पद्धति का अनुशीलन कर एक

मनोहर तथा रहस्य-मय उक्ति कही है कि—एक पुरुष तथा अपुरुष ने, एक वृक्ष तथा अवृक्ष पर, एक पक्षी तथा अपक्षी को देखकर तथा न देखकर, एक प्रस्तर तथा अप्रस्तर से उसका वध तथा अवध किया।

(२) सूत्र-पद्धति—माण्डूक्योपनिषद् में सूत्र-पद्धति का अनुशीलन किया गया है, जिसके आदर्श पर परवर्ती दर्शन-पद्धतियों के सूत्र-साहित्य की सृष्टि हुई। इस पद्धति की विशेषता यह है कि यह समस्त विचार-तत्व को एक छोटे से भाव-पूर्ण वाक्य में संगठित कर भर देती है तथा भाष्यकार को उसके अर्थनिरुपण के समय भली प्रकार सर खुजलाने के लिये छोड़ देती है। सम्भवतः यही कारण है कि एक ही वेदान्त-सूत्रों के भिन्न-भिन्न भाष्य-कारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। माण्डूक्योपनिषद् का कथन है कि "ॐकार ही विश्व की एक मात्र शाश्वत तथा मूल सत्ता है; इसमें भूत, वर्तमान; भविष्यत् तथा कालातीत सभी सन्निहित है। वस्तुतः यह सब ब्रह्म है। आत्मा ब्रह्म है। आत्मा चतुष्पदी है; प्रथम पद वैश्वानर है, जो जाग्रत अवस्था में समस्त जड़ पदार्थों का उपभोग करता है; द्वितीय पद तेजस् है, जो स्वप्नावस्था में उत्तम वस्तुओं का उपभोग करता है; तृतीय पद प्रज्ञा है, जो सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का उपभोग करता है; चतुर्थ पद आत्मा है, जो एक मेवाद्वितीय, एकाकिनी, प्रशान्त और पवित्र है।" वस्तुतः इसी सूत्र के मूलाधार पर परवर्ती वेदान्त-दर्शन की पद्धतियों के भव्य प्रासाद निर्मित हुये हैं।

(३) व्युत्पत्ति-पद्धति—उपनिषद्-कार भी ब्राह्मण-कालीन शब्दोपपत्ति-पद्धति के प्रभाव से, जो उपनिषद्-काल तक दार्शनिक विचार-संस्कार को प्रभावित करती रही थी, अछूते न रह सके। छान्दोग्योपनिषद् में इस व्युत्पत्ति पद्धति द्वारा अर्थ-निरुपण के अनेक उदाहरण मिलेंगे। 'स्वपिति' की 'सत्ता सम्पन्नो भवति' अथवा 'स्वमापितो भवति' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके उसका अर्थ 'आत्मरूपता' किया गया है। 'अशिशिषति' की 'अप एवं तदशितम् नयन्ते' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके 'समस्त खाद्य पानी द्वारा बाहर निकल जाता है' यह अर्थ किया गया है। 'पिपासति' की 'तेज एवं तत्पीतम् नयते' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके 'हम जो कुछ पीते हैं वह सब अग्नि सुखा देती है' यह अर्थ किया गया है (मूल०—१०—क)। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि 'पुरुष' का वास्तविक अर्थ 'पुरिशय' अर्थात् 'हृदय रूपी कोट में निवास करने वाला' है (मूल०—१०—ख)। अन्त में, माण्डूक्योपनिषद् जैसी परवर्ती उपनिषद् में हम देखते हैं कि ॐकार के प्रथम अक्षर 'अ'कार का अर्थ इसके आदिमत्व गुण के कारण 'आप्ति' है; द्वितीय अक्षर 'उ'कार का अर्थ इसके उभयत्व सूचक भाव

के कारण 'उत्कर्ष' है; और तृतीय अक्षर 'म'कार का अर्थ इसके माप अथवा नाश सूचक भाव के कारण 'मिति' अथवा 'अपिति' है (मूल० –१०–ग)। किन्तु ऐसी शब्द-पहेलियाँ उपनिषदीय वाङ्मय में यत्र-तत्र ही पाई जाती हैं। इसका श्रेय उपनिषद्-कारों की सुलझी हुई चिन्तन-शैली तथा स्पष्ट विवेचन-पद्धति को है।

(४) कथा-पद्धति—उपनिषदों में कथा-पद्धति का भी प्रायः अनुसरण किया गया है। इस पद्धति का उपयोग एक तो कथा द्वारा नीति-तत्व के प्रतिपादन के लिए किया जाता है—इसका उदाहरण केनोपनिषद् की इन्द्र और अप्सरा की कथा है, जिसका उद्देश्य नम्रता का उपदेश अथवा दूसरे शब्दों में 'विनम्रता के विना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इस पद्धति के उपयोग का दूसरा प्रयोजन कार्य-कारण-वाद का प्रतिपादन हो सकता है। उदाहरण के लिये विशाल ब्रह्माण्ड के गर्भ से सूर्य के उदय की कथा है। असत्-जन्य सत् से उत्पन्न मूल-ब्रह्माण्ड से सृष्टि-क्रम के उदय तथा विकास-पथ का निर्देश इस कथा में मिल सकता है। उपनिषदों में अतीन्द्रिय-ज्ञान-विषयक कथाओं का भी अभाव नहीं है। ऐतरेयोपनिषद् में हम देखते हैं कि किस प्रकार आत्मा ब्रह्मरन्ध्र द्वारा मनुष्य के मस्तक में में प्रविष्ट होकर जीवात्मा के रूप में परिणत हो जाती है; किन्तु वहाँ से भी अपने मूल उत्पत्ति स्थान की ओर देखकर अपनी आत्ममत्ता का निर्णय करती है। व्यंग के लिये भी कुछ कथायें मिलती हैं। 'श्वान-उद्‌गीथ' की मनोहर कथा का वर्णन इसी अध्याय में पीछे किया जा चुका है, जो इस व्यंग शैली का एक उत्तम उदाहरण है।

(५) दृष्टान्त पद्धति—उपनिषदों में दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग भी प्रचुरता से किया गया है। आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति-क्रिया के ज्ञान के लिए याज्ञवल्क्य द्वारा दिये गये दुन्दुभी, शंख, वीणा आदि के दृष्टान्त इस पद्धति के अच्छे उदाहरण हैं। आरुणि द्वारा आत्मा तथा परमात्मा के अभेद-निदर्शन के उदाहरण-स्वरूप दिया गया रसों का दृष्टान्त, जो मधु के नियोजक-तत्व होने के कारण उससे भिन्न नहीं रहते; अथवा नदियों का दृष्टान्त जो समुद्र में जाकर उससे एकाकार हो जाती हैं; अथवा नमक का दृष्टान्त जो पानी में मिलकर उससे एकरूप हो जाता है, आदि अनेक उदाहरण दृष्टान्त-पद्धति की इस विशेषता के परिचायक हैं कि जिन सिद्धान्तों का स्पष्ट निरुपण भलीभाँति नहीं हो सकता वे दृष्टान्त-पद्धति के मनोरम चित्र-प्रयोगों की सहायता से सुगम हो जाते हैं।

(६) संवाद-पद्धति—संवाद-पद्धति उपनिषदीय मीमांसाओं की सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है। उपनिषदीय दर्शन के विकास पथ पर पद-पद पर इसका प्रयोग मिलता है। ध्यान रखना चाहिये कि उपनिषदों के सम्बन्ध में संवाद-पद्धति से अभिप्राय, उसके मूल अर्थ में, दो या अधिक पुरुषों के परस्पर वार्तालाप से है; अतः यह प्लेटो तथा हीगल (Hegel) के ब्रह्मज्ञान अथवा परा-विद्या (Dialectics) से भिन्न है। प्रायः संवाद भीषण वाद-विवाद के रूप में परिणत हो जाते हैं, जैसा कि जनक की सभा में होने वाली विद्वत्परिषद् में होता है, जो अपने अन्तिम प्रतिपक्षी के शाकल्य के प्रति याज्ञवल्क्य के कठोर शाप-वचनों के कारण खेद-जनक प्रसंग हो जाता है। सारांश यह है कि यदि प्रमुख तत्व-ज्ञानी की श्रेष्ठता को अव्यक्त-रूप से स्वीकृत न कर लिया जाय तो संवाद प्रायः कलह के रूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि जनक की सभा में हुआ। इस प्रकार उसका खेद-जनक अन्त प्रायः स्वाभाविक हो जाता है।

(७) समन्वय पद्धति—दार्शनिक विवेचन की समन्वय-पद्धति की प्रकृति संवाद-पद्धति के विपरीत है। इसका अभिप्राय विघातक नहीं, विधायक है। इसका उद्देश्य भिन्न-भिन्न बिखरे हुए सिद्धान्तों को संगठित करके एक मूल सिद्धांत का प्रतिपादन करना है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् के अश्वपति कैकेय ने सृष्टि-विधान-शास्त्र के तत्व-ज्ञानी छः ऋषियों के छः पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों के समन्वय द्वारा किया; अथवा प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद ने छः ऋषियों के मनोविज्ञान-मूलक परतत्व-शास्त्र-सम्बन्धी छः प्रश्नों के समन्वय द्वारा किया; अथवा अन्त में, बृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय में जनक द्वारा संलक्षित छः परतत्व-शास्त्र-सम्बन्धी विचार (सूत्रों) के समन्वय द्वारा याज्ञवल्क्य ने किया। यहाँ इसका उद्देश्य न तो तू भी मेरी ही तरह का सा तर्क उपस्थित करना है और न कोई विचार-हीन स्पष्ट उत्तर ही, किन्तु दूसरों के द्वारा संलक्षित विचार-तत्वों की सहानुभूति-पूर्ण विवेचना-पूर्वक उनका उत्कृष्ट समन्वय करना है।

(८) आत्मोक्ति पद्धति—आत्मोक्ति-पद्धति की प्रकृति संवाद-पद्धति तथा समन्वय-पद्धति दोनों के विपरीत है। उपनिषदीय ऋषि तत्व-ज्ञान के वितरण में प्रायः बड़े सतर्क होते थे; किन्तु बहुधा ऐसा होता था कि जिज्ञासु के प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के बाद वे अपने को कुछ भूलकर-से तथा आत्म-संज्ञक-से होकर स्वयं मुखर चिन्तन में लीन हो जाते थे। जनक की सभा में एक बार याज्ञवल्क्य के साथ यही हुआ। उद्दालक के प्रश्नों का उत्तर

देने के बाद वे अपने को कुछ भूल से गये और भरी सभा में मुखर रूप से 'अन्तर्यामी ब्रह्म' इस प्रसिद्ध पद द्वारा ईश्वर की सर्व-व्यापकता का व्यान करने लगे। याज्ञवल्क्य के साथ ऐसा एक बार और भी हुआ, जब बृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय में (श्लोक-३,४) वे जनक से संवाद करते समय आत्मा के अव्यय-स्वरूप के विषय में सब कुछ कह गये। अन्त में, कठोपनिषद् में यद्यपि यम-नचिकेतस के तीसरे प्रश्न का उत्तर देने को तैयार न था, किन्तु जब एक बार उसने बोलना आरम्भ किया तो उसके मुख से एक आत्म-संज्ञक तत्व-ज्ञान-परक प्रवचन निकलने लगा, जो मूल प्रश्न की सीमाओं को भी पार कर गया। प्रायः मेघों के साथ ऐसा होता है कि या तो वे बरसते ही नहीं, या, यदि बरसते हैं, तो निरन्तर अजस्र गति से। यही सिद्धान्त उपनिषदीय ऋषियों के विषय में भी सत्य है। वे या तो बोलते नहीं, या, यदि बोलते हैं तो उनके प्रवचन की सीमा नहीं रहती।

(९) प्रयोजन-पद्धति—जहाँ उपनिषदों में याज्ञवल्क्य जैसे उन्मुक्त हृदय-तत्व-ज्ञानी है, वहाँ उनमें पात्र की सामर्थ्य तथा प्रसंग की प्रयोजनीयता के अनुरूप ज्ञान-वितरण करने वाले सचेतन ऋषियों का भी अभाव नहीं है। प्रश्न के केन्द्र-परिधि की सीमाओं की सचेतनता उनमें प्रायः पाई जाती है। ऐसे अवसर पर वे तात्कालिक प्रसंग से इतर विषय पर तनिक भी प्रकाश नहीं पड़ने देते थे। इन्द्र-विरोचन की प्रसिद्ध कथा में उनके आचार्य प्रजापति उनको तत्व-ज्ञान के रहस्य सहसा नहीं बतला देते। तत्व-ज्ञान का थोड़ा सा भी रहस्य वे तभी खोलते हैं जब दोनों में से कम से कम कोई एक अपने को अभीष्ट ज्ञान का अधिकारी सिद्ध नहीं कर देता। विरोचन को प्रजापति के प्रथम उत्तर से ही पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है; किन्तु इन्द्र को इतने से सन्तोष नहीं होता, और वह आचार्य को अपनी शंकाओं के समाधान के लिए बार-बार बाध्य करता है, तब अन्ततः प्रजापति ने अपने तत्व-ज्ञान का रहस्य खोला। आत्मा-विषयक जिज्ञासा का फल यह निकला कि आत्मा शरीर की दूसरी प्रतिमा मात्र नहीं है, और न स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं की सचेतन आत्मा से उसकी एक-रूपता है, किन्तु वह आत्मरूप ही है। इस प्रकार प्रजापति ने अपने शिष्यों को केवल उतना ही ज्ञान प्रदान किया जितने के वे पात्र थे, तथा जितने की प्रयोजन के अनुकूल आवश्यकता थी; और इस प्रकार हमारे लिए उपनिषदीय दर्शन-मीमांसा में प्रयुक्त प्रयोजन-पद्धति का एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया।

(१०) प्रतिगमन-पद्धति—उपनिषदीय विवेचन का अन्तिम स्वरूप

प्रतिगमन-पद्धति है। इसमें प्रश्न-परम्परा की प्रगति का अनुगमन किया जाता है। प्रत्येक नवीन प्रश्न का उत्तर हमें एक पद पीछे ले जाता है और इस प्रकार हम मूल प्रश्न तक पहुँच जाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक वार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि 'मनुष्य की ज्योति का अधिष्ठान क्या है तो उन्होंने इसी पद्धति के अनुकूल उत्तर दिया कि 'सूर्य'। जनक ने याज्ञवल्क्य से लगातार कई प्रश्न किये और प्रत्येक प्रश्न के उत्तर पर एक नवीन प्रश्न द्वारा वे याज्ञवल्क्य को क्रमशः सूर्य, सूर्य से शशि, शशि से अग्नि तथा अग्नि से, इसी प्रकार, आत्मा तक ले गए जो सबके मूल में स्वतः प्रदीप्त ज्योति के रूप में स्थित है (बृहदारण्यक० अध्याय-४; श्लोक-३)। एक वार गार्गी से संवाद करते हुए भी याज्ञवल्क्य ने इसी पद्धति का अनुशीलन किया। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि 'जल का अधिष्ठान क्या है ?' तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'वायु'। इस पर गार्गी ने प्रश्न किया कि 'वायु के पीछे क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'अन्तरिक्ष'। इसी प्रकार प्रश्न पर प्रश्न करती हुई गार्गी याज्ञवल्क्य को अन्तरिक्ष से सूर्यलोक, सूर्यलोक से चन्द्रलोक, चन्द्रलोक से नक्षत्रलोक, नक्षत्रलोक से देवलोक और अन्ततः ब्रह्मलोक तक लेगई। किन्तु ब्रह्मलोक के भी आगे क्या है, यह जानने के कुतूहल द्वारा उसने साधारण जीवन में तथा विशेषकर दार्शनिक समीक्षा में स्त्री जाति की स्वाभाविक और प्रतिबन्ध-हीन जिज्ञासा-प्रवृत्ति का परिचय दे दिया जो विवेचन को एक अन्तहीन प्रतिगमन-पथ पर ले जाती है। गार्गी के चापल्य से क्षुब्ध होकर, एक मात्र समुचित तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप उत्तर द्वारा प्रश्न-प्रगति को रोक दिया—"यदि अब की वार तूने प्रश्न किया तो तेरा सिर धड़ से अलग होगा।"

१५. उपनिषदीय काव्य-पद्धति

उपनिषदों में काव्य-पद्धति तत्व-समीक्षा का एक और स्वरूप है। इसके विवेचन के लिए स्वतन्त्र खण्ड की आवश्यकता है। इस पद्धति में एक दोष है कि काव्य के आवरण में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हैं, वे दर्शन के अबाधित सत्य नहीं समझे जा सकते। जहाँ सत्य की प्रकृति के प्रति भक्ति तथा भावोन्मेष जाग्रत करने की आवश्यकता हो अथवा जहाँ तत्वज्ञान रहस्यात्मक आत्मानुभूति का विषय हो, वहाँ यह काव्य-पद्धति निस्संदेह बहुत उपादेय सिद्ध होती है। किन्तु, ऐसी स्थिति में ऋषियों ने छन्द-प्रतिबन्ध की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। ऐसे स्थानों पर जो छन्द प्रयुक्त किए गए हैं वे प्रायः मुक्त तथा विषम हैं, यद्यपि अपनी स्वच्छन्दता के कारण ये

बड़े मनोहर जान पड़ते हैं। प्राचीन रोम और ग्रीस की भविष्यद्वाक्तृयों की भाँति, जो अपने उपासना-परक नृत्यों की तल्लीनता में आत्म-विस्मृत हो जाते थे, तथा इस पारलौकिक आत्माविकृति की प्रभाव-तरंग में स्वर्गीय संगीत गा उठते थे, उपनिषदीय ऋषियों ने भी एक दिव्य प्रमाद की अवस्था में अपने मनोहर काव्य का प्रणयन किया है। इसी कारण, जैसी की आशा की जा सकती है, उपनिषदीय-काव्य शृंगार तथा वीर रसात्मक अथवा प्रकृति वर्णनात्मक होने की अपेक्षा रहस्यात्मक अनुभूति-परक, नीतिपरक तथा परतत्व-मूलक है। यह स्मरण रखने योग्य है कि उपनिषदीय काव्य की नैतिक कोटि परतत्व-भावनाओं के सामने गौण है; और इसीलिए वह ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अंठासीवें सूक्त—वरुण-सूक्त की भाँति मानव-हृदय की अन्तरतम भावनाओं की अभिव्यक्ति, पाप के प्रति क्षमार्थना अथवा देवानुकम्पा की याचना तक नहीं पहुँचता। ईशोपनिषद् का काव्य नैतिक, रहस्यात्मक तथा तात्विक उपादानों का सम्मिश्रण है। केनोपनिषद् का काव्य मनोवैज्ञानिक तथा तात्विक भावों का समन्वय है। कठोपनिषद् के काव्य का मुख्य विषय आत्मा का अमरत्व निरुपण और आत्मानुभूति के व्यावहारिक साधन हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् का काव्य छठे अध्याय में ईश्वर के सगुण रूप-वर्णन तथा उसकी प्रभुता के प्रकाशन तक पहुँच जाता है। केवल मुन्डकोपनिषद् का काव्य उपनिषदों की चिन्तन-परिधि के अन्तर्गत हृदय की तीव्रतम भावनाओं की अभिव्यक्ति तक पहुँच सका है। मुण्डकोपनिषद् का काव्य भी उच्चतम कोटि का नहीं है। फिर भी, हम कह सकते हैं कि मुण्डकोपनिषद् के काव्य की भाव-कोटि उपनिषदों में अन्यत्र नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनका स्वरूप गद्यात्मक होते हुए भी उनकी प्रकृति अत्यन्त भावुक तथा काव्य-मय है। एक आधुनिक विद्वान् का कथन है कि 'ये गद्य-काव्य के विस्फुरित पांशु-कण हैं।' काव्य-मय गद्य के एक संयत कल्पनात्मक गद्य-रचना के उदाहरण के लिये हम छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण ले सकते हैं जो हमें यह बतलाता है कि 'स्वर्ग को एक आधार-स्तम्भ समझना चाहिये, जिससे अन्तरिक्ष-लोक एक मधुचक्र की भाँति लटकता है, सूर्य इस मधु-चक्र में संचित देवताओं का मधु है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, आकाश, पाताल आदि दिशाओं में विकीर्ण होने वाली किरणें इसकी विविध दिशाओं में संवाहित मधु-वाहिनी नाड़ियाँ हैं। चारों वेदों की ऋचायें मधु-मक्षिकायें हैं, जो मधुचक्र पर चतुर्दिक संलग्न रहती हैं। सूर्य के वर्ण विविध प्रकार का अमृत है, जिन पर देवता जीवन-निर्वाह करते हैं", और यह कहा जाता है कि देवता खाने अथवा पीने की

साधारण रीति से नहीं, वरन् उन्हें देख-भर कर जीवित रहते हैं (मूल०–१२–क), इसमें देवताओं की 'परोक्ष-प्रियता' सिद्ध होती है। उपनिषदों के रूपक के उदाहरण के लिये कौषीतकी के परलोक-वर्णन का एक अवतरण ले सकते हैं जिसमें 'विजरा नदी, सर्वव्यापकता का भवन वैभव का पर्यंक, मानसी अप्सरा, कल्पना की परिचारिका, अनन्त विश्वों की पुष्प-राशि जिसे ये अप्सरायें मालाओं में गूंथती रहती हैं, नदी में होकर केवल मनोगति द्वारा आत्मा का पथ, सुरक्षित आश्रय जिसे वह ब्रह्म से अपने तादात्म्य के प्रतिपादन द्वारा प्राप्त कर लेती है" आदि का वर्णन दिया गया है। यह आत्मा के विषय में संघटिक होने वाली परिस्थितियों का समुचित समुच्चय है जो उसकी 'ऋतु-कुमार' संज्ञा को सार्थक कर देता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि उपनिषदों में न प्रकृतिवर्णनात्मक काव्य है और न प्रेम-काव्य, इसीलिये उनमें 'सुन्दरम्' की कल्पना के लिये अधिक क्षेत्र नहीं है। किन्तु उपनिषदों में निसर्ग-लोक, मनोलोक तथा परोक्ष-लोक में भी 'शिवम्' के स्वरूप का निरुपण किया गया है। निसर्ग-लोक के 'शिवम्' की कल्पना के उदाहरण के लिये हम बृहदारण्यकोपनिषद् का एक अवतरण ले सकते हैं, जो हमें यह बतलाता है कि 'अक्षर ब्रह्म के आदेश से सूर्य और शशि अपने स्थान पर स्थित हैं; ब्रह्म के आदेश से पृथ्वी और आकाश पृथक्-पृथक् स्थित हैं; ब्रह्म के आदेश से निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष आदि पृथक्-पृथक् स्थित हैं; ब्रह्म के आदेश से कुछ नदियाँ श्वेतगिरिओं से निकल कर पूर्व की ओर, कुछ पश्चिम की ओर तथा कुछ अन्य दिशाओं में बहती हैं (मूल०-१२–ख)। अन्तर्लोक में 'शिवम्' की कल्पना के लिये हम छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण ले सकते हैं, जिसमें हमें यह बतलाया गया है कि अन्तःसृष्टि बिलकुल बाह्य-सृष्टि की भाँति है। हृदय आत्मा का दुर्ग है जैसा कि स्वयं अखिल विश्व है; जिस प्रकार बाह्य विश्व के अनन्त आकाश में स्वर्लोक, भूलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, शशि, विद्युत, नक्षत्र आदि हैं, उसी प्रकार वे इस छोटी-सी क्षेत्र-परिधि में भी पाये जाते हैं (मूल०–१२–ग)। अन्त में, 'परोक्ष-लोक' में 'शिवम्' की कल्पना के उदाहरण के लिये हम छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण ले सकते हैं जो हमें यह बतलाता है कि "अनन्त ही एक मात्र आनन्द है। जब मनुष्य अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं समझता वही अनन्त है। ऊपर, नीचे, सामने, दायें, बायें सर्वत्र अनन्त है। आत्मा ऊपर है, आत्मा नीचे है, आत्मा सामने है, आत्मा दायें है, आत्मा बायें है। जो इस सत्य को जानता है वह 'स्वराज्य' प्राप्त कर सकता है (मूल०–१२–घ)।

१६. उपनिषद्-युग के तत्व-ज्ञानी

अब हम उपनिषदीय युग के महान तत्व-ज्ञानियों के दार्शनिक सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले अध्यायों में विषयानुक्रम के अनुसार उनके सिद्धान्तों पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। अतः अगले अध्यायों में विषय की पुनरावृत्ति के भय से हमें यहाँ उनके सिद्धान्तों के सारांश भर के दिग्दर्शन से ही सन्तोष करना होगा। उपनिषदीय विचार-धारा के विकास में सहयोग देने वाले तत्व-ज्ञानियों के नाम से पाठकों का परिचय करा देना तथा परतत्व-ज्ञानियों के सम्बन्ध में उनके परिपूर्णतर और व्यवस्थित अध्ययन का पथ-निर्दिष्ट करने के लिये उनके सिद्धान्तों की अन्तर्वर्ती तार्किक शृंखला-कड़ियों की व्यवस्था को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है। अनैतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों के नामों को हम अपनी संक्षिप्त समीक्षा की सीमित परिधि के अन्तर्गत स्थान न दे सकेंगे। उदाहरण के लिये इन्द्र, विरोचन और प्रजापति का संवाद कुछ दार्शनिक विचारों के प्रतिपादन का साधन मात्र है; हम उन्हें ऐतिहासिक पात्रों के अन्तर्गत नहीं गिन सकते। इन्द्र, विरोचन और प्रजापति पौराणिक पात्र हैं। अतः हम उन्हें इस संवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का श्रेय नहीं दे सकते। उस कथा के प्रणेता का अपने को बिलकुल उसके पीछे छिपा देना दुर्भाग्य की बात है। इसी प्रकार कौषीतकी के इन्द्र और प्रतर्दन के संवाद में, तैत्तिरीयउपनिषद् के भृगु और वरुण के संवाद में, कठोपनिषद् के नचिकेतस और यम के संवाद में, इन्द्र, वरुण और यम ऐतिहासिक पात्र प्रतीत नहीं होते। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपादकों का ठीक-ठीक पता भी नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिये हम मुण्डकोपनिषद् के सिद्धान्तों के प्रतिपादक को नहीं खोज पाते। मुण्डकोपनिषद् के प्रणेता की प्रकृति सचमुच बड़ी सारग्रहणशील रही होगी। किन्तु खेद है कि हम उसका नाम नहीं जान सकते। किन्तु इसके विपरीत श्वेताश्वतरोपनिषद् के सिद्धान्तों का श्रेय निश्चित रूप से श्वेताश्वतर ऋषि को दिया जा सकता है; जिनका नाम उक्त उपनिषद् के अन्त में दिया हुआ है (अध्याय-६; श्लोक-२१)। उपनिषदीय युग के तत्व-ज्ञानियों के इस संक्षिप्त परिचय में हम उन्हीं व्यक्तियों के नाम सम्मिलित कर सकेंगे, जो बिना किसी आपत्ति के ऐतिहासिक माने जा सकते हैं; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इनके अतिरिक्त न जाने कितने तत्व-ज्ञानी हुये होंगे, जो अपनी अमूल्य विचार-सम्पत्ति को भावी युगों के लिये परम दार्शनिक निःस्पृहता के साथ छोड़ गये,

पर उनके नाम कोई नहीं जानता। यद्यपि वे नहीं रहे, पर उनका कार्य अमर है।

१७. रहस्यवादी, नीतिदर्शक अन्य तत्व-वेत्ता

रहस्यवादी तत्व-वेत्ताओं में त्रिशंकु सचमुच बड़ी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का व्यक्ति रहा होगा, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् के रूप में हमारे लिये छोड़ी हुई उसकी छोटी-सी विचार सम्पत्ति के महान आध्यात्मिक विभूति-तत्व से स्पष्ट विदित होता है। हमें यह न भूलना चाहिये कि मैत्री उपनिषद् का प्रमात मैत्री ऋषि भी एक महान परोक्ष-ज्ञानी था, जैसा कि उक्त उपनिषद् में दिये हुये उसके "स्वानुभूत आत्मा" के वर्णन से जान पड़ता है। राथीतर, पौरुशिष्टि और नाक मौद्गल्य में प्रत्येक क्रमशः सत्य, तप और वेदाध्ययन के रूप में हमारे लिये एक गुण छोड़ गये हैं, जिसे वे महत्तम मानते थे। महीदास ऐतरेय एक ऐसा तत्व-ज्ञानी दिखाई देता है जिसकी प्रजनन-शास्त्र (Eugenics) में अधिक रुचि है। उसका सिद्धान्त जीवन को दीर्घायु बनाना था, जिसके लिये उन्होंने कर्मकाण्ड की भी शरण ली थी (मूल०—१३—क)। आरुणि ने यदि प्रत्यक्ष अनुभव न किया होगा तो वे प्राचीन युग के वृत-शास्त्र का साक्षी अवश्य रहे होंगे (मूल०—१३—ख)। कौषीतकी ऋषि ने "प्राण ही ब्रह्म है" इस सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। वे एक पुरातन सत्याग्रही प्रतीत होते हैं; उन्होंने अयाचना व्रत का पालन किया होगा। वे 'ध्यान-त्रयी' के प्रमाता थे, जिसके सूर्य, पूर्णेन्दु और बालेन्दु तीन आधार हैं, तथा जिसके द्वारा कुछ विशेष कामनाओं की सिद्धि हो जाती है। पैंग्य ने इस विशेष सिद्धान्त के प्रतिपादन में कि 'प्राण इन्द्रियों तथा मन का स्वामी है' कौषीतकी ऋषि का ही अनुसरण किया है। प्रतर्दन पुरातनकाल के एक स्वतन्त्र विचारक थे। यज्ञ आदि बाह्य कर्म-काण्ड में उनकी श्रद्धा न थी। उन्होंने हमारे अन्तस में निरन्तर होने वाले अन्तर्यज्ञ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रज्ञात्म-मीमांसा का सिद्धान्त उनकी अपनी कल्पना थी, जो एक साथ शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, तथा परतत्व-शास्त्र तीनों से अनुप्राणित भावना है। शुष्क भृंगार ऋषि का यह उपदेश था कि जो मनुष्य ऋग्वेद को सर्वश्रेष्ठ मानेगा उसकी सब लोक अर्चना करेगा, जो यजुर्वेद को सर्वश्रेष्ठ मानेगा उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये समस्त लोक संयुक्त हो जायगा, और जो सामवेद को सर्वश्रेष्ठ मानेगा उसे समस्त लोक नमस्कार करेगा। यह शुष्क भृंगार की भाषा-शास्त्र-मूलक दार्शनिक कल्पना है, जो ब्राह्मण-युग से प्रभावित जान पड़ती है। अन्त में, जैवालि ऋषि का यह मत दिखाई देता है कि यह विश्व

प्रत्येक अवस्था में एक यज्ञ-क्रिया का निरन्तर संचलन प्रदर्शित करता है। उनका कथन है कि जब हम आकाश की ओर दृष्टि उठाते हैं तो हम देखते हैं कि स्वर्ग एक विशाल वेदिका है जिसमें सूर्य प्रज्वलित समिधाग्नि है, उसकी किरणें धूम हैं, दिवस यज्ञाग्नि का प्रकाश है, दिशायें कोयला हैं, उपदिशायें उस अग्नि की चिनगारियाँ हैं; इस यज्ञ में श्रद्धा-रूपी आहुति से चन्द्रमा का उदय होता है। यदि हम आकाश पर एक बार फिर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं कि पर्जन्य एक विशाल वेदिका है, जिसमें वर्षा प्रज्वलित समिधाग्नि है, मेघ धूम है, विद्युत यज्ञाग्नि का प्रकाश है, वज्र कोयला है, मेघगर्जन यज्ञाग्नि की चिनगारियाँ हैं; इस यज्ञ में चन्द्रमा की आहुति देने से वृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुनः, यह समस्त विश्व एक विशाल वेदिका है जिसमें पृथ्वी प्रज्वलित समिधाग्नि है, अग्नि धूम है, रात्रि प्रकाश है, चन्द्रमा कोयला है, नक्षत्र अग्नि की चिनगारियाँ हैं; इस यज्ञ में वृष्टि की आहुति देने से अन्न उत्पन्न होता है। पुनः, मनुष्य स्वयं एक विशाल वेदिका है, उसका मुख अग्नि है, श्वास धूम है, जीभ प्रकाश है, नेत्र कोयला है, कान चिनगारियाँ हैं, इस यज्ञ में अन्न की आहुति देने से बीज की उत्पत्ति होती है। अन्त में, स्त्री स्वयं एक विशाल वेदिका है, जिसमें बीज की आहुति देने से पुरुष की उत्पत्ति होती है।" इस प्रकार जैवालि का दर्शन एक विचित्र रूप से श्रद्धा की आहुति को चन्द्रमा से, चन्द्रमा को वृष्टि से, वृष्टि को अन्न से, अन्न को बीज से, बीज को पुरुष से सम्बद्ध कर देता है। यही 'पंचाग्नि' का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। "अन्त में, जब पुरुष का दाह होता है तो, चिताग्नि की वेदिका से एक तेजोमय पुरुष प्रकट होता है, जो अपने गुणानुकूल देवलोक अथवा पितृलोक को जाता है।"

१८. सृष्टि-शास्त्रज्ञ तथा मनौवैज्ञानिक तत्व-वेत्ता

सृष्टि-शास्त्रज्ञ तत्व-वेत्ताओं के विषय में छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण (अध्याय–५, श्लोक–११) हमें यह बतलाता है कि यदि उद्दालक पृथ्वी को समस्त वस्तुओं का मूलाधार मानता था तो, प्राचीन शाल स्वर्ग को, बुडिल, शार्कराक्ष्य और इन्द्रद्युम्न क्रमशः जल, आकाश और वायु को मूल-तत्व मानते थे; तथा सत्यज्ञ दिव्याग्नि सूर्य को। इस अवतरण में हमें उन व्यक्तियों के भी नाम मिलते हैं, जो यह मानते थे कि पंचमहाभूत सृष्टि के चरम तत्व हैं, यद्यपि अन्य उपनिषदों में इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ऋषियों के नाम का निर्देश नहीं किया गया है। एक स्थान पर केवल रैक्व ने इन्द्रद्युम्न के साथ-साथ वायु को सृष्टि का चरम-तत्व माना है। अश्वपति कैकेय ने छान्दोग्योपनिषद् में अपनी समन्वय पद्धति द्वारा इन सभी मतों को अपने

विश्वात्मा तथा वैश्वानर-आत्मा के सिद्धान्त में समाविष्ट कर दिया है। ये विश्वात्मा तथा वैश्वानर-आत्मा 'प्रादेश-मात्र' तथा 'अभिविमान-मात्र' कही गई हैं;—इन प्रयोगों के अर्थ की मीमांसा हम आगे चल कर करेंगे। स्वर्ग इनका शीश है, सूर्य नेत्र है, वायु श्वास है, आकाश शरीर हैं, जल मूत्राशय है, और पृथ्वी चरण है (छान्दोग्य०—अध्याय—५, १८)। जब सत्यकाम जाबाल उपकोसल को यह सिखाता है कि सत्य, सूर्य, चन्द्र और विद्युत में नहीं, वरन् शरीर में ही नेत्र में पाया जा सकता है, (छान्दोग्य०—अध्याय—४) तो हम सृष्टि शास्त्र को शरीर-विज्ञान की ओर; तथा जब गार्ग्य यह विचार करता है कि सूर्य, चन्द्र, वायु आदि भौतिक उपादान तथा नेत्र आदि शारीरिक उपादान सत्य हैं, और उसके आचार्य अजातशत्रु उसे यह बतलाते हैं कि 'सुषुप्ति' की सचेतनता ही सत्य है (बृहदारण्यक०—अध्याय—२) तो, हम सृष्टि-शास्त्र और शरीर-विज्ञान को मनोविज्ञान की ओर बढ़ता हुआ देखते हैं। सृष्टि-शास्त्र की अपेक्षा मनोविज्ञान में उपनिषदीय दर्शन-कारों की कितनी अधिक अभिरुचि थी यह उनके मनोवैज्ञानिक प्रश्नों की प्रणाली से स्पष्ट प्रतिलक्षित होता है। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि के प्रतिवादियों में केवल कवन्धी कात्यायन की अभिरुचि सृष्टि-शास्त्र की ओर दिखाई देती है, जब कि वह यह पूछता है कि "किस मूल सत्ता से इस सृष्टि का उद्भव हुआ है ?" शेष सभी की अभिरुचि किसी न किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा के प्रति दिखाई देती है। भार्गव वैदर्भी की अभिरुचि शरीर विज्ञान-मूलक मनोविज्ञान की ओर दिखाई देती है; जब कि वह यह पूछता है कि "कौनसी इन्द्रिय शेष समस्त इन्द्रियों की स्वामिनी है ?" कौसल्य अश्वलायन की अभिरुचि परतत्व-मूलक मनोविज्ञान की ओर है, वह पूछता है; कि "समस्त इन्द्रियों के स्वामी प्राण का उद्भव किस सत्ता से हुआ ?" सौर्यायणी गार्ग्य एक अतिमानुषिक मनोवैज्ञानिक है; उसकी अभिरुचि स्वप्न-मीमांसा की ओर है। शैव्य सत्यकाम की अभिरुचि रहस्यवाद की ओर है; वह प्रणव-ध्यान का फल पूछता है। सुकेशी भारद्वाज भी मनोविज्ञान के परतत्व-पक्ष में अभिरुचि रखता है, जब वह षोडश-कला-मय पुरुष की प्रकृति के विषय में प्रश्न करता है। पिप्पलाद ऋषि का दर्शन इन ऋषियों को दिये गये उत्तरों में रूप-ग्रहण करता चलता है। पिप्पलाद पुरातन युग का एक महान् मनोवैज्ञानिक परतत्वज्ञानी है। वह रयि और प्राण के सिद्धान्त, जो अरस्टोटिल (Aristotle) के जड़ (Matter) और चैतन्य (Form) सम्बन्धी सिद्धान्त से साम्य रखता है, तथा इन्द्रियों पर प्राण की श्रेष्ठता और आत्मा से प्राण के उद्भव के

सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। वे स्वप्न को एक ऐसी स्थिति मानते हैं जिसमें मन स्वच्छन्द विचरण करता है, और प्रतीत तथा अप्रतीत वस्तुओं के रूप की अभिव्यक्ति करता रहता है। वे सुषुप्ति को एक ऐसी स्थिति मानते हैं जिसमें मानवीय तेज आत्मिक तेज में विलीन हो जाता है। पिप्पलाद का भी यही मत है कि आमरण ऊँकार का चिन्तन करने वाला पुरुष उन दिव्य लोकों में जाता है, जहाँ वह हिरण्य-गर्भ से सर्व-व्यापी पुरुष के दर्शन प्राप्त करता है। षोडश-कला-संयुक्त-पुरुष-विषयक सिद्धान्त के विषय में वे सांख्य तथा वेदान्त के लिंग-शरीर-सम्बन्धी परवर्ती सिद्धान्तों का पथ प्रशस्त करते हैं। भुज्यु और उद्दालक, जिनका प्रसंग बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है, दोनों मनोवैज्ञानिक अन्वेषण में अभिरुचि रखते हैं। वामदेव का रहस्यमय व्यक्तित्व जिनका प्रथम परिचय हमें ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के छब्बीसवें तथा सत्ताईसवें मन्त्र में मिलता है, बृहदारण्यकोपनिषद् के पहले अध्याय के चौथे तथा दसवें मंत्र में पुनः प्रकट होता है, जहाँ वे पूर्वजन्म में अपने मनु तथा सूर्य होने की घोषणा करते हैं, तथा ऐतरेय उपनिषद् में दूसरे अध्याय के चौथे मंत्र में भी जहाँ जन्म-त्रयी की मीमांसा उनके दर्शन-सिद्धान्त से सामंजस्य रखती हुई बतलाई गई है। ये ऋषि जो पुनर्जन्म की कल्पना में विशेष रुचि-पूर्ण जान पड़ते हैं, यह घोषणा कर देते हैं कि "उन्होंने गर्भ में ही देवताओं के समस्त जन्मों को जानने की चेष्टा की थी। सौ लौह-दुर्गों ने उनके निबन्धन की चेष्टा की थी, किन्तु वे श्येन की भाँति वेग से धरातल पर आ गये। गर्भ में ही वस्तुतः वामदेव ने इस प्रकार का प्रवचन दिया था।" वामदेव का सिद्धान्त 'जन्म-त्रयी' ज्ञात होता है; पहला जन्म शुक्र-शोणित के संयोग के समय, दूसरा साधारण जन्म के समय और तीसरा मरण के उपरान्त पुनर्जन्म के रूप में। भृगु जिनका उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में हुआ है, एक महान् परतत्व-वेत्ता मनोवैज्ञानिक थे; उनका मत था कि अन्न, प्राण, मन, प्रज्ञा और आनन्द ही क्रमशः आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। अन्त में, बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय में हमारा परिचय कितने ही परतत्ववेत्ता मनोवैज्ञानिकों से होता है। जीत्वन शैलिनि का मत था कि 'वाक्' चरम तत्व है, उदक शौल्वायन का मत था कि 'श्वास' चरम तत्व है; वर्कु वार्ष्ण, गर्दभीविपीत भारद्वाज, सत्य-काम जाबाल, विदग्ध शाकल्य का क्रमशः मत था कि नेत्र, कर्म, मन और हृदय चरम सत्य है। याज्ञवल्क्य ने अपने अन्तिम समन्वय सिद्धान्त में इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त को स्थान दिया है।

१६. परतत्व-वादी दार्शनिक

परतत्व-वादी दार्शनिकों में शाण्डिल्य, दध्यच, सनत्कुमार, आरुणि, और याज्ञवल्क्य प्रमुख हैं; जिनमें याज्ञवल्क्य सर्वश्रेष्ठ हैं।

(१) शाण्डिल्य—छान्दोग्योपनिषद् के एक छोटे से खण्ड में (अध्याय-३, मंत्र १४), जहाँ वे अपने प्रधान तत्व-सिद्धान्तों का निरुपण करते हैं, शाण्डिल्य का समस्त दर्शन हमारे लिये संग्रहीत है। प्रथमतः वे सृष्टिशास्त्र-परक प्रमाणों द्वारा एकान्तिक चरम सत्य की सत्ता सिद्ध करते हैं, जिसे वे 'तज्जलान्' कहते हैं। 'तज्जलान्' एक वह सत्ता है जिसमें समस्त वस्तुजगत का उद्भव, लय और स्थिति है। दूसरे, वे कर्म-वाद का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि भाग्य मनुष्य को उसके कर्मानुकूल परलोक में ले जाता है, जिसके लिये उसने अपने इस जन्म में कर्मों द्वारा पथ प्रशस्त किया है। तीसरे, वे आत्मा की प्रकृति का निरुपण पूर्णरूप से निश्चयात्मक शब्द में करते हैं। यह याज्ञवल्क्य के परवर्ती निषेधात्मक ईश्वर-वाद के विपरीत है। चौथे, वे हमें यह बतलाते हैं कि आत्मा महान् और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार की है, वह महान् से महान् तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अणोरणीयानमहतो महीयान्—है; वह अनन्त तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। अन्त में वे हमें यह बतलाते हैं कि मानव-जीवन का चरम-ध्येय मरणोपरान्त आत्म-निलय है। शाण्डिल्य को इस परम पद तक पहुँचने का विश्वास है।

(२) दध्यच—दध्यच भी वामदेव की भाँति एक वैदिक ख्याति के ऋषि हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में (सूक्त—११६, मन्त्र—१२) इनका प्रसंग आता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे आरण्यक में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान है। उक्त उपनिषद् में 'मधुविद्या' का विस्तृत विवेचन किया गया है। ऋग्वेद में इसका प्रसंग भर है। उनके व्यक्तिगत इतिहास के विषय में ऋग्वेद में इतना ज्ञात होता है कि वे 'मधुविद्या' का रहस्य जानते थे; इन्द्र ने मृत्यु-दण्ड का भय दिखाकर उनको किसी के सामने उसका रहस्य न खोलने का आदेश दिया था। अश्विनीकुमार दध्यच से वह विद्या सीखना चाहते थे; क्योंकि उनको इस बात का विश्वास था कि इन्द्र अपना दण्ड बिना दिये न मानेगा, अतः उन्होंने पहले स्वयं दध्यच का सिर काट दिया और उनके धड़ पर एक घोड़े का सिर स्थापित कर दिया। दध्यच ने तब उन्हें घोड़े के सर द्वारा भाषण देकर 'मधुविद्या' सिखाई। दध्यच ने मधुविद्या का रहस्य खोल दिया, यह जानकर इन्द्र बड़ा क्रोधित हुआ और उसने दध्यच का सिर काट

दिया। इस पर अश्विनी कुमारों ने दध्यच का सर उनके धड़ पर पुनः स्थापित कर दिया और दध्यच पुनः पूर्ववत हो गये। इन्हीं दध्यच से हमारा परिचय वृहदारण्यक में फिर होता है। समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध आत्मा से तथा आत्मा द्वारा एक दूसरे से है, इस आधार पर दध्यच ने वस्तुओं के पारस्परिक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हमारे भारतीय दर्शन के इतिहास के दूसरे भाग के एक अवतरण से दध्यच का यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। "एक ही आत्मा के सूत्र में संनिबद्ध होने के कारण समस्त वस्तुओं का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दध्यच का कथन है कि पृथ्वी समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत पृथ्वी के मधु हैं, क्योंकि दोनों में एक ही तेजस तथा शाश्वत आत्मा का निवास है। अग्नि समस्त भूतों का सार है और समस्त भूत अग्नि का सार हैं, क्योंकि एक ही शाश्वत आत्मा दोनों का सार है। इसी प्रकार वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्रमा, विद्युत, वज्र, आकाश, धर्म, सत्य, मानवता क्रमशः समस्त भूतों के सार हैं और समस्त भूत पदार्थ इनके सार हैं, क्योंकि वे एक ही धर्म, तत्व तथा बन्धन द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। अन्त में, जीवात्मा स्वयं सम्पूर्ण वस्तुओं का सार है और समस्त वस्तुयें जीवात्मा का सार हैं, क्योंकि दोनों एक ही विश्वात्मा द्वारा एक दूसरे से प्रतिबद्ध हैं। यही विश्वात्मा समस्त वस्तु-जगत का स्वामी और सम्राट् है। जिस प्रकार समस्त तीलिकायें चक्र की कोटि और केन्द्र-चक्र के अन्तर्गत रहती हैं, उसी प्रकार समस्त वस्तुयें और समस्त आत्मायें परमात्मा से तथा परमात्मा द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। परमात्मा के कारण ही समस्त वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थिति है समस्त वस्तुयें इस शाश्वत यवनिका के पृष्ठ देश में स्थित हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो परमात्मा के अन्तर्गत न हो। वह प्रत्येक वस्तु के अनुरूप स्वरूप धारण कर लेता है और प्रत्येक वस्तु उसी के स्वरूप की आंशिक अभिव्यक्ति है। परमात्मा अपनी मायिक शक्ति के आधार पर एक होते हुये भी अनेक प्रतीत होता है। इस प्रकार दध्यच अद्वितीय ईश्वर की चरम सत्ता तथा बहुरूपता की प्रतीत्यसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।"

(३) **सनत्कुमार**—नारद के गुरु सनत्कुमार उपनिषदीय तत्वज्ञानियों में तीसरे प्रमुख ऋषि हैं। इनका प्रसंग छान्दोग्योपनिषद् में आता है। उनकी मनोवैज्ञानिक, भौतिक तथा परतात्त्विक अनुमान-मालिकाओं को छोड़कर, जो अधिक दार्शनिक महत्व नहीं रखतीं, हम उनके तत्त्वज्ञान-विषयक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। प्रथमतः सनत्कुमार आध्यात्मिक सुखवाद का

प्रतिपादन करते हैं। आनन्द, जो सनत्कुमार के लिये आत्मानन्द का ही समानार्थक है, समस्त व्यापारों का उद्गम है। कर्म श्रद्धा का कारण है और श्रद्धा विश्वास का। जब एक मनुष्य विश्वास करता है तो वह विचार करता है; विचार से उसे ज्ञान प्राप्त होता है; और ज्ञान से सत्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आनन्द, कर्म, श्रद्धा, विश्वास, विचार, ज्ञान और सत्य सनत्कुमार के लिये आत्मानुभूति के चरम शिखर तक पहुँचाने वाले सोपान-पीठ हैं (अध्याय–७; १७–२२)। दूसरे, सनत्कुमार 'भूमन्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। 'भूमन्' वह अपरिमित आनन्द है जो चारों ओर परमात्मा के ही रूप-दर्शन से समुद्भूत होता है। जब कोई अन्य वस्तु दिखाई देती रहती है तो वह 'अल्प' है। अतः भूमन् के सामने गाय, घोड़ा, हाथी, सोना, नौकर, स्त्रियाँ, राज्य, प्रासाद आदि का कोई मूल्य नहीं। तीसरे, 'भूमन्' की अनुभूति पहले 'सोहमात्मा' की अनुभूति होने पर ही हो सकती है (अध्याय–७; २५)। अन्त में, सनत्कुमार का मत है कि आत्मा सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल उद्गम है। आत्मा से ही आशा और स्मृति का उद्भव होता है, आत्मा से ही आकाश प्रकाश, तथा जल का उद्भव होता है, आत्मा से ही प्रत्येक वस्तु का उदय होता है और आत्मा में ही सम्पूर्ण वस्तुओं का लय हो जाता है। आत्मा समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त आनन्द का उद्गम है (अध्याय–७; –२६)।

(४) आरुणि—आरुणि याज्ञवल्क्य को छोड़कर उपनिषदीय तत्वज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं; यद्यपि उन्हें याज्ञवल्क्य का ज्ञान-गुरु माना गया है, जैसा कि आरुणि और याज्ञवल्क्य के अनेक विचार साम्यों से, विशेषकर एक ओर स्वप्न और सुषुप्ति की तथा दूसरी ओर अद्वैत और मायावाद की साम्यपूर्ण कल्पनाओं से प्रतीत होता है। आरुणि दार्शनिक होने के साथ-साथ अन्य उपनिषदीय तत्व ज्ञानियों की भाँति एक महान् मनोवैज्ञानिक परतत्व-वादी था। उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विषय में हमें स्मरण रखना चाहिए कि उसने सुषुप्ति के श्रम-मूलक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और यह बतलाया कि सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा परमात्मा से एक-रूप हो जाती है (अध्याय ६, ८, १)। ये मत उपनिषदीय विचार-जगत में टकसाली हो गये हैं। वियोगशील चेतना के विषय में उनका यह कथन है कि मरण के समय सबसे पहले उसकी वाणी उसके मन में विलीन हो जाती है, फिर उसका मन श्वास में विलीन हो जाता है, फिर उसकी श्वास प्रकाश में विलीन हो जाती है और अन्त में प्रकाश परमात्मा में विलीन हो जाता है (अध्याय–६, १५)। आगे चल कर याज्ञ-

वल्क्य आरुणि के इसी सिद्धान्त को लेकर उसका कुछ और प्रस्तार कर देते हैं। उनके परतत्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में यह विचारणीय है कि वे चरम-तत्व को सृष्टि-शास्त्र की दृष्टि से देखते हैं। वे उसे समस्त वस्तु-जगत का चरम आधार-भूत तत्व तथा विश्व का उपादान कारण मानते हैं, जैसे लोहा अस्त्रों का और सुवर्ण आभूषणों का उपादान कारण है (अध्याय–६, १/४–६) । दूसरे वे हमें यह बतलाते हैं कि यह अन्तर्निहित चरम-तत्व ही 'एकान्त सत्य' है, शेष सब नामात्मक सत्ता है। आरुणि एक महान् नाम-वादी (Nominalist) हैं, जिन्होंने परवर्ती मायावाद का पथ प्रशस्त किया (अध्याय ६; १/४–६) । तीसरे, वे हमें यह बतलाते हैं कि जो इस प्रकार मूल-आधार-भूत तत्व है वह असत् नहीं हो सकता, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः मूल आधार-भूत तत्व सत् है (अध्याय ६; २/१–२) । इस सत् में से पहले अग्नि का उद्भव होता है फिर क्रमशः जल तथा पृथ्वी का (अध्याय६; २/३–४) । आरुणि द्वारा प्रयुक्त मूल शब्दों, तेजस्, अप् और अन्न की व्याख्या क्रमशः प्रचोदक तत्व, द्रव-तत्व, घन-तत्व के रूप में हो सकती है। चौथे, संसार के समस्त सत् और असत् पदार्थ त्रिवृत्करण क्रिया द्वारा इन्हीं तत्वों से निर्मित हैं। इस सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रतिपादन का श्रेय आरुणि को है। वस्तु जगत असत् है, केवल तत्व-जगत सत् है; और उन तत्वों से भी अधिक सत् वह सत्ता है जो उन सबका मूल आधार है (अध्याय ६; ३–४) । आगे चल कर आरुणि यह बतलाते हैं कि यही सत्ता मनुष्य के अन्तस् में आत्मा के रूप में सन्निहित है। आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को बार-बार 'तत्वमसि' का उपदेश देते हैं (अध्याय६; ८) । अतः प्रकृति और पुरुष की आत्मा एक ही है। आरुणि और ग्रीन (Green) का विचार साम्य मनोरंजक है। सृष्टि शास्त्र की दृष्टि से यह सत्ता प्रकृति में व्याप्त सूक्ष्म तत्व है, जिसका ग्रहण केवल आस्था द्वारा सम्भव है (अध्याय ६; १२) अथवा गुरु-प्रेरणा द्वारा (अध्याय ६; १४) । शरीर-विज्ञान की दृष्टि से यह चरम जीवन-तत्व ही जगत को जीवन प्रदान करता है। शाखायें नष्ट हो जाने पर भी वृक्ष जीवित रहता है, किन्तु वृक्ष के नष्ट हो जाने पर शाखायें जीवित नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार विश्व का विनाश हो जाने पर भी ईश्वर का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। किन्तु ईश्वर अविनाशी है इसीलिये दूसरा पक्ष ग्रहण करना असम्भव है। (अध्याय ६; ११) । मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सिद्धान्त व्यक्तिगत सत्ताओं के लिए स्थान नहीं रखता। आरुणि पूछता कि 'क्या मधु में रसों की व्यक्तिगत सत्ता खो नहीं

जाती ? (अध्याय ६; ९)। क्या समुद्र में सरिताओं की व्यक्तिगत सत्ता विलीन नहीं हो जाती (अध्याय ६; १०)। इस प्रकार सभी आत्मायें परमात्मा में विलीन होकर अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खो देती हैं। नैतिक दृष्टिकोण से आत्मा ही सत्य है। जो सत्य से सान्निध्य प्राप्त कर सकता है वह आत्मा से भी सान्निध्य प्राप्त कर सकता है (अध्याय ६; १६)। परतत्व-शास्त्र की दृष्टि से आत्मा सर्व-व्यापक है। जिस प्रकार नमक खारे जल के कण-कण में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा विश्व के कोने-कोने में व्याप्त है। संसार में ऐसी किसी वस्तु की सत्ता नहीं है जो आत्मा में सन्निहित न हो (अध्याय ६; १३)। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार आरुणि शुद्ध अद्वैत की कल्पना कर सके हैं, जिसमें बाह्य तो क्या आभ्यन्तरिक भेद के लिए भी स्थान नहीं है।

(५) **याज्ञवल्क्य**—याज्ञवल्क्य भी अपने गुरु आरुणि की भाँति एक महान् मनोवैज्ञानिक परतत्ववादी हैं। पहले हम उनके परतत्व-शास्त्र विषयक सिद्धान्तों पर ही विचार करेंगे, फिर उसके बाद उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की ओर बढ़ेंगे। हम याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की मीमांसा उस क्रम के अनुकूल नहीं करेंगे जिसमें वे बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे, तीसरे तथा चौथे अध्याय में क्रमशः अपनी पत्नी तथा जनक की सभा में उनसे संवाद करने वाले अनेक तत्वज्ञानियों अथवा स्वयं राजा जनक के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। हमारी समीक्षा तर्क-संगति के अनुकूल होगी। बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में उन्हें निस्संदेह प्रतिवादियों की एक भीषण संख्या से पाला पड़ा। अश्वल और शाकल्य कर्मकाण्ड तथा ईश्वर शास्त्र में थोड़ी बहुत अभिरुचि रखते हैं, अतः हम उन्हें सरलतापूर्वक छोड़ सकते हैं। किन्तु जारत-कारव, जिसकी अभिरुचि परलोक-शास्त्र में अधिक है; भुज्यु, जिसे हम अभी एक मनोवैज्ञानिक अन्वेषक के रूप में देख चुके हैं; उषस्त, जिसकी अभिरुचि चरम-सत्य के प्रकृति निरुपण में हैं; कहोल, जो आत्मानुभूति का व्यावहारिक साधन-पथ जानना चाहता था; गार्गी और उद्दालक, जो दोनों ईश्वर की सर्वव्यापकता के प्रश्न में अभिरुचि रखते हैं—यद्यपि एक का दृष्टि-कोण प्रगति-मूलक था और दूसरे का स्थितिमूलक—आदि भीषण प्रतिवादियों की संख्या क्या कम है। याज्ञवल्क्य का दर्शन, जो उनके प्रतिवादियों के प्रति तथा अपनी पत्नी और राजा जनक के प्रति संवाद के स्वरूप में प्रकट होता है, संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है। सम्पूर्ण पदार्थ-जगत आत्मा में केन्द्रीभूत है, जिस प्रकार सम्पूर्ण विचार मन में केन्द्रीभूत हैं, तथा जिस प्रकार समस्त

स्पर्श-भाव चर्म में तथा समस्त जल महासागर में केन्द्रीभूत है (अध्याय २; ४/११)। आत्मा सर्व-व्यापक है। अपने गुरु आरुणि से प्रति-ग्रहण कर याज्ञवल्क्य ने भी व्यापकता के दृष्टान्त के लिये जल में नमक की व्याप्ति की उपमा का प्रयोग किया है। दूसरे, याज्ञवल्क्य का मत है कि समस्त पदार्थ-जगत की स्थिति आत्मा के लिये ही है। यदि हम उनका ध्यान न रक्खें तो उनका नाश अवश्यम्भावी है (अध्याय २; ४/६)। तीसरे, याज्ञवल्क्य का मत है कि समस्त पदार्थ आत्मा के ही लिये प्रिय हैं। सम्पूर्ण मानसिक प्रेम-क्रियायें आत्मा के प्रति आत्मा का अनुराग है। आत्मानुभूति समस्त प्रयासों का चरम ध्येय है (अध्याय २; ४/५)। चौथे, याज्ञवल्क्य का मत है कि आत्मा ही एकान्त सत्य है, शेष सब 'आर्तम्' अर्थात् माया है (अध्याय ३; ४/२ एवं अध्याय ३; ५/१)। आगे चलकर याज्ञवल्क्य निषेधात्मक शब्दों में आत्मा के प्रकृति निरुपण की ओर बढ़ते हैं। आत्मा न छोटी है न बड़ी; न लघु है न दीर्घ; वह स्वाद-हीन, रूपहीन, गन्धहीन तथा गुणहीन है (अध्याय ३; ८/८)। याज्ञवल्क्य के इस निषेधात्मक आत्मवाद की शाण्डिल्य के विधेयात्मक आत्म-वाद से तुलना कीजिये। आत्मा के अस्तित्व के लिये याज्ञवल्क्य नियति से अपना तर्क-ग्रहण करते हैं। आत्मा समस्त सत्ता का 'सेतु' है; यह हमारे दिवस और पलों का माप है (अध्याय ३; ८/६)। आत्मा सर्वव्यापक है। वह समस्त पदार्थों की अन्तर्नियामक है। हम केवल छोटी-छोटी कठपुतलियों के समान हैं; हमारे कर-पद उस महान् सूत्रधार आत्मा के इंगित पर नाचते हैं (अध्याय ३; ७)। आत्मा पुरुष की चरम-ज्योति है; शेष ज्योतियाँ नाम-मात्र की ज्योतियाँ हैं। जब पुरुष की ज्योति के रूप में आत्मा का अनुभव हो जाता है तो, मनुष्य स्वानुभूति को प्राप्त कर लेता है (अध्याय ४; ३/१–६)। आत्मा ही चरम श्रोता, चरम द्रष्टा तथा चरम मन्ता है। आत्मा के अतिरिक्त और कोई मन्ता नहीं। आत्मा अपने को जानती है। द्वैत की भावना होने पर ही परस्पर अवलोकन सम्भव हो सकता है। एकत्व की भावना होने पर अवलोकन और चिन्तन दोनों ही क्रियायें समान रूप से असम्भव हैं; इस प्रकार हम एकान्तिक आत्मवाद की स्थिति में आ जाते हैं (अध्याय २; ४/१४)। किन्तु याज्ञवल्क्य ने बड़ी सतर्कता के साथ कहा है कि इन्द्रियों के व्यापार स्थगित नहीं होते। ज्ञान-शास्त्र (Epistemology) की दृष्टि से उनके एकान्तिक आत्मवाद का यही एक आशामय अङ्ग है। मनोविज्ञान के विषय में अन्य उपनिषदीय तत्व-वेत्ताओं की भाँति याज्ञवल्क्य ने भी यह

कहा है कि स्वप्नावस्था में आत्मा अपने अन्तरलोक को विकीर्ण कर देती है (अध्याय ४; ३/९) । इस अवस्था में आत्मा अपने नीड़ से निकल कर वाहर विचरण करती है । केवल श्वास द्वारा उसका संरक्षण करती रहती है (अध्याय ४; ३/१२) । यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वह स्वप्न की अवस्था में विचरण अथवा कल्पना करती हुई प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः विचरण अथवा कल्पना नहीं करती (अध्याय ४; ३/७) । याज्ञवल्क्य का उपदेश है कि स्वप्न में तल्लीन पुरुष को सहसा न जगाना चाहिये; इसमें आत्मा के शरीर-त्याग का भय रहता है (अध्याय ४; ३/१४) । स्वप्न की अवस्था में पिता पिता नहीं, माता माता नहीं, चोर चोर नहीं, घातक घातक नहीं, चाण्डाल चाण्डाल नहीं, ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं (अध्याय ४; ३/२२) । सुपुप्ति के विषय में याज्ञवल्क्य ने आरुणि की भाँति 'श्रमवाद' का प्रतिपादन किया है (अध्याय ४; ४/१९) । आगे चलकर वे हमें वतलाते हैं कि सुपुप्ति वह प्रदोप-स्थिति है जिसमें मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों को देखता है (अध्याय ४; ३/९९) । शरीर-त्याग करने वाली आत्मा के विषय में याज्ञवल्क्य मरण की क्रमिक प्रगति की कथा ऐसी वस्तुवाद-परक (Realism) रीति से कहते हैं कि हम उन्हें प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षक मानने को वाध्य हो जाते हैं । मृत्यु के समय जीवात्मा प्रज्ञात्मा पर आरुढ़ होकर एक भरी हुई गाड़ी की तरह कराहती हुई आगे वढ़ती है (अध्याय ४; ३/३५) । मृत्यु के पूर्व नयनों का पुरुष सबसे पहले विलीन होता है । हृदय का सीमा-प्रान्त प्रकाशित हो जाता है, और उस प्रकाश में होकर आत्मा नेत्र, मस्तक अथवा शरीर के किसी अन्य भाग के मार्ग से निकल जाती है (अध्याय ४; ४/२) । केवल उसका कर्म उसके साथ जात है; यही उसकी नियति का नियामक है (अध्याय ४; ४/५) । सम्भवतः यही कर्म-सिद्धान्त वतलाकर याज्ञवल्क्य ने जारत-कारव को चुप कर दिया था (अध्याय ३; २/१३) । याज्ञवल्क्य के सिद्धांत से ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा अपने लिए ऊपर स्थान निश्चित कर लेने पर ही शरीर का परित्याग करती है । शलभ अपने वास के लिए दूसरा दूर्वादल खोज लेने के पूर्व अपने वर्तमान दल को नहीं छोड़ता (अध्याय ४; ४/३) । याज्ञवल्क्य का कथन है कि आत्मा का नवीन स्वरूप उज्ज्वलतर होना चाहिये । क्या सुवर्णकार पुराने सुवर्ण से भी एक अभिनव और उज्ज्वलतर आभूषण निर्मित नहीं कर देता (अध्याय ४; ४/४) यदि इस शरीर के अन्तर्गत निवास-काल में आत्मा में किसी वासना का पुट रह जाता है तो वह पुनः इसी लोक में आती है, यदि कोई वासना

शेष नहीं रहती तो वह ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लेती है (अध्याय ४; ४/६)। उस समय कोई भी चेतना शेष नहीं रह जाती। शरीर के स्वरूप-विधायक पंचमहाभूतों में आत्मा के प्रवेश से प्रजनित क्षणिक प्रक्रिया का नाम ही चेतना है (अध्याय ४; ४/१२)। याज्ञवल्क्य का दर्शन जिस मार्ग पर ले आता है, उसे देखकर उनकी पत्नी भयभीत हो उठती है, किन्तु हम, जो याज्ञवल्क्य की अद्वैत कल्पना को समझते हैं, आश्चर्य न करेंगे, यदि, उस दृष्टि-कोण से वे पुनर्जन्म की कल्पना को भी मिथ्या मानते थे। यदि हम याज्ञवल्क्य की ही विवेचन-पद्धति का प्रयोग कर सकें, तो हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'यदि आत्मा ही सर्वत्र तथा सब काल में एकान्त शाश्वत सत्ता है तो वह पुनर्जन्म द्वारा कौनसी स्थिति से किस स्थिति में जायगी ?' किन्तु यह सब याज्ञवल्क्य के दर्शन में ही अन्तर्निहित है। विचारधारा के सामान्यपथ, जिस पर उनकी पत्नी चल रही थीं, के सम्भ्रान्त हो जाने के भय से, यह सोच कर कि 'अज्ञानियों के लिये इतना ही ज्ञान पर्याप्त है' याज्ञवल्क्य अपने को इन भ्रामक भूल-भुलैयों में आकर भी, जहाँ कि उनके सिद्धान्त उन्हें ले आते हैं, क्षम्य मानते हैं (अध्याय २; ४/१३)।

२०. सामाजिक परिस्थिति

अब हम उपनिषदीय युग की सामाजिक परिस्थिति पर विचार करेंगे जिसमें इन तत्वज्ञानी ऋषियों ने अपना जीवन-यापन तथा विचार-विधान किया था।

(१) यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उपनिषद्-काल में वर्ण-भेद की भावना वर्तमान थी। वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व हम पुरुष सूक्त के समय तक पाते हैं जो निश्चित रूप से उपनिषदों से पूर्ववर्ती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्ण-विधान के विषय में एक बहुत रूढ़ि-मुक्त सिद्धान्त है। यह उपनिषद् वर्ण-व्यवस्था को विधि-विधान नहीं तथा 'गुण-कर्म-विभागशः' नहीं मानती जैसा कि परवर्ती युग में गीता का सिद्धान्त रहा है। इसके विपरीत बृहदारण्यक उपनिषद् का मत है कि विश्व की आदि सत्ता ब्रह्म है। किन्तु उसे अपने एकत्व से संतोष न हुआ। एकाकी होने के कारण उसे कुछ अभाव सा प्रतीत होता था। अतः उसने एक श्रेयस क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि की। इस प्रकार आदि ब्रह्म से इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईश आदि देवताओं की सृष्टि हुई। ये स्वर्ग-लोक के क्षत्रिय वर्ग हैं। पुनः क्षत्रिय वर्ग

की सृष्टि के वाद भी ब्रह्म को सन्तोष न हुआ तो, उसने स्वर्ग में वैश्य वर्ग की सृष्टि की, जिसमें वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, विश्वदेव आदि गण देवता हैं। फिर भी उसे एक अभाव का अनुभव हुआ तो उसने स्वर्ग में शूद्र वर्ग की सृष्टि की, जिसका प्रतिनिधि पूषण है। पुनः अपने को पूर्णता प्रदान करने के लिये ब्रह्म ने धर्म की स्थापना की, जो इन पृथक्-पृथक् वर्गों को एक सूत्र में बाँधता है। अन्त में, ब्रह्म अग्नि का स्वरूप धारण कर लेता है जो देवताओं का ब्राह्मण है। इसके बाद हमें यह बतलाया गया है कि स्वर्ग के वर्ण-विधान के आदर्श पर ही पृथ्वी पर भी वर्ण-विधान हुआ (मूल० १४)। इस रूढ़ि-मुक्त सिद्धान्त के अनुसार संसार का वर्ण-विधान स्वर्ग के वर्ण-विधान का प्रतिबिम्ब मात्र है, जिस प्रकार प्लेटो के दर्शन में जगत के उपादान पदार्थ सूक्ष्म जगत के चरम-रूपों (Ideas) के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। आश्रमों के विषय में भी हमें तैत्तिरीय उपनिषदों से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम तथा गृहस्थ आश्रम उस काल में निश्चित रूप से स्थापित हो चुके थे (मूल० १५–क)। एक अवतरण से, जिसमें यह उपदेश दिया गया है कि 'संसार से ऊब जाने पर उसका परित्याग कर देना चाहिये,' हम यही परिणाम निकालते हैं कि उस समय संन्यास आश्रम का स्वरूप भी निर्दिष्ट हो चुका था। अन्त में, मुण्डकोपनिषद् से, तथा अन्यत्र भी संन्यास के प्रसंग से, ज्ञात होता है कि संन्यास आश्रम अन्तिम आश्रम विधान था, जो पूर्व-निर्दिष्ट तीन आश्रमों की पूर्ति के लिये बनाया गया था। छान्दोग्योपनिषद् में हम चारों आश्रमों का सचेतन निदर्शन पाते हैं। गृहस्थों को यज्ञ, स्वाध्याय और दान का उपदेश दिया गया है, संन्यासियों को तपःसाधन का; वटुकों को ब्रह्मचर्य एवं गुरु-सेवा का उपदेश दिया गया है। इन सबको, निस्सन्देह, स्वर्ग के पुण्य लोक में स्थान मिलता है; किन्तु हमें बतलाया गया है कि वही जो ब्रह्म में लीन रहता है—यहाँ संन्यासी की ओर संकेत है—अमरत्व का अधिकारी है (मूल० १५–ख)। यदि हम इन आश्रमों का क्रम-निरूपण पुनः करें, तो ज्ञात होगा कि परवर्ती आश्रम विधान की नींव छान्दोग्योपनिषद् जैसी प्राचीन उपनिषद् में भी दृढ़तापूर्वक पड़ गई थी। उपनिषदीययुग में वर्ण और आश्रम विधान के विषय में इतना पर्याप्त होगा।

(२) अब हमें उपनिषद्काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विचार करना है। उपनिषदों में हमारा सम्पर्क मुख्य तीन प्रकार की स्त्रियों से होता है। कात्यायनी, जो एक साधारण सांसारिक महिला है, जिसका प्रसंग केवल एक बार बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है; मैत्रेयी, जो एक

आध्यात्मिक प्रकृति की स्त्री है तथा तत्वज्ञानी याज्ञवल्क्य की योग्य पत्नी है; और उपनिषदीय-युग में स्त्रियों के अधिकारों की माँग पेश करने वाली गार्गी, जो ज्ञान-युद्ध में प्रवीण होने के कारण जनक की सभा में, जहाँ अनेक तत्वज्ञानी एकत्र थे, याज्ञवल्क्य का सामना करने का साहस करती है और यह घोषणा कर देती है कि वह अपने प्रतिवादी याज्ञवल्क्य पर दो अस्त्र छोड़ेगी; यदि वे उनसे अपनी रक्षा करने में सफल सिद्ध होंगे, तो वे उस सभा में उपस्थित तत्व-ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ समझे जायेंगे। धीरता और दृढ़ता के साथ वह याज्ञवल्क्य को प्रतिगमन पद्धति द्वारा क्रमशः एक प्रश्न से दूसरे प्रश्न को पीछे की ओर ले जाती हैं। यदि याज्ञवल्क्य ने उसे शक्ति-तर्क (argumentum ad-caput) द्वारा न रोक दिया होता, तो वह उनके लिये भ्रान्ति-मूलक मौन की अवस्था उपस्थित कर देती। यद्यपि सबकी दृष्टि में वह पराजित हो जाती है, फिर भी दो विनम्र प्रश्नों के साथ पुनः उपस्थित होती है और याज्ञवल्क्य से उनके क्रियात्मक व्यापकता का सिद्धान्त ग्रहण कर लेती है (मूल० १६)।

(३) ब्राह्मण और क्षत्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् का मत है कि राजसूय यज्ञ के समय ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचे आसन ग्रहण कर उसे समयोचित सम्मान देना चाहिये। दूसरी ओर क्षत्रिय को भी यह स्मरण रखना चाहिये कि क्षत्रिय वर्ग का उद्गम ब्राह्मण वर्ग से ही है; अतः, चाहे वह उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर ले, उसे ब्राह्मणत्व को अपना उद्गम समझना चाहिये और इसीलिये उनका अधिकार और परामर्श स्वीकृत करना चाहिये (मूल० १७—क)। छान्दोग्योपनिषद् में जैवालि का कथन है कि ब्राह्मणों में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने वालों में आरुणि प्रथम थे; अतः क्षत्रिय वर्ग का सर्वोपरि राज्य था (मूल० १७—ख)। बृहदारण्यकोपनिषद् हमें यह बतलाती है कि जब आरुणि जैवालि के यहाँ, जिन्हें वे अपने से श्रेष्ठ मानते थे, शिष्य बन कर रहने की इच्छा से गये, तभी जैवालि ने उन्हें आत्मज्ञान प्रदान किया (मूल० १७—ग)। कौषीतकी उपनिषद् में राजा चित्र गार्ग्यायणी ने, समित्पाणि तथा विनम्र भाव से अपने पास आने के कारण ब्राह्मणत्व का अधिकारी मानकर आरुणि का अभिवादन किया और उन्हें आत्म-ज्ञान की दीक्षा दी (मूल० १७—घ)। इन सभी अवतरणों से ब्राह्मण वर्ग की अपेक्षा क्षत्रिय-वर्ग की भौतिक तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। इसके विपरीत बृहदारण्यकोपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद् में कई स्थानों पर, जैसे जब अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य

राजा अजातशत्रु के पास ज्ञान-सम्पादन के लिये जाता है, हम देखते हैं कि राजा अजातशत्रु ने उससे कहा कि यह "साधारण-नियम के विरुद्ध है कि एक क्षत्रिय ब्राह्मण को अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा दे; किन्तु अजातशत्रु ने गार्ग्य से संलाप करते समय अपनी श्रेष्ठता का अनुभव इतनी गम्भीरता के साथ किया कि वे गार्ग्य को अध्यात्म ज्ञान की दीक्षा देने से अपने को न रोक सके, जब वह समित्पाणि ब्राह्मण बड़ी नम्रता के साथ उनके यहाँ पहुँचा (मूल० १८)। उक्त अवतरण से ज्ञात होगा कि साधारणतः ब्राह्मण क्षत्रियों की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान में श्रेष्ठ थे, किन्तु कभी-कभी कोई क्षत्रिय भी किसी ब्राह्मण से अधिक ज्ञानी निकल आता था। अन्त में, उपनिषदों के कतिपय अवतरणों में, विशेषतः बृहदारण्यकोपनिषद् तथा मैत्री उपनिषद् में, हम देखते हैं कि बहुत से ब्राह्मण ऋषि क्षत्रिय राजाओं से कहीं श्रेष्ठ थे, जो अपने ब्राह्मण गुरुओं से ज्ञान की दीक्षा लेते थे। "यह मेरा समस्त राज्य है, याज्ञवल्क्य", राजा जनक ने ऋषि के प्रज्ञात्मक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से विस्मित हो कर कहा, "यह मैं आपकी सेवा के लिये हूँ" (मूल० १९—क)। मैत्री उपनिषद् में हम देखते हैं कि पश्चात्ताप और आत्म-भर्त्सना से भरा हुआ राजा बृहद्रथ ऋषि शाकायन के पास गया और उनसे अपने को भौतिक जगत से जलहीन कूप से मेंढक की भाँति निकाल लेने की विनय की (मूल० १९—ख)। उक्त अवतरणों से ज्ञात होगा कि ब्राह्मण प्रायः अपनी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता से पतित नहीं होते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि कभी कोई क्षत्रिय अथवा कभी कोई ब्राह्मण अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुकूल अपने युग का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक नेता रहा होगा। किन्तु क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण किसी विशेष वर्ग को बौद्धिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान के ठेकेदार होने का अधिकार-पत्र नहीं दे दिया गया था। अतः यह विवाद करना हास्यास्पद होगा कि एक ओर ब्राह्मण अथवा दूसरी ओर क्षत्रिय ही आध्यात्मिक संस्कृति के संरक्षक थे। इस प्रकार आधुनिक युग की भाँति समाज के निम्नतम वर्ग का मनुष्य भी समुचित योग्यता सम्पन्न होने पर सम्मान का अधिकारी हो सकता था।

२१. उपनिषदीय दर्शन के मुख्य प्रश्न

उपनिषदीय वाङ्मय के भाव-निरुपण की रूपरेखा को समाप्त करने के पूर्व प्रमुख उपनिषदीय तत्वज्ञानियों के सिद्धान्तों के विवेचन से उत्पन्न होने वाले मुख्य प्रश्नों तथा उनके परस्पर सम्बन्ध-निदर्शन पर कुछ प्रकाश डाल

देना अप्रासंगिक न होगा। विस्मय, जिसे प्लेटो ने ग्रीक दर्शन का मूल बतलाया है, भारतीय दर्शन का भी मूल था। उपनिषदीय दार्शनिकों ने प्रकृति को शक्तियों को देवताओं के स्वरूप में समझना छोड़ दिया था, जिनके सामने उन्हें एक अज्ञात भीति-भावना से सिर झुकाना पड़ता था। भारतीय दर्शन के इतिहास में हम ऋग्वेद से उपनिषदों में यही विकास पाते हैं जो हमें ग्रीक दर्शन के इतिहास में होमर (Homer) और हीसियड (Hesiod) से थेलीज़ (Thales) और अनैक्ज़ीमैण्डर (Anaximander) में मिलता है। प्रकृति की शक्तियों की मूर्त-भावना कुण्ठित हो जाती है और निश्चित चिन्तन का युग आ जाता है, जो केवल कल्पना-शील विचारकों का ही काम है। "वह क्या है," उपनिषदीय दार्शनिक प्रश्न करता है, "जिसे जान लेने पर शेष सब कुछ स्वतः ज्ञात हो जाता है"(मूल० २०)। संक्षेप में, वे ज्ञान के मूल-तत्व को समझना चाहते हैं। उन्होंने इसे खोजने का प्रथम प्रयास सृष्टि-शास्त्र के क्षेत्र में किया, किन्तु वहाँ पाने में असफल होने पर उन्होंने उसे मनोवैज्ञानिक जगत में खोजने का प्रयत्न किया। वे पूछते हैं कि "वह क्या है जो शरीर की मृत्यु के बाद भी अमर रहता है?" वे पूछते हैं कि" वह क्या है जो निरन्तर सचेतन रहता है तथा सृष्टि-क्रिया में संलग्न रहता है, यद्यपि शरीर निद्रा में अचेत पड़ा रहता है?" (मूल० २१)। यह अकारण ही न था कि याज्ञवल्क्य ने जनक की विद्वत् सभा में विजय प्राप्त की थी, जब कि उन्होंने मृत्यु के उपरान्त आत्मा की अतिलौकिक सत्ता का समर्थन किया था। वे पूछते हैं कि "वह कौनसा मूल है जिससे जीवन का वृक्ष उस अन्ध उच्छेदक मृत्यु द्वारा बार-बार काटे जाने पर भी नित्य नया उदय हो जाता है?" (मूल० २२)। जनक, जिन्होंने उस हाथी में, जिस पर वे चढ़े जा रहे थे, एक पूर्व ऋषि बुडिल की कल्पना की थी। उस समय वे कितने ज्ञानी समझे जाते होंगे, यह अनुमान करने योग्य है (मूल० २३)। पर-लोक शास्त्र उस समय सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। फिर भी मनुष्य की चरम सत्य की जिज्ञासा शान्त न हो सकी। मूल प्रश्न का उत्तर उसे आवश्यक जान पड़ता है—सत्य क्या है, आत्मा क्या है? इसके विषय में क्या प्रज्ञात्मक विधान हो सकता है? इस पहेली को हल करने का एक प्रयास उपनिषदीय ऋषि को परतत्व शास्त्र के हृदय में ले जाता है। जब कोई प्रज्ञात्मक उत्तर मिल जाता था तो अगला प्रश्न यह होता था कि व्यावहारिक रूप से वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। आचार का क्या आदर्श हो सकता है, जिसके अनु-शीलन द्वारा मनुष्य परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर सके। इस व्यावहारिक

प्रयास का चरम रहस्यवाद में होगा, जो नैतिक प्रयास का पूरक है, जो इसके विना अर्थ हीन है। रहस्यवाद उपनिषदीय दर्शन का चरम है, जैसा कि यह सभी दर्शनों का चरम है, और जो यह नहीं समझता कि उपनिषदों का सृष्टि-शास्त्र, मनोविज्ञान, परतत्व-शास्त्र, आचार-शास्त्र आदि सब उनके रहस्यवादी सिद्धान्तों के उपोद्घात मात्र हैं, वे उपनिषदीय तत्वज्ञान का रहस्य समझने में असमर्थ हैं।

२

सृष्टि-शास्त्र

१. मूल-तत्त्व की खोज

सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) को यह कहते समय कि "प्रकृति की अन्ध शक्तियों को छोड़कर अन्य कोई वस्तु संसार में अपनी सत्ता नहीं रखती जिसका मूल ग्रीक न हो", कम से कम उपनिषदीय दर्शन, विशेषतः उपनिषदीय सृष्टि-शास्त्र को तो अपने कथन की व्यापकता की परिधि के अन्तर्गत न सम्मिलित कर लेना चाहिये था। थेलीज़ (Thales), अनैक्ज़ीमैण्डर (Anaximander) आदि प्राचीनतम ग्रीक तत्ववेत्ताओं की दार्शनिक कल्पनाओं की अवमुँदी पलकों के दर्शन के प्रथम प्रभात की अस्फुट प्रथम रश्मि पर खुलने के हजारों वर्ष पूर्व का स्वर्ण-युग उपनिषदीय दर्शन का उत्कर्ष-काल था। ग्रीक-दर्शन की भाँति उपनिषदीय दर्शन में भी मानवीय कल्पना को सृष्टि-शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन से ही प्रारम्भिक प्रेरणा मिली। नक्षत्र-संकुल नील नभोमण्डल, नियमित ऋतु-परिवर्तन, अन्तरिक्ष में गरजता हुआ प्रभंजन, विभीषण दावानल, नियमित वृष्टि आदि प्रकृति के प्रत्येक कार्य-क्रम के निरन्तर प्रत्यावर्तन ने अवश्य ही एक प्रकृति पर्यवेक्षक के हृदय में निसर्ग नियमों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर दी होगी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ग्रीक-दर्शन की भाँति भारतीय-दर्शन में भी मनुष्य की प्रथम जिज्ञासा वस्तु-जगत के मूल-तत्त्व के प्रति हुई थी। वह कौनसी वस्तु है, जो निरन्तर परिवर्तन में भी अक्षुण्ण रहती है? वह क्या है, जिसे उपनिषदीय भाषा में 'तज्जलान' कह सकते हैं? वह क्या है जिससे समस्त वस्तु-जगत का उद्भव है, जिसमें समस्त वस्तु जगत का लय हो जाता है और जिसमें समस्त वस्तु जगत की स्थिति है (मूल० १—क)। तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है

कि "केवल वही तत्व इस वस्तु जगत का चरम-सत्य माना जा सकता है, जिससे कि इन समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हो, जो इन समस्त वस्तुओं की सत्ता का आधार हो और जिसमें अन्ततः इन समस्त वस्तुओं का लय हो" (मूल० १–ख)। अरिस्टोटिल (Aristotle) ने ग्रीक सृष्टि-शास्त्र की मूल-तत्व विषयक धारणा का जो स्वरूप बतलाया है वह चरम-तत्व की इस उपनिषदीय कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखता है। पुनः, अपने उपनिषद् के आरम्भ में ही ऋषि श्वेताश्वतर का यह आश्चर्य-पूर्ण प्रश्न कि "हमारा उद्भव किससे है, तथा हमारे जीवन और स्थिति का अधिष्ठान क्या है ?" (मूल० १–ग), हमें स्मरण हो आता है जब हम हीसियड (Hesiod) को अपने 'देवोद्भव-शास्त्र (Theogony) के आरम्भ में ही यह पूछते हुये पाते हैं कि "यह सब कुछ किसने बनाया और कैसे ?" वस्तु-जगत के चरम-कारण तथा मूल-तत्व का अन्वेषण जिस प्रकार उपनिषदीय सृष्टि शास्त्र की विशेषता है, उसी प्रकार उसके परवर्ती ग्रीक सृष्टि-शास्त्र की भी। यद्यपि, जैसा कि हम अगले अध्यायों में देखेंगे, यह कहना युक्ति-संगत नहीं कि ग्रीक सृष्टि-शास्त्र का आधार उपनिषदीय सृष्टि-शास्त्र था, किन्तु फिर भी, उपनिषदीय दर्शन की प्राचीनता के निश्चित तथा सर्व-सम्मत आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति की अन्ध-शक्तियों के अतिरिक्त समस्त वस्तुओं का मूल-स्थान ग्रीस मानना निस्सन्देह बड़ा साहसिक व्यापार है।

२. प्रस्तुत अध्याय की रूपरेखा

यद्यपि हमारे लिये उपनिषदों के भिन्न-भिन्न अवतरणों के काल-क्रमानुकूल स्तर-विधान के आधार पर उपनिषद्कारों के सृष्टि के उद्भव-विषयक सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विकासक्रम का निरुपण असम्भव नहीं—हमने अन्यत्र इसका प्रयास किया है—किन्तु, प्रस्तुत ग्रन्थ की विवेचन-पद्धति के अनुकूल, जिसका उद्देश्य तत्व-सिद्धान्तों की संक्षिप्त समीक्षा द्वारा उपनिषदीय विचार-धारा का दिग्दर्शन मात्र है, हमें उन सिद्धान्तों का विश्लेषण इस प्रकार करना चाहिये कि हम सृष्टि-शास्त्र के उपनिषदीय तथा ग्रीक सिद्धान्तों पर तुलनात्मक दृष्टि रख सकें। हम प्रारम्भ में ही उपनिषदीय सृष्टि-शास्त्र के सिद्धान्तों को दो प्रधान समूहों में विभाजित कर सकते हैं—अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय विभाग के अन्तर्गत ऐसे सिद्धान्त आ सकते हैं जो पंच-महाभूतों को वस्तु-जगत का चरम-तत्व मानते हैं, अथवा जो असत्, सत् अथवा ऐसी ही सूक्ष्म कल्पनाओं को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल मानते हैं। पौरुषेय विभाग के अन्तर्गत वे सिद्धान्त हैं जो सृष्टि के उद्भव

को आत्मा अथवा परमात्मा के आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं, और विविध रूपों में सृष्टि की उत्पत्ति के द्वैत-तत्व-मूलक, अथवा उद्‌गम-मूलक अथवा परम तात्विक ईश्वर-मूलक पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। जब उपनिषद्-कार पंच महाभूतों को वस्तु-जगत का मूल मानते हैं तो हमें उससे वही अर्थ ग्रहण करना चाहिये जो उनका अभीष्ट है न कि उन तत्वों को देवताओं के समान मानना चाहिये, जैसा कि कुछ परवर्ती भाष्यकारों ने उनकी ईश्वर-परक भावना से अभिप्रेरित होकर किया है। उदाहरण के लिये जब यह कहा गया है कि अग्नि, जल अथवा वायु वस्तु जगत के मूल हैं, तो हमें इसका अभिप्राय समझना चाहिये कि इन नामों से अभिज्ञात भूत-तत्व ही सृष्टि के उद्‌भव के आधार हैं। उपनिषदों के अद्वैतवादी भाष्यकारों—शंकर, रामानुज आदि—ने इन पंचमहाभूतों को देवता माना है न कि भूत-विशेष। किन्तु यदि हम उपनिषदीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन की सरलता (ऋजुता) पर तनिक भी विचार करें तो इस पर सन्देह करना असम्भव होगा कि पंचमहाभूतों से उपनिषद्-कारों का अभिप्राय जड़-भूतों से था, न कि उन भूतों के सांगतिक देवताओं से। यह ठीक है कि कहीं-कहीं 'भूतों' के अर्थ में 'देवता' शब्द का प्रयोग भी किया गया है; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ग्रीक दार्शनिकों ने भी 'भूतों' के लिये एक 'देवता' के समानार्थक 'थिऑस' (Theos) शब्द का प्रयोग किया था और यह अकारण ही नहीं था कि अरिस्टोटिल (Aristotle) इन 'भूतों' को 'देवता' मानने वालों को नास्तिक कहता था। पुनः, सृष्टि-विधान की नासदीय कल्पना प्रायः उपनिषद्-कारों के अनुकुल नहीं जान पड़ती, अतः हम भारतवर्ष में, जैसा कि ग्रीस के भी साथ है, असत से सृष्टि के उद्‌भव की कल्पना की असम्भवता में एक दृढ़ विश्वास पाते हैं। जब-जब उपनिषद्-कारों को पंच-महाभूतों अथवा सत्, असत् ऐसी सूक्ष्म कल्पनाओं से सृष्टि-विधान की पहेली सुलझाना असम्भव जान पड़ा, तो उन्होंने प्राण-शक्ति अथवा निसर्ग-शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति प्रदिपादित करने की आवश्यकता का अनुभव किया। अन्त में जब यह भी सृष्टि-विधान की अपर्याप्त व्याख्या सिद्ध हुई तो उनको उस पौरुषेय सत्ता की कल्पना की शरण लेनी पडी, जिसे सृष्टि का विधाता कह सकते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि पर-तत्व शास्त्र के अद्वैत सिद्धान्तों में सृष्टि विधान की कल्पना के लिये अधिक क्षेत्र नहीं है, जो समस्त सृष्टि-सत्ता को माया अथवा दृश्य-सृष्टि कह कर टाल देते हैं। यह कहने के लिये आगे बढ़ने के पूर्व कि 'उपनिषदों में सृष्टि-विधान की ईश्वर-मूलक कल्पना विशेषतः श्वेताश्वतर उपनिषद् में की गई है,' इस अध्याय के अन्त की ओर हम प्रश्न के इस पक्ष पर भी कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

३. जल

सबसे पहले वस्तु जगत के मूल-तत्व का विवेचन करते समय हम बृहदारण्यकोपनिषद् के उस सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे, जो ग्रीक दार्शनिक थेलीज़ (Thales) की भाँति जल को अखिल वस्तु-जगत का मूल स्रोत मानता है: "वस्तुतः सृष्टि के आदि में केवल जल की ही सत्ता थी। जल से सत्य का उद्भव हुआ। सत्य से ब्रह्म का उदय हुआ। ब्रह्म से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। प्रजापति से देवताओं की सृष्टि हुई। ये देवता केवल सत्य की उपासना करते हैं।" (मूल० २—अ)। ऊपर के अवतरण के अनुकूल सृष्टि के आदि में आत्मा अथवा पुरुष की सत्ता नहीं थी, वरन् जल जगत की आदि सत्ता है और उसी से सम्पूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति है। यह सचमुच आश्चर्य-जनक है कि यहाँ ब्रह्म को भी सत्य से उत्पन्न माना गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि हमें ब्रह्म को मूल-सत्ता नहीं मानना चाहिये, जैसी कि परवर्ती युग की धारणा थी। पुनः जब सत्य को जल से उत्पन्न माना गया है, तो हमें सत्य को चरम "भौतिक" सत्ता मानना होगा। यह भी कहा गया है कि "सत्यम्" में तीन अक्षर हैं: पहला 'स', दूसरा 'ति' और तीसरा 'अम्', जिनमें पहला और तीसरा सत्य हैं और दूसरा असत्य (मूल० २—ख)। इस पद की स्वतन्त्र व्याख्या यह हो सकती है कि असत्य अपने दोनों ओर सत्य से परिवेष्टित है, वर्तमान काल, जो क्षणिक है, दोनों ओर शाश्वत अनन्त से परिवेष्टित है। हमारी प्रगति शाश्वत से शाश्वत की ओर है, वर्तमान हमारे पथ की क्षणिक आश्रयदाता पथिकावास है, और यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अखिल सत्य के उद्भव की कल्पना आदि जल से की गई है। यह कल्पना बहुत कुछ थेलीज़ के अनुरूप है, क्योंकि थेलीज़ जल को समस्त वस्तु-जगत का मूल कारण मानता था और आदि जल के पटल पर विचरने वाली ईश्वरीय आत्मा की कल्पना, तथा मनु के जल को ईश्वरीय सृष्टि की आदि सत्ता मानने वाले सिद्धान्त की भाँति जल की आदि सत्ता के उत्तरदायित्व के लिये ईश्वर की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। बृहदारण्यक उपनिषद् थेलीज़ की भाँति ही जल को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल कारण मानती है। उसमें जल की सृष्टि के आधार के लिये ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

४. वायु

जल के बाद वायु का क्रम है। रैक्व का सिद्धान्त था कि अन्त में

समस्त वस्तु जगत का लय वायु में हो जाता है, सम्भवतः इसीलिये वह वायु को ही समस्त वस्तुओं का मूल भी मानता था। रैक्व के साथ एक बड़ी मनोरंजक कथा का सम्बन्ध है। एक बार राजा जानश्रुति वन में विचरण कर रहे थे। वहाँ उन्होंने दो हंसों का संवाद सुना। उनमें से एक हंस ने दूसरे से कहा कि जिस प्रकार पाँसे के सब नीचे दाव ऊँचे दाव के अन्तर्गत आ जाते हैं, अर्थात् विजेता के अधिकार में आ जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य जितने भी पुण्य कर्म करते हैं वे सब सर्वरथी तत्वज्ञानी रैक्व के पास पहुँचते हैं। राजा जानश्रुति को हंसों का संवाद सुनकर इतना आश्चर्य हुआ कि उन्होंने उसी क्षण अपने एक चर को रैक्व के आश्रम का पता लगाकर सूचित करने की आज्ञा दी। अनेक स्थानों में घूमता हुआ राज-सेवक रैक्व के आश्रम पर पहुँचा। रैक्व एक रथ के नीचे पड़े हुये अपना अंग खुजला रहे थे। चर ने राजा को रैक्व के स्थान की सूचना दी। राजा जानश्रुति अनेक गायें, एक हैम हार और एक अश्व-सहित रथ लेकर रैक्व के पास गये और उनसे यह समझाने की चेष्टा की कि वे किस देवता की उपासना करते हैं। रैक्व ने उत्तर दिया कि उसे शूद्र राजा के गोवंश, हार और रथ से कोई प्रयोजन नहीं, और उनसे लौट जाने को कहा। राजा जानश्रुति लौट आये, किन्तु गोवंश, हार, रथ और अपनी सुन्दरी कन्या को लेकर फिर ऋषि के पास गये। इस पर ऋषि सन्तुष्ट हो गये और उस सुन्दरी कन्या का मुख अपनी ओर उठाकर बोले, "हे शूद्र! इस सुन्दर मुख के कारण तुम मुझे बोलने को बाध्य कर रहे हो" और राजा को अपने ज्ञान का उपदेश दिया कि अन्ततः वायु में ही समस्त वस्तु-जगत का लय हो जाता है। "जब आग बुझ जाती है, तो वायु में ही उसका निलय हो जाता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो वह वायु में ही निलय हो जाता है। जब चन्द्रमा अस्त हो जाता है, तो वह भी वायु में निलय हो जाता है। जब जल सूख जाता है तो वायु में ही उसका निलय हो जाता है। इस प्रकार वायु में ही वस्तुतः सम्पूर्ण पदार्थों का निलय हो जाता है" (मूल० ३)। इस प्रकार अपने रथ में बैठा हुआ रैक्व, जो हमें नाँद-निवासी ग्रीक दार्शनिक डॉयोजिनीज (Diogenes) का स्मरण दिलाता है, राजा जानश्रुति को यह उपदेश देता है कि "वायु ही समस्त पदार्थों का चरम आश्रय है।" ऐसी स्थिति का तर्क-संगत परिणाम यही होगा कि यदि वायु समस्त वस्तु-जगत का अन्त है तो वही उसका आदि ही होना चाहिये। वस्तुतः रैक्व का दर्शन ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमैण्डर (Anaximander) के समान है, जिसका मत था कि वायु सम्पूर्ण वस्तुओं का आदि और अन्त है। रैक्व ने निश्चित रूप से यह नहीं कहा है कि वायु जगत् का मूल-तत्व है, वरन् इस बात का संकेत

भर करता है कि वायु सम्पूर्ण वस्तु-जगत् का अन्त है । यह वस्तुतः बड़ी अपरिपक्व कल्पना है । अतः वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अधिक महत्व नहीं है, क्योंकि रैक्व वस्तुओं के वायु में निलय होने की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं करता, जैसा कि आगे चलकर परवर्ती युग में ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमिनीज़ (Anaximenes) ने 'विरलीभवन' (rarefaction) तथा 'घनीभवन' (condensation) की प्रक्रियाओं द्वारा वस्तु-जगत् के वायुगत उद्भव और निलय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । फिर भी रैक्व का वायु को सम्पूर्ण पदार्थों का, विशेष कर जल और अग्नि का, जो उनके समकालीन तत्व-वेत्ताओं द्वारा समस्त वस्तु-जगत् के मूल-तत्व माने गये थे, निलय का चरम आश्रय मानने का साहस सराहनीय है ।

५. अग्नि

अग्नि को वस्तु-जगत् के मूल तत्व मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में अधिक स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है । कठोपनिषद् में एक अवतरण है जिसका कथन है कि अग्नि ने विश्व में अन्तः प्रवेश करके विविध स्वरूप धारण कर लिये (मूल० ४–क), जो लगभग हैराक्लाइटस (Heracleitus) के इस सिद्धान्त के समानान्तर है कि अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं में परिणत हो जाती है और सम्पूर्ण वस्तुओं की परिणति अग्नि में है । दूसरी ओर, छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि आदि पुरुष से प्रथम अग्नि का उद्भव हुआ, तथा अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई (मूल० ४-ख)। यह जान लेना मनोरंजक है कि हैराक्लाइटस (heracleitus) के उर्ध्व-मार्ग और अधोमार्ग की कल्पना भी इस अवतरण के भाव के अन्तर्गत आजाती है, जहाँ इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का उद्गम होता है; और प्रति तर्क द्वारा, प्रलय-काल में पृथ्वी का जल में निलय हो जाता है, तथा जल का अग्नि में और अग्नि का आदि पुरुष में । किसी भी तत्वज्ञानी के लिये इस सिद्धांत का प्रतिपादन करना कठिन है कि अग्नि सब वस्तुओं का मूल कारण है । यह स्पष्ट है कि अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्म कर देती है, अतः उसको चरम प्रलय का कारण मानना उचित जान पड़ता है, और छान्दोग्योपनिषद् से युगान्तव्यापिनी प्रलय का भाव ग्रहण कर लेना असम्भव नहीं । छान्दोग्योपनिषद् और हैराक्लाइटस में इतना अन्तर है कि जहाँ हैराक्लाइटस अग्नि को सम्पूर्ण पदार्थों का मूल मानता है, वहाँ छान्दोग्योपनिषद् अग्नि को आदि-पुरुष से उत्पन्न मूल-तत्व मानती है । छान्दोग्योपनिषद् परिणति की भावना पर अधिक जोर नहीं

देती, किन्तु हैराक्लाइटस के परिवर्तन-प्रिय मन के लिए अग्नि परिणति की भावना का प्रतीक प्रतीत होती है।

६. आकाश

प्रवाहण जैवालि के आकाश-तत्व-मूलक सिद्धान्त में हम पूर्ववर्ती तत्व-ज्ञानियों के सिद्धान्तों से कहीं अधिक दार्शनिक विकास पाते हैं। ग्रीक-दर्शन के विचार-विकास में भी आकाश के वस्तु-जगत् के मूल तत्व होने की कल्पना बड़ी देर से प्रस्फुटित होती है। थेलीज़ (Thales) अनैक्ज़ीमैन्डर (Anaximander) हैराक्लाइटस (Heracleitus) एम्पीडोक्लीज़ (Empedocles) में क्रमशः जल, वायु, पृथ्वी और अग्नि के मूल तत्व होने की कल्पना पृथक्-पृथक् अथवा संश्लिष्ट रूप में पाई जाती है। अरिस्टोटिल (Aristotle) के मतानुसार हम आकाश के चरम-तत्व होने की कल्पना फ़िलॉलॉज़ (Philolos) समय तक पहुँचने पर ही पाते हैं। अग्नि, वायु, जल, और पृथ्वी थोड़े वहुत स्पर्श-जन्य हैं; किन्तु आकाश के मूल तत्व होने की कल्पना तक पहुँचने के लिये अधिक दार्शनिक विचार-विकास अपेक्षित है। जब प्रवाहण जैवालि से यह पूछा गया कि पदार्थों की चरम-गति क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया "आकाश"। इन समस्त पदार्थों का उद्भव आकाश से ही होता है और अन्त में आकाश में ही इनका निलय हो जाता है। आकाश निस्सन्देह इनकी अपेक्षा महान् है। आकाश चरम-गति है (मूल० ५—क)। इस अवतरण के समर्थन में छान्दोग्योपनिषद् में एक और अवतरण है जिसमें हमें यह बतलाया गया है कि 'आकाश' निस्सन्देह अग्नि से महान् है; सूर्य और चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र आकाश के ही अन्तर्गत हैं। आकाश के ही कारण मनुष्य बोल सकता है। आकाश में और आकाश से सम्पूर्ण वस्तुओं का विधान है। चरम सत्य मानकर आकाश का ही चिन्तन करना चाहिये" (मूल० ५—ख)। छान्दोग्योपनिषद् के इन अवतरणों के अनुकूल हमें आकाश को पूर्ववर्ती कल्पनाओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर चरम तत्व मानना चाहिये।

७. असत्

उपनिषदों में कुछ ऐसे अवतरण हैं, जिनमें असत् के मूल-सत्ता होने के मत का प्रतिपादन किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है कि 'सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि में असत् की ही सत्ता थी। इससे सत् का उद्भव,

हुआ। सत् ने स्वतः अपना रूप-विधान कर लिया, इसीलिये इसे सुकृत अथवा स्वकृत कहते हैं" (मूल० ६)। जो भाष्यकार असत् ऐसी निषेधात्मक कल्पना को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल-तत्व स्वीकार करना नहीं चाहते, उनका इस पद का यह अर्थ समझना उचित ही है कि आदि में असत् की प्रतीत्य सत्ता थी, न कि असत् कोई प्रत्यक्ष सत्ता थी; और ऐसे ही प्रतीत्य असत् से सत् की सृष्टि हुई। हम भली प्रकार कल्पना कर सकते हैं कि शंकर जैसे ब्रह्मवादी, चरम-सत्ता-वादी दार्शनिक इस पद की क्या व्याख्या करेंगे। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तैत्तिरीय उपनिषद् की इस आदि असत् सत्ता के अज्ञेयात्मक स्वरूप की कल्पना इसके पूर्व ही ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में हो चुकी थी, जिसके अनुकूल आदि में न सत् की सत्ता थी, न असत् की; वरन् निशा के घनान्धकार-सागर का ही अस्तित्व था (ऋग्वेद–मण्डल १०, सूक्त–१२६)। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इस आदि शून्य अथवा महा-शून्य की कल्पना ग्रीक-दर्शन में ऐपिमिनीडीज (Epimenides) के सिद्धान्त में पाई जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् का भी एक अवतरण हमें यह बतलाता है कि वस्तुओं के आदि में किसी वस्तु की सत्ता नहीं थी; वरन् प्रत्येक वस्तु पर मृत्यु अथवा क्षुधा का आवरण पड़ा था, क्योंकि क्षुधा ही वस्तुतः मृत्यु है। मृत्यु ने यह निश्चित किया कि मुझे एक आत्मा प्राप्त हो; और इस प्रकार अर्चना करते हुए उसमें गति आगई। उसकी अर्चना से जल का उद्गम हुआ। जल का फेन ही घनीभूत होकर पृथ्वी के स्वरूप में परिणत हो गया। मृत्यु ने पृथ्वी पर श्रम किया और इसके फलस्वरूप अग्नि उत्पन्न हुई" (मूल० ७)। यहाँ हम आदि असत् से जल, पृथ्वी, अग्नि तत्वों की उत्पत्ति का विधान पाते हैं; चाहे उसे मृत्यु अथवा क्षुधा कहो, चाहे उसे ग्रीक-दर्शन के महा-शून्य के समान समझो। अस्तु, इन अवतरणों में यह अभिप्रेत जान पड़ता है कि मानवीय विचार-विकास की एक ऐसी स्थिति भी है, जहाँ किसी भी प्रत्यक्ष सत्ता का ग्रहण करना असम्भव हो जाने के कारण कल्पना को असत् जैसी निषेधात्मक किन्तु तर्क-संगत भावना का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे कि बाद में सत् जैसी निषेधात्मक सत्ता की भी व्याख्या की जा सकती है। प्लेटो तथा अरिस्टोटिल के जैसे विकसित दर्शन में भी हमें असत् का स्वीकरण मिलता है और इस मत का विरोध नहीं किया जा सकता कि कम से कम तर्क-संगति के लिए ही विधायक दार्शनिक कल्पनाओं में भी असत् की सत्ता को स्थान देना पड़ता है। दूसरी ओर जहाँ गॉर्जियस (Gorgias) जैसे दार्शनिक ने पार्मेनिडीज़ (Parmenides) के सत् के विपरीत एक वास्तविक असत् की

सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, हमें यह समझना चाहिये कि वे केवल प्रतिवाद के लिए ऐसा करते हैं। हम उस प्रणाली को और क्या कह सकते हैं जिसके द्वारा असत् के 'होने' के आधार पर वे असत् की सत्ता ग्रहण करके, वितर्क द्वारा, सत् की असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं ? गोर्जियस के जैसे प्रतिवाद-मूलक दर्शन से हमारा सम्बन्ध न हो, किन्तु प्लेटो, अरिस्टोटिल के जैसे विधायक दर्शन में असत् का स्वीकरण विचारणीय है। इसी अर्थ में तैत्तिरीय और वृहदारण्यक उपनिषदों के अवतरणों की व्याख्या करनी चाहिये और असत् से हमें 'शुद्ध अभाव' नहीं वरन् 'सानुपातिक अभाव, अथवा परवर्ती कल्पना की प्रत्यक्ष सत्ता के विपरीत आदि की प्रतीत्य (आदि) सत्ता समझना चाहिये।

८. असत् और ब्रह्माण्ड

असत् को वस्तु-जगत का मूल मानने वाले सिद्धान्त का एक मनोरंजक पक्ष और है। छान्दोग्योपनिषद् असत् के सिद्धान्त का ब्रह्माण्ड की कथा से सम्बन्ध स्थापित कर देती है। इस उपनिषद् का कथन है कि "आदि में एक असत् की ही सत्ता थी। असत् ने अपने को सत् के स्वरूप में परिणत कर लिया। सत् ने बढ़कर एक विशाल अण्डे का स्वरूप धारण कर लिया। एक वर्ष तक वह इसी अवस्था में पड़ा रहा। तत्पश्चात् टूटा तो उसके दो भागों में से एक सोने का था, तथा दूसरा चाँदी का। चाँदी का भाग पृथ्वी वन गया और सोने का भाग आकाश। अण्डे के जरायु से पर्वत-श्रेणियाँ, उसके उल्व से नीहार और मेघ बन गये; उसकी धमनियों की सरितायें बन गईं; उसके अन्दर का द्रव-पदार्थ समुद्र बन गया। इस अण्डे से जिसका उद्भव हुआ वह सूर्य था। जब सूर्य का उद्भव हुआ तो अभिवादन ध्वनि हुई" (मूल० ८)। तुलनात्मक पौराणिक-शास्त्र के सिद्धान्तों से परिचित पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि बेबीलोनिया (Babylonia), इजिप्ट (Egypt), फिनीशिया (Phoenicia), ईरान (Persia), और ग्रीस (Greece) की पौराणिक कथाओं से छान्दोग्योपनिषद् की कथा का कितना साम्य है। हम जानते हैं कि किस प्रकार ग्रीस के ऑर्फिक (Orphic) देश के सृष्टि-शास्त्र में 'क्रॉनॉस' (Cronos) और 'अड्रास्टिया' (Adrastea) ने एक विशाल अण्डा उत्पन्न किया और उसे बीच में से विभाजित करके उसके ऊपर के भाग से आकाश और नीचे के भाग से पृथ्वी की रचना की और किस प्रकार उस अण्डे में 'फेनीज़' (Phanes) नाम का एक ज्योतिःस्वरूप देव निकला, जिसके अन्तर्गत सभी देवताओं का बीज-रूप था। यह जान

लेना मनोरंजक है कि इस कथा के क्रॉनॉस (Cronos) और अड्रास्टिया (Adrastea) के पीछे क्रमशः काल और नियति की कल्पना सन्निहित है। 'अड्रास्टिया' शब्द ग्रीक साहित्य में ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी तक में प्रचलित पाया जाता है; 'डिड्रास्को' (Didrasco) शब्द से इसकी व्युत्पत्ति करके प्रायः इसका अर्थ 'अपलायन-शील' किया जाता है। हम यहाँ पर यह संकेत कर देने का साहस करेंगे कि अड्रास्टिया संस्कृत के 'अदृष्ट' शब्द का ही ग्रीक स्वरूप प्रतीत होता है, जिसका अर्थ 'नियति' है। हम नहीं जान सकते कि किस प्रकार, किन्तु यह सम्भाव्य जान पड़ता है, अदृष्ट का भाव ग्रीकों तक उस समय पहुँच गया था, जबकि ग्रीक और भारतीय आर्य साथ-साथ रहते थे। फिर अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर लौट कर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अण्डे से सूर्य के उद्भव की कल्पना सभी प्राचीन जातियों की पौराणिक कथाओं में समानान्तर रूप से पाई जाती है किन्तु एक आदि 'असत्' से इस अण्डे की सृष्टि मौलिक भारतीय कल्पना है, जैसा कि हम छान्दोग्योपनिषद् में देखते हैं। यह भी विचारणीय है कि जिस प्रकार उपनिषद्कार विश्व को 'विशाल ब्रह्माण्ड' मानते थे उसी प्रकार उसे एक 'विशाल मंजूषा' भी मानने लगे थे, जिसका धरातल भूमि है, आकाश आवरण है, अन्तरिक्ष अन्तर्भाग है, दिशायें कोण हैं, और उसमें एक अमूल्य कोश अन्तर्निहित है" (मूल० ९)। यहाँ हम देखते हैं कि विश्व की एक घनाकार मंजूषा की कल्पना, ब्रह्माण्ड की कल्पना के प्रतिवाद के लिए की गई है, यद्यपि असत् के सिद्धान्त से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

९. सत्

असत् के वस्तु जगत के मूल-तत्व होने की कल्पना के बाद हम सत् की कल्पना तक आते हैं। छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि सृष्टि के आरम्भ में सत् ही एकमात्र सत्ता थी। यह उनके लिए आपत्ति उपस्थित कर देता है जो यह मानते हैं कि आदि सत्ता 'असत्' होनी चाहिये और 'सत्' को असत् से उद्भूत सत्ता मानना चाहिये। उक्त उपनिषद् का प्रश्न है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है? 'असत्' अथवा अभाव से सत् का उद्भव कैसे हो सकता है? हमें यह कल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि "आदि में सब कुछ सत् था; एक और अद्वितीय था। इस आदि सत्ता ने चिन्तना की कि मैं बहुरूप होजाऊँ; मैं प्रजोत्पादन करूँ। ऐसी चिन्तना करके उसने तेज की सृष्टि की। तेज ने इच्छा की कि मैं बहुरूप होजाऊँ; मैं प्रजोत्पादन करूँ; और उसने जल की सृष्टि की। जल ने

चिन्तना की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ; मैं प्रजोत्पादन करूँ; और उसने अन्न की उत्पत्ति की" (मूल० १०—क)। "जब आदि देवता ने विचार किया कि मैं अब त्रिदेव हो गया, अब मैं इनमें अपनी आत्मा द्वारा प्रवेश करके नाम और रूप का उद्घाटन करूँ। इनमें से प्रत्येक के तीन भाग करूँ" (मूल० १०—ख)। "इस प्रकार अग्निशिखा में हम जिसे रोहित कहते हैं वह तेज का अंश है, जिसे शुक्ल कहते हैं वह जल का अंश है और जिसे कृष्ण कहते हैं वह पृथ्वी का अंश है। इस प्रकार शिखा का शिखा-भाव विलीन हो जाता है। शिखा वस्तुतः एक अभिधान मात्र है; एक विकार और नामधेय मात्र है। वास्तविक सत्ता इन तीन वर्णों की है। सूर्य में हम जिसे रोहित कहते हैं वह तेज का वर्ण है; जिसे शुक्ल कहते है वह जल का वर्ण है; जिसे कृष्ण कहते हैं वह पृथ्वी का वर्ण है। इस प्रकार सूर्य के सूर्यतत्व का वस्तुतः कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रह जाता। सूर्य एक अभिधान-मात्र है; एक विकार और नामधेय मात्र हैं। वास्तविक सत्ता इन्हीं तीन वर्णों की है। इसी प्रकार चन्द्र के चन्द्रत्व और विद्युत् के विद्युतत्व का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। केवल तीन वर्णों की वास्तविक सत्ता है (मूल० १०—ग)।

इन अवतरणों से यह जान लेना मनोरंजक होगा कि प्रथमतः आदि सत्ता 'सत्' तथा एक और अद्वितीय मानी गई है। दूसरे हम देखते हैं कि किस प्रकार इस आदि सत्ता से त्रिगुणात्मक प्रकृति की सृष्टि हुई जिसे हम 'तेजोबन्नात्मिका' अर्थात् तेज, जल और पृथ्वी संयुक्त कह सकते हैं। तीसरे, यह ध्यान रखना चाहिये कि छान्दोग्योपनिषद् निश्चित रूप से 'त्रिवृत्करण' का सिद्धान्त हमारे सामने रखती है, जो परवर्ती वेदान्त के 'पंचीकरण' का ही पूर्व-रूप है। जिस प्रकार वेदान्त के पंचीकरण सिद्धान्त में तेज, वायु, जल, पृथ्वी और आकाश इन पाँच मूल महाभूतों में से प्रत्येक का अर्ध-भाग तो अछूता रख दिया जाता है और शेष अर्ध-भाग पृथक्-पृथक् चार समान भागों में विभाजित किया जाता है; इस प्रकार भिन्न-भिन्न महाभूतों के चार विभाग, जो एक दूसरे के साथ संगठित होकर अर्ध-भाग बनाते हैं, जो मूल-तत्व के अर्ध-भाग से मिलकर मूल-तत्व का परिणति-विकास-मूलक एक पूर्ण अङ्क निर्मित कर देता है। इसी प्रकार उपनिषदों के 'त्रिवृत्करण' में भी मूल तीन तत्व अग्नि, जल, और पृथ्वी में से प्रत्येक दो-दो समान अंशों में विभाजित किया जाता है; जिसका अर्ध-भाग अछूता रख देने के बाद दूसरे अर्धभाग को दो समान भागों में विभाजित किया जाता है। दो अन्य महाभूतों के दो अंश मूल-तत्व के अर्ध-भाग से मिलकर मूल-तत्व का परिणति-विकास-मूलक एक पूर्ण अङ्क निर्मित कर देते हैं। प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का कुछ अंश अवश्य है और इसी

प्रकार तत्वों का परस्पर सम्मिश्रण हुआ और परिणाम-मूलक पदार्थों की सृष्टि हुई, उपनिषदों के इस सिद्धान्त से अनैक्ज़ीमेण्डर (Anaximander) के दर्शन-सिद्धान्त के साम्य रखने की दृष्टि से उपनिषदों का यह तत्व-सम्मिश्रण सिद्धान्त बड़ा मनोरंजक है। चौथे हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि छान्दोग्योपनिषद् हमें यह बतलाती है कि तीन भिन्न-भिन्न तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले तीन भिन्न वर्ण हैं—रोहित, शुक्ल, कृष्ण, जिन्हें परवर्ती युग में सांख्य दर्शन ने ग्रहण किया था, और उनसे सांख्य-प्रकृति के तीन भिन्न-भिन्न गुणों का निरूपण किया। अन्त में, छान्दोग्योपनिषद् हमें यह बतलाती है कि वास्तविक सत्ता तीन वर्णों की है अथवा तीन तत्वों की; और सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि समस्त पदार्थ जो इन्हीं तीन मूल-तत्वों से विनिर्मित हैं केवल शब्द, नाम, अथवा मूल-तत्वों के विकृत रूप हैं। चरम नामवाद (Nominalism) के स्वर में छान्दोग्योपनिषद् समस्त इतर पदार्थों को केवल 'प्रतीत्य' अथवा 'दृश्य' मात्र रखना चाहती है और केवल तीन तत्वों के अस्तित्व के लिये ही द्वार खुला रखती है, जिन सबका उद्भव आदि सत्ता से है। दार्शनिक दृष्टि से यह एक तत्त्व-त्रयात्मक अद्वैत है।

१०. प्राण

परम-तत्व की खोज में जब हम प्राण की कल्पना तक पहुँचते हैं, तो हम ग्रीक दर्शन की कल्पना-कोटि से ऊपर पहुँच जाते हैं। प्राण का मूल अर्थ 'श्वास' है। श्वास मनुष्य के जीवन का सर्वस्व समझा जाता था। अतः प्राण ने जीवन-तत्व का रूप ग्रहण कर लिया। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन-तत्व प्राण कहलाने लगा, उसी विश्व का जीव-तत्व भी प्राण कहलाने लगा। इस प्रकार प्राण का अर्थ जीवन-तत्व अथवा प्रकृति-तत्व है। जब छान्दोग्योपनिषद् में उषस्ति चाक्रायण से पूछा गया कि समस्त पदार्थों का परम-तत्व क्या समझा जा सकता है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'प्राण', क्योंकि वस्तुतः प्राण ही में समस्त सत्तायें प्रवेश करती हैं और प्राण से ही इनका मूल उद्भव हो सकता है (मूल० ११—क)। छान्दोग्योपनिषद् में रैक्व के सिद्धान्त का भी यही अभिप्राय है, जब कि वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड में संगति स्थापित करना चाहते हैं, तथा जब वह कहते हैं कि जिस प्रकार वायु विश्व का जीवन-तत्व है, उसी प्रकार श्वास मनुष्य का जीवन-तत्व है। इस सिद्धान्त पर हम अभी विचार कर चुके हैं। "प्राण प्रलय का चरम आश्रय है; समस्त पदार्थों का संवर्ग अर्थात् अन्त है। सुषुप्ति में मनुष्य की वाणी उसके प्राण में विलीन हो जाती है। नेत्र, कान, मन सभी प्राण में

विलीन हो जाते हैं। प्राण निलय का चरम आश्रय है (मूल० ११–ख)। रैक्व का कथन है कि "इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निलय के दो ही आधार हैं, एक व्यष्टि-जगत् और दूसरा समष्टि-जगत्, एक वायु और दूसरा प्राण" (मूल० ११–ग)। प्राण की श्रेष्ठता का अनुभव कर लेने के वाद छान्दोग्योपनिषद् को, सनत्कुमार द्वारा नारद को सिखाये गये सिद्धान्त में, इसका प्रतिपादन करने में कठिनाई नहीं होती कि "जिस प्रकार चक्र की समस्त तीलिकायें नाभि-केन्द्र में केन्द्रित हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थ, वस्तुतः समस्त सत्ता, प्राण में केन्द्री-भूत हैं" (मूल० १२–क)। प्राण, इस प्रकार, समस्त सत्ता का मूल-नाल माना जा सकता है। कौषीतकी ऋषि हमें वतलाते हैं कि "प्राण चरम-सत्य है, मन इसका दूत है, नेत्र अङ्ग रक्षक हैं, कर्ण सूचक है, और वाणी परि-चारिका है। इस चरम सत्य प्राण को समस्त पदार्थ आहुति प्रदान करते हैं, यद्यपि प्राण कभी उनकी याचना नहीं करता" (मूल० १२–ख)। इस प्रकार हम साधारणरूप से देखते हैं कि किस प्रकार शरीर की समस्त इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान ग्रहण कर लेता है।

११. प्राण और अन्य इन्द्रियों का विरोध

उपनिषदों में एक दो ऐसे प्रामाणिक स्थल भी हैं जहाँ पौराणिक कथा-शैली-द्वारा प्राण की श्रेष्ठता का निदर्शन किया गया है। छान्दोग्यो-पनिषद् में एक वर्णन आता है (जिसमें हमें वतलाया गया है) कि एक वार मनुष्य की इन्द्रियों ने यह निर्णय करने का निश्चय किया कि उनमें से कौन श्रेष्ठ है। इसके लिये वे सृष्टिकर्ता प्रजापति के पास गईं। प्रजापति ने कहा, वही इन्द्रिय सर्वश्रेष्ठ समझी जा सकती है जिसके बिना शरीर अशक्त और दयनीय दशा में रह जाता है। इस पर इन्द्रियों ने श्रेष्ठता के निर्णय के लिये एक प्रतियोगिता का निश्चय किया। वाणी सवसे पहले शरीर के वाहर निकल गई और एक वर्ष के वाद लौट कर देखा तो वड़ा आश्चर्य हुआ कि शरीर उसके बिना किस प्रकार जीवित रह सका। उससे कहा गया कि उसकी अनुपस्थिति में शरीर एक मूक पुरुष की भाँति रहा। यद्यपि वह वोल नहीं सकता था किन्तु प्राण से श्वास ले सकता था, आँख से देख सकता था, कान से सुन सकता था, मन से विचार कर सकता था। इस पर वाणी ने पुनः शरीर में निवास किया। इसके वाद नयनेन्द्रिय ने शरीर छोड़ा और एक वर्ष वाहर रहने के वाद लौट कर देखा तो वड़ा विस्मय हुआ कि शरीर उसके विना कैसे जीवित रह सका। उससे यह कहा गया कि शरीर एक अन्धे की भाँति रहा। यद्यपि वह देख नहीं सकता था, किन्तु प्राण से श्वास ले

सकता था, मुख से बोल सकता था, कान से सुन सकता था, मन से विचार कर सकता था। इस पर आँख ने पुनः शरीर में अपना स्थान ग्रहण किया। तब श्रवणेन्द्रिय ने शरीर छोड़ा और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौट कर देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि शरीर उसके बिना कैसे जीवित रह सका। उससे कहा गया कि शरीर एक बधिर पुरुष की भाँति रहा। यद्यपि वह सुन नहीं सकता था किन्तु वह प्राण से श्वास ले सकता था, मुख से बोल सकता था, आँख से देख सकता था,मन से विचार कर सकता था। इस पर श्रवणेन्द्रिय ने पुनः अपना स्थान ग्रहण किया। फिर मन ने शरीर छोड़ा और एक वर्ष बाहर रहने के बाद लौटकर देखा तो बड़ा विस्मय हुआ कि शरीर उसके बिना कैसे जीवित रह सका। उसे बतलाया गया कि शरीर एक अबोध शिशु की भाँति रहा। यद्यपि वह विचार नहीं कर सकता था, किन्तु वह प्राण से श्वास ले सकता था, मुख से बोल सकता था,आँख से देख सकता था,कान से सुन सकता था। इस पर मन ने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लिया। अन्त में जब प्राण शरीर को छोड़ने ही वाला था कि उसने इतर इन्द्रिओं को उसी प्रकार उखाड़ लिया जिस प्रकार एक सुवंशीय घोड़ा अपनी खूँटियों को उखाड़ लेता है, जिनसे वह बँधा होता है। तब समस्त इन्द्रियों ने एकत्र होकर प्राण से कहा कि 'आप हमारे स्वामी हैं, आप हमें न छोड़िये।' वाणी ने प्राण से कहा कि 'यदि मैं श्रीमती हूँ, तो आप ही श्रीमान् है।' नयनेन्द्रिय ने कहा कि 'यदि मैं प्रतिष्ठा हूँ तो आप ही प्रतिष्ठावान् है।' कर्णेन्द्रिय ने कहा कि 'यदि मैं सम्पत्ति हूँ, तो आप ही सम्पत्ति-वान् हैं। मन ने कहा कि 'यदि मैं चरम अधिष्ठान हूँ, तो वस्तुतः आप ही चरम अधिष्ठान है।' यही कारण है कि मनुष्यों ने वाणी, नयन, कान, मन आदि इन्द्रियों की नहीं, वरन् प्राण की श्रेष्ठता की घोषणा की है। वस्तुतः प्राण ही इन समस्त इन्द्रियों का आधार है (मूल० १२–क)। प्राण और इतर इन्द्रियों के विरोध-वर्णन और प्राण की श्रेष्ठता प्रतिपादन के उदाहरण के लिये सम्भवतः छान्दोग्योपनिषद् का यह अवतरण सबसे अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक है। कुछ हेर फेर के साथ यही कथा कौषीतकी उपनिषद् में भी पाई जाती है (अध्याय २, १४)। किन्तु यह परवर्ती युग की रचना है। अतः कौषीतकी उपनिषद् की कथा द्वारा छान्दोग्योपनिषद् की ही कथा की पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। किन्तु प्रश्नोपनिषद् की प्राण और इन्द्रियों के विरोध की कथा के कुछ स्थल महत्वपूर्ण होने के कारण विचारणीय हैं। प्रथमतः उसमें प्राण और इन्द्रियों के विरोध में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पंच-महाभूत नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियों के पक्ष में सम्मिलित हो जाते हैं। दूसरे,

प्रश्नोपनिषद् में प्रयुक्त दो उपमायें विचारणीय हैं। उसमें शरीर को 'वाण' कहा गया है, जिसका अर्थ मैक्स मूलर (Max Muller) के मतानुसार 'वीणा' अथवा 'तन्तुवाद्य' किया जा सकता है। पंचमहाभूत और इन्द्रियाँ उसे चढ़ाने और स्वर-मिलाने का प्रयत्न करते हैं। बड़ी मनोरंजक बात है कि संयोग वश पाइथॅगोरस (Pythagoras) और प्लेटो (Plato) ने भी शरीर का वर्णन एक 'वीणा' के रूप में किया है। फिर जब प्राण बाहर जाना चाहता है, तो उसकी उपमा मधुकर राज से, जिसके बाहर जाने पर समस्त मधु-मक्षिकायें उसके साथ जाती हैं। लौटने पर समस्त मक्षिकायें उसके साथ ही लौट आती हैं। तीसरे प्रश्नोपनिषद् में प्राण की सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में इन्द्रियों द्वारा उपासना की गई है,जहाँ उसे केवल इन्द्रियों का सम्राट ही नहीं, वरन् उसे विश्व के देवताओं का भी सम्राट माना गया है। इस प्रकार प्राण की अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, वायु, सत् और असत् से तद्रूपता हो जाती है और छान्दोग्योपनिषद् की प्रार्थना के समान ही यहाँ भी प्राण से शरीर त्याग न करने की विनय की गई है, क्योंकि प्राण ही वाणी, श्रवण, नयन, मन आदि का अधिष्ठान तथा व्यापक तत्व है (मूल० १३-ख)।

१२. प्राण-एक प्राणि-शास्त्र-मूलक मनोवैज्ञानिक परतत्व-कल्पना

कौषीतकी उपनिषद् के प्राण निरुपण के कुछ अंश, जो छान्दोग्योपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् में नहीं पाये जाते, विचारणीय हैं। प्रथमतः कौषीतकी उपनिषद् प्राण को स्पष्ट रूप से 'आयु' से एक रूप कर देती है। यह यही कहने के समान है कि प्राण पर्यन्त ही जीवन है और प्राण के शरीर त्याग के साथ ही जीवन का अवसान है। पुनः प्राण को प्रज्ञा से एक रूप बतलाया गया है। यह जानना मनोरंजक है कि प्रज्ञा को यहाँ मानवीय सत्ता का श्रेष्ठ तत्व माना गया है। प्रज्ञाविहीन जीवन के भी स्वरूप हो सकते हैं, किन्तु जहाँ प्रज्ञा है वहाँ जीवन अवश्य होना चाहिये। कौषीतकी उपनिषद् इस भेद का अनुभव करती है। अतः प्राण को वह केवल जीवन-तत्व नहीं, वरन् प्रज्ञा तत्व मानती है। तीसरे कौषीतकी उपनिषद् अजर, अमर, आत्मा से प्राण का तादात्म्य स्थापित कर देती है, जिसका सत् और असत् कर्मों के कारण वृद्धि तथा क्षय नहीं होता (मूल० १४)। इसका निष्कर्ष यह है कि प्राणि शास्त्र की दृष्टि से प्राण 'आयु' है; मनोविज्ञान की दृष्टि से प्राण 'प्रज्ञा' है और पर-तत्व-शास्त्र की दृष्टि से प्राण 'आत्मा' है। यह प्राण का दार्शनिक दिव्य-आदर्श-निरुपण है।

१३. ब्रह्मा और पौराणिक तथा दार्शनिक द्वन्द्व-सृष्टि

अब हम सृष्टि-विधान के पौरुषेय कल्पना-मूलक सिद्धान्तों पर आजाते हैं। अब तक हमने उन सिद्धान्तों की समीक्षा की है जो अग्नि वायु, जल, पृथ्वी और आकाश इन पंच महाभूतों में से एक अथवा सबको; अथवा असत् महा-निशा, क्षुधा, मृत्यु; अथवा सत् जैसी परतत्व मूलक सूक्ष्म-कल्पनाओं अथवा प्राण की प्राणि-शास्त्र-मूलक मनोवैज्ञानिक परतत्व कल्पना को वस्तु जगत् का मूलाधार मानते हैं। यह जान लेना आवश्यक है कि सृष्टि विधान के इन सिद्धान्तों में सृष्टि-रचना के लिये किसी पौरुषेय विधाता के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं समझी गई है। इसमें सृष्टि के उद्‌भव और विकास का दृष्टि-कोण प्रायः नैसर्गिक है। इसके विपरीत इन सिद्धान्तों में, जिनकी हम अभी समीक्षा करेंगे, हमें सृष्टि-विधान के पौरुषेय तत्व का भी ध्यान रखना होगा। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद का कथन है कि सृष्टि के आदि में विधाता को सृष्टि-विधान की इच्छा हुई; इसी उद्देश्य से उसने तप किया और तप के उपरान्त, उन्हीं से सृष्टि-विधान करने के अभिप्राय से जड़ और चेतन तत्वों के सांगतिक रयि और प्राण नामक एक यमल की सृष्टि की। रयि और प्राण के रूप में,जो अरिस्टोटिल (Aristotle) के जड़ (Matter) और चेतन (Form) की कल्पना के प्रायः पूर्व-रूप हैं, मूल सत्ता के द्वन्द्व की कल्पना का श्रेय पिप्पलाद को ही देना चाहिये। पिप्पलाद की इस द्वन्द्व कल्पना का प्रयोजन बड़ा मनोरंजक है। आपका कथन है कि चन्द्रमा रयि है और सूर्य प्राण; पितृयान रयि है और देवयान प्राण; मास का कृष्णपक्ष रयि है और शुक्ल-पक्ष प्राण; निशा रयि है और दिवस प्राण। इसी प्रकार विधाता ने जगत् की मिथुन-सत्ता की सृष्टि की (मूल० १५–क)। इसी भाव को लेकर तैत्तिरीय उपनिषद् हमें वतलाती है कि सृष्टि के आदि में विधाता ने तप किया, और तप के उपरान्त समस्त वस्तु-जगत की रचना की, जिसकी आज सत्ता है। उसकी रचना करके स्वयं उसमें प्रवेश किया; प्रवेश के उपरान्त उसने स्वयं व्यक्त और अव्यक्त, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत रूप धारण किये (मूल० १५–ख)। यद्यपि एक विधाता की सत्ता स्वीकार करने तक, जिसने सृष्टि के आदि में तप किया, तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रश्नोपनिषद् से सहमति है, किन्तु प्रश्नोपनिषद् से इसका इतना मतभेद है कि प्रश्नोपनिषद् के कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष, पितृयान और देवयान, निशा और दिवस, चन्द्रमा और सूर्य आदि की पौराणिक मिथुन-कल्पना के स्थान पर यह व्यक्त और अव्यक्त, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान,

सत्य और अनृत आदि की दार्शनिक मिथुन-कल्पना का निरुपण करती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि दोनों ही अवतरणों में, जिन पर हमने विचार किया है, विधाता की कल्पना को स्थान दिया गया है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ये अवतरण तर्क-संगति की दृष्टि से सृष्टि-विधान का पूर्व की अपौरुषेय कल्पनाओं से अधिक विकसित रूप हमारे सामने रखते हैं।

१४. आत्मा और मिथुन-सृष्टि

बृहदारण्यकोपनिषद् में हम स्त्री और पुरुष की मिथुन-सत्ता के रूप में, सृष्टि-सत्ता की द्वन्द्वात्मक कल्पना की एक और व्याख्या देखते हैं, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि सृष्टि के आदि में केवल आत्मा की ही सत्ता थी। उस समय उसका स्वरूप 'पुरुष' था। उसने प्रथम अपने आपसे कहा कि 'मैं पुरुष हूँ'। इसी कारण उसकी 'अहम्' संज्ञा हुई। यही कारण है कि जब मनुष्य से यह पूछा जाता है कि वह कौन है तो वह पहले 'मैं' ('अहम्') कहने के उपरान्त ही अपना नाम बतलाता है। यह आत्मा भयभीत हुई। यही कारण है कि एकान्त में एकाकी मनुष्य को भय लगता है। तब आत्मा ने चिन्तन 'यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है तो मुझे क्यों भय करना चाहिये और किसका।' इस प्रकार आत्मा का भय दूर हुआ। यह कहा गया है कि भय का उद्भव द्वित्व की भावना से होता है। किन्तु आत्मा को इतने पर भी सन्तोष न हुआ। यही कारण है कि मनुष्य को एकाकी जीवन से सन्तोष नहीं होता। अतः आत्मा को एक दूसरी सत्ता की कामना हुई और उसने अपने को दो भागों में विभाजित करके स्वयं पति और पत्नी के स्वरूप में परिणत हो गई। पत्नी ने चिन्ता की कि 'अपने से ही मेरी सृष्टि करके आत्मा-पुरुष मेरे साथ सम्भोग करना चाहता है!' अतः उसने अपने को छिपाने की इच्छा की और वह गाय बन गई। इस आत्मा-पुरुष ने वृषभ का रूप धारण कर उसके साथ सम्भोग किया। वह अश्विनी बन गई, तो आत्मा-पुरुष ने अश्व का रूप धारण कर उसके साथ सम्भोग किया। वह गर्दभी बन गई तो आत्मा-पुरुष ने गर्दभ का रूप धारण कर उसके साथ सम्भोग किया। इस प्रकार आत्मा ने आपिपीलिका समस्त मिथुन प्राणियों की सृष्टि की ये सब उसी से उत्पन्न हैं (मूल० १६)। यह ध्यान रखना चाहिये, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि यह अवतरण हमें चेतन सृष्टि में ही आत्मा द्वारा मिथुन सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या प्रदान करता है, किन्तु जड़-सृष्टि की व्याख्या पूर्ण रूप से इसकी परिधि के बाहर रह जाती है।

१५. विराट पुरुष के सहयोग से आत्मा द्वारा सृष्टि-विधान

ऐतरेयोपनिषद् में पदार्थ-जगत् की उत्पत्ति की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है, जिसे हम उपनिषदों में सृष्टि-विवान का सबसे अधिक परिपूर्ण विवेचन कह सकते हैं। वहाँ हमें बतलाया गया है कि आदि में आत्मा ही एकान्त सत्ता थी। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई सचेतन सत्ता नहीं थी। आत्मा ने सृष्टि-सृजन की इच्छा की। इस पर उसने स्वर्गोपरि अम्भोलोक, दिव्य तेजस् पूर्ण स्वर्ग-लोक, मृत्यु-लोक और जलमय पाताल लोक, इन चार लोकों की सृष्टि की। इस प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी ऊपर और नीचे दोनों ओर से जलमय प्रदेश से परिवेष्टित है। इन लोकों की सृष्टि के उपरान्त आत्मा ने प्रथम मूल-तत्व आत्मा और आत्मा तथा विधेय विश्व के अन्तर्माध्यमिक विराट पुरुष की रचना आरम्भ की, जिसका निर्माण उसने जल से किया और उसके नासिका-पुटों में प्राण-वायु संचारित कर दी। साथ ही यह ध्यान रखना मानोरंजक है कि उपनिषदीय सृष्टि-विवान में यह विराट पुरुष की कल्पना ग्रीक तथा क्रिश्चियन 'लॉगॉस' (Logos) का सांगतिक एक रूपक मात्र है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषदीय दर्शन में इस लॉगॉस (Logos) अथवा विराट पुरुष का स्थान आत्मा के सामने गौण तथा सहकारी है। अस्तु, आत्मा ने इस विराट पुरुष का चिंतन किया और इस चिंतन के परिणाम-स्वरूप प्रथम इन्द्रियों की रचना की, तदनन्तर इन्द्रियों के विहित व्यापारों और उनके सांगतिक अधिष्ठाता देवता अथवा लोकपालों की सृष्टि की। "उसने प्रथम वदन-रचना की जिससे प्रकट हुई वाणी। वाणी से ही प्रकट हुई फिर अग्नि अमर चिर-कल्याणी। उसने रचे नासिका-सम्पुट जिनसे प्रकट हुआ निश्वास। उस निश्वास प्रक्रिया से ही प्रकट हुई जीवन-वातास। उसने उभय नयन-रचना की जिनसे दृष्टि-विधान हुआ। और दृष्टि की दिव्य-ज्योति से प्रकट सूर्य छविमान हुआ। उसने रचें श्रवण दो जिनसे श्रवण-शक्ति उद्भूत हुई और श्रवण की पुण्य शक्ति से प्रकट दिशायें पूत हुईं।

"उसने मसृण चर्म रचना की जिससे कोमल केश हुये।
और केश से वृक्ष वनस्पति भूतल पर वर-वेश हुये।।
उसने भव्य हृदय रचना की जिससे मनो-विधान हुआ।
मन से ही फिर प्रकट व्योम का, शीतरश्मि रुचिमान हुआ।।
उसने मूल नाभि रचना की जिससे उदित अपान हुआ।
और अपान वायु से ही यह घातक मरण विधान हुआ।।

उसने रचा उपस्थ अन्त में जिससे शुक्र-प्रसार हुआ।
और शुक्र से ही भूतल पर जल का यह विस्तार हुआ ॥"

सृष्टि की सत्ता के विविध उपादानों की इस व्याख्या में यह ध्यान रखना मनोरंजक है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-व्यापार अन्तर्माध्यमिक विराट पुरुष की व्यष्टि-प्रकृति का अनुशीलन करते हैं। अपनी उत्पत्ति के उपरान्त अग्नि, वायु, सूर्य, दिशा आदि व्यष्टि-सृष्टि के बाह्य उपादानों के कारण-भूत वाणी, श्वास, दृष्टि, श्रवण आदि व्यापारों की सृष्टि के पूर्व ही पुरुष की मुख, नासिका-पुट, नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियों का विधान हो चुका था। इसके बाद आत्मा ने क्षुधा और तृषा के साथ, जो हमें ऐतरेयोपनिषद् में एम्पीडोक्लियन (Empedoclean) सृष्टि-विधान के प्रेम और घृणा का स्मरण दिलाती हैं, पुरुष पर आक्रमण किया। क्षुधा और तृषा ने आत्मा से अपने लिये सृष्टि में स्थान देने का निवेदन किया। आत्मा ने उत्तर दिया कि वह इनके लिये स्वयं देवताओं में स्थान करेगी और इस प्रकार उसने उन्हें देवताओं का सहयोगी बना दिया। यही कारण है कि जहाँ कहीं देवताओं को आहुति दी जाती है, क्षुधा और तृषा का अंश उन्हें प्रदान किया जाता है। (इस रूप में लोक, विराट पुरुष, लोकपाल, क्षुधा और तृषा की सृष्टिकर आत्मा ने उन सब के लिये अन्न रूप पदार्थ की रचना की। इसके उपरान्त अन्त में आत्मा ने मानव-शरीर में प्राण की सृष्टि की। उसने विचार किया कि 'यह शरीर मेरे बिना कैसे जीवित रहेगा ? किन्तु मैं इसमें कैसे प्रवेश कर सकती हूँ ?' यह विचार कर उसने सीमन्त को खोला और उसके द्वार से शरीर में प्रविष्ट होगई। इसे 'विभाजन-द्वार' अथवा 'आनन्द-स्थान' कहते हैं। यह वही स्थान है जहाँ से स्त्रियाँ अपनी माँग काढ़ती हैं। यही वही स्थान है जहाँ बच्चों के मस्तक में छिद्र होता है। यह वही स्थान है जहाँ,जब संन्यासी की मृत्यु होती है तो उसके प्रतिबद्ध जीव की मुक्ति के लिये एक नारियल टूटता है। अस्तु, अपने विषय की ओर, जब आत्मा ने उस 'सीमन्तद्वार' से होकर शरीर में प्रवेश किया और इस प्रकार व्यक्तिगत जीव के (जीवात्मा) के स्वरूप में उत्पन्न हुई; जैसा कि ऐतरेयोपनिषद् का कथन है, उसे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति चेतना की इन तीन अवस्थाओं का अनुभव होने लगा। उद्‌भव के उपरान्त जीवात्मा अपने चारों ओर प्रत्येक पदार्थ को देखने लगी कि क्या वे अपने से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की सत्ता सूचित करते हैं, किन्तु उसने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि एक ब्रह्म ही सर्वत्र है। यही कारण है कि जीव ने ब्रह्म (इदम्) को सर्वत्र व्याप्त देखा (द्र), जिसे इदन्द्र कहते हैं, जो संक्षिप्त होकर इन्द्र कहलाने लगा। यह बड़ा

रहस्यात्मक नाम है जो रहस्य-प्रिय देवताओं ने देवाधिपति को दे रक्खा है (मूल० १७)। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार जीव आत्मा की अन्तिम सृष्टि है और किस प्रकार अन्तिम जीव और ब्रह्म में परतत्व-मूलक तादात्म्य है।

१६. आत्मा और सम्भूतिवाद

यहाँ तक हमें मूल 'आत्मन्' से वस्तु-जगत की सृष्टि की वहुत कुछ पौराणिक व्याख्या मिलती है। हम इस अध्याय के आरम्भ में कह चुके हैं कि उपनिषदों में ऐसे स्थल वहुत कम हैं जो सृष्टि-विवान के परिपूर्ण सिद्धान्तों की सीमा तक पहुँच सकते हैं। किन्तु इन स्थलों से हाथ लगाने के पूर्व हमें तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्भूति-सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन कर देना चाहिये, जिसमें हमें यह वतलाया गया है कि "आत्मा से प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई (मूल०–१८)।" यह पंच महाभूतों की परिपूर्ण गणना है, जो क्रमशः मूल आत्मा से उत्पन्न कहे गये हैं, जिसका, उक्त अवतरण के अनुकूल सृष्टि-विधान में कोई क्रियात्मक स्थान नहीं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उस अवतरण में सृजन की प्रक्रिया को सम्भूति संज्ञा प्रदान की गई हैं। आत्मा से आकाश की सम्भूति हुई, और आकाश से क्रमिक उत्पत्ति और विकास की प्रक्रिया द्वारा शेष सव महाभूतों का उद्भव हुआ। हमें वतलाया गया है कि आत्मा ने आकाश की 'रचना' की; आकाश से वायु की सृष्टि हुई; आगे शेष इसी प्रकार। इस अवतरण में विश्व-सृजन और विश्व-निलय का क्रम महत्वपूर्ण है। विश्व के आदि काल में आत्मा से आकाश का उद्भव हुआ; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का उद्भव हुआ यह अधोमार्ग है। प्रलय के समय, प्रति-तर्क पद्धति के अनुकूल पृथ्वी का जल में निलय हो जाता है, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, और आकाश का शाश्वत आत्मा में निलय हो जाता है। यह ऊर्ध्व मार्ग है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि तैत्तिरीय उपनिषद् का यह अवतरण, जिसकी हम समीक्षा कर रहे हैं, कई दृष्टियों से हमारे लिये वहुत महत्वपूर्ण है। प्रथमतः, इसमें समस्त उपनिषदीय वाङ्मय के प्रदेश में पंच-महाभूतों की स्पष्ट और परिपूर्ण गणना प्रथम वार की गई है। 'दूसरे' इसमें हैराक्लाइटस (heracleitus) की कल्पना की सांगतिक अधोमार्ग और उर्ध्वमार्ग की कल्पना का समावेश है। तीसरे, इसमें सृष्टि-विधान के विपरीत सृष्टि-सम्भूति के सिद्धान्त का निदर्शन है। अन्त में, इसकी विवेचन-शैली वस्तु-

वाद-मूलक है, जो उपनिषदीय दर्शन के अद्वैतवादी भाष्यकारों के लिये आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु को माया सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, सदा एक पहेली बनी रही।

१७. मुण्डकोपनिषद् का पौरुषेयवाद

सृष्टि के उद्‌भव के पौरुषेयापौरुषेय सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा मुण्डकोपनिषद् सृष्टि-विधान के उक्त सम्भूति-वाद तथा श्वेताश्वरोपनिषद् के सेश्वरवाद के मध्यवर्ती अन्तराल को भर कर दोनों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देती है। मुण्डकोपनिषद् का मत है कि "सृष्टि के आदि में एक दिव्य अमूर्त पुरुष वर्तमान था, जो अज, अ-प्राण, अ-मन, शुभ्र तथा अक्षर था। उससे ही प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल, और विश्वधारिणी पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उसी से बहुविध देवता, देवदूत, मनुष्य, पशु, पक्षियों की सृष्टि हुई। उसी से शाल्य और यव, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, और धर्म की उत्पत्ति हुई। वही समस्त समुद्रों, पर्वतों, इधर-उधर बहने वाली नदियों, वनस्पति और वृक्षों तथा उन सब में संचरित रस, जिसके द्वारा अन्तरात्मा उन सबका पोषण करती है, का मूल स्रोत है (मूल०-१९)। इस प्रकार समस्त लौकिक तथा पारलौकिक (स्वर्गीय) सत्तायें, समस्त जड़ और चेतन प्रकृति, समस्त नैतिक और मानसिक गुण आदिपुरुष से उत्पन्न हुये, जो फिर भी अमूर्त और अक्षर से परे कहा गया है। आदिपुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति का यह वर्णन भी पौराणिकता की छाया से पूर्णतः मुक्त नहीं। किन्तु यह यावत्समीक्षित सिद्धान्तों से कहीं उत्कृष्ट कोटि का है; और वास्तविक सेश्वरवाद के निकट है, जो समस्त सत्ताओं की उत्पत्ति आदि पुरुष से मानता है। वास्तविक सेश्वरवाद के रंग का इसमें फिर भी अभाव है, क्योंकि मुण्डकोपनिषद् का वह अवतरण जिसका हम विवेचन कर रहे हैं, पौरुषेय को अपौरुषेय बतलाता है, और वास्तविक सृष्टि के स्थान पर सम्भूति (स्यन्दन्ते) और उत्पादन (जायते) का निदर्शन करता है।

१८. श्वेताश्वतरोपनिषद् का सेश्वर सृष्टि-विधान सिद्धान्त

परब्रह्म की यह परिपूर्ण पौरुषेय कल्पना श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाई जाती है। यह ठीक है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् शैव सिद्धान्त के पक्ष में लिखी गई थी; किन्तु यदि हम इन संकुचित समाजिक भावनाओं को अपनी विचार-परिधि से बाहर निकाल कर, श्वेताश्वतरोपनिषद् के शिव का परब्रह्म से तादात्मय स्थापित

करदें, जैसा कि वस्तुत: उक्त उपनिषद् में कई स्थानों पर किया गया है, तो हम देखेंगे कि किस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् सृष्टि की उत्पत्ति के यावत् सिद्धान्तों की विधायक समालोचना करते हुये परब्रह्म द्वारा सृष्टि के विधान का दार्शनिक निरुपण करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक अवतरण (प्रथम—२) सृष्टि-विधान के तत्कालीन विविध सिद्धान्तों की एक प्रामाणिक गणना-सारणी हमारे सामने रखती है। उक्त उपनिषद् का कथन है कि "कुछ लोग कहते हैं कि काल, कुछ कहते हैं कि स्वभाव, कुछ कहते हैं कि निर्याति, कुछ कहते हैं कि यहच्छा, कुछ कहते हैं कि पंचमहाभूत, कुछ कहते हैं कि पुरुष, कुछ कहते हैं कि इनका सम्मिश्रण, कुछ कहते हैं कि आत्मा समस्त पदार्थ-जगत का मूल-कारण है (मूल० २०—क)। अपने अध्यायों के प्रगति पथ में श्वेताश्वतरोपनिषद् इन सभी सिद्धान्तों की समालोचना करती है और सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या के लिये शैव सिद्धान्त का विधायक रूप से प्रतिपादन करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का मत है कि हम काल को सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं मान सकते, क्योंकि क्या ईश्वर काल का भी काल अथवा, जैसा कि अन्य उपनिषद् का वचन है, मृत्यु देवता का भी मरण नहीं है ? (मूल० २०—ख)। श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि हम स्वभाव से भी सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि क्या ईश्वर ही अन्तर्वर्तिनी सत्ता द्वारा स्वभाव का परिपोषण नहीं होता ? (मूल० २०—ग)। और न हम नियति अथवा यहच्छा को ही समस्त पदार्थों का मूल-कारण कह सकते हैं। ये सब सृष्टि-विधान की व्याख्या के अतिशय दैववादी अथवा अत्यन्त अदार्शनिक स्वरूप हैं। पंचमहाभूत पदार्थ-जगत के मूल आधार-भूत तत्व नहीं माने जा सकते, क्योंकि पंचमहाभूत ईश्वर के आवरण मात्र हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश उसी की परम कला की सृष्टि हैं (मूल० २०—घ)। और न हम यह कह सकते हैं कि इन सब महाभूतों का समवाय वस्तु-जगत का मूल आधार-तत्व है, क्योंकि इनके समवाय के लिये एक शाश्वत सत्ता की आवश्यकता है जो इनके समवाद का मूल कारण हो (मूल० २०—ङ)। अन्त में, न हम यह कह सकते हैं कि सांख्य का पुरुष, जो सृष्टि-विधान से उसका उत्तरदायी समझे जाने के लिये अत्यन्त मुक्त है; अथवा वेदान्तियों की आत्मा, जो यदि हम उस पर विचार करें कि वह सुख-दु:ख दोनों का कारण है, वस्तुत: एक अशक्त सत्ता है, सृष्टि की उत्पत्ति के उत्तर-दायी समझे जा सकते हैं। केवल रुद्र, जो अपनी शक्तियों से विश्व पर शासन करता है, जो संहार के समय प्रत्येक वस्तु के सम्मुख स्थित होता है और आदि-काल में सृष्टि की उत्पत्ति करता है, समस्त सत्तावान् पदार्थों का विधाता कहा

जा सकता है। वह पर ब्रह्म है; उसी की शक्ति की प्रेरणा से यह ब्रह्माण्ड चक्र चतुर्दिक घूमता है (मूल० २०-च)। वह परम कारण तथा जीवों का स्वामी है; उसका न कोई उत्पादक है, न पालक; वह जड़ बहुरूपता का आत्मसंस्थित संचालक है और एक ही मूल बीज को अनन्त रूपों में अंकुरित करता है (मूल० २०-छ)। इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् सृष्टि-विधान के वस्तुतः दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है, जिसमें समस्त शक्ति का आदि कारण सर्व शक्तिमान परब्रह्म है, जो समस्त विश्व को अपनी अंगुली पर नचाता है।

१६. ग्रीक तथा भारतीय दर्शन का विचार-साम्य

ऊपर सृष्टि-विधान के अपौरुषेय तथा पौरुषेय सिद्धान्तों की समीक्षा करते समय हमने यथास्थान सृष्टि के उद्भव और विकास सम्बन्धी उपनिषदीय तथ ग्रीक सिद्धान्तों के साम्य की ओर संकेत किया है, किन्तु वहाँ उस विचार-साम्य की ओर संकेत भर किया गया है उसकी व्याख्या नहीं की गई। ग्रीक तथा भारतीय सृष्टि-विधान-सिद्धान्त के, और साधारणतः ग्रीक तथा भारतीय दर्शन के; पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न बड़ा मनोरंजक है; अतः उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ अप्रासंगिक न होगा। ग्रीक तथा भारतीय दर्शक के सम्बन्ध का प्रश्न, ग्रीक तथा भारतीय संस्कृतियों के सम्बन्ध के महान् प्रश्न का एक अंग मात्र है। दोनों संस्कृतियों के भिन्न-भिन्न विभाग-विश्लेषण में हम कह सकते हैं कि दोनों के विलक्षण साम्य की व्याख्या के लिये तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं। (१) ग्रीस के भारत को अथवा भारत के ग्रीस को आदान का सिद्धान्त केवल अलैक्जेण्डर के बाद ही ऐतिहासिक आधार प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार अलैक्जेण्डर के आक्रमण के बाद ग्रीस भारतीय शिल्प-कला तथा मुद्रा-शास्त्र पर कुछ प्रभाव छोड़ गया, उसी प्रकार भारत ने अलैक्जेण्ड्रिया के प्लेटो के अनुयायियों पर एक गहरी छाप छोड़ी, जैसा कि प्लेटो के परवर्ती अनुयायियों के परिपूर्ण योग-परक भावोद्वेगों से तथा सांख्य-दर्शन के सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों के परिग्रहण से ज्ञात होता है। किन्तु इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अलैक्जेण्डर (Alexander) के आक्रमण के पूर्व दोनों संस्कृतियों में क्या सम्बन्ध था। ग्रीक दार्शनिकों का जीवन-वृत्त-लेखक डायोजिनीज (Diogenes) तथा प्लेटो के परवर्ती अनुयायी जेम्ब्लीकस (Jamblichus) ने प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों की ब्राह्मणों से भेंट की कथायें कही हैं।

ब्राह्मणों से भेंट करने वाले प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों में थेलीज (Thales) तथा पाईथेगोरस (Pythagoras) हैं। किन्तु इस सिद्धान्त के लिये अभी ऐतिहासिक प्रमाण अपेक्षित हैं। प्लेटो की कृतियों में एक भी भारतीय दार्शनिक के नाम का उल्लेख न होना इस सिद्धान्त के सत्य के प्रति सन्देह उपस्थित करता है। (२) अतः तुलनात्मक पौराणिक शास्त्र तथा तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के वहुत से साम्यों की व्याख्या के लिये एक दूसरे एक ही उद्गम के सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरण के लिये अण्डाकार विश्व-पुरुष और उसके दोनों पक्ष पृथ्वी और आकाश से तेजःपुंज देवता फेनीज (Phanes) के उद्भव की कथा; मूल 'आत्मन्' का स्त्री पुरुष दो विभागों में द्विधाकरण, जिसका साम्य हिब्रू साहित्य में भी मिलता है; तथा कठोपनिषद् के अश्वत्थ और स्केन्डिनेवियन पुराण-शास्त्र के इग्द्रज़ील (Igdrasil) की कल्पना, सवका मूल उस युग में खोजा जा सकता है जब कि यूरोपीय तथा भारतीय आर्य साथ-साथ रहते थे। यही बात तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के विषय में भी कही जा सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने अपने "ग्रीक और संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन" विषयक लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि दोनों भाषाओं के समस्त व्याकरण व्यवस्था के साम्य की व्याख्या का दोनों जातियों के निरन्तर सहवास के सिद्धान्त के अतिरिक्त तथा इस प्रकार एक दूसरी ही रीति से दोनों संस्कृतियों के कुछ विभागों के सामान्य उद्गम के सिद्धान्त के प्रतिपादन के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं है। (३) अन्त में, स्वतन्त्र साम्य का सिद्धान्त है,जो दार्शनिक भावनाओं के साम्य की व्याख्या के लिये बड़े महत्व का है। हम अभी देख चुके हैं कि किस प्रकार दोनों दर्शनों की मूल-तत्व की परिभाषा एक ही है; किस प्रकार हीसियड (Hesiod) के ग्रन्थ के आरम्भ का प्रश्न श्वेताश्वतरोपनिषद् के आरम्भ के प्रश्न से पूर्णतः संगति रखता है; किस प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् की जल के मूल-तत्व होने की कल्पना का प्रतिरूप थेलीज के सिद्धान्त में है; किस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के वायु के परम निलय के अधिष्ठान की कल्पना का साम्य अनेक-जैमिनी (Anaximenes) के सिद्धान्त से है; किस प्रकार हैराक्लाइटस (Heraclaitus) के अग्नि के सर्व-परिणति-सिद्धान्त को हम कठोपनिषद् में उसी रूप में पाते हैं; किस प्रकार मुण्डकोपनिषद् की पृथ्वी के सृष्टि विधान के आधार होने की कल्पना की प्रतिध्वनि हमें हीसियड में मिलती है, किस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के पंच-महाभूत होने की कल्पना के समानान्तर कल्पना हमें फिलोलोज़ (Philolaos) के सिद्धान्त में मिलती है; किस प्रकार तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदों की असत् और सत् की कल्पना

गोर्जियस और पार्मेमिडीज़ के सिद्धान्तों में अपना समानान्तर रखती हैं; किस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के अधोमार्ग और ऊर्ध्वमार्ग की आवृत्ति हैराक्लाइटस के सिद्धान्त में हुई है; किस प्रकार अन्त में छान्दोग्योपनिषद् के त्रिवृत्करण सिद्धान्त का साम्य-भाव अनैक्जागोरस (Anaxagoras) के 'प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का कुछ अंश है', इस सिद्धान्त में मिलता है। यहाँ तक तो सृष्टि-विधान सम्बन्धी साम्यों का निरुपण है। दोनों दर्शनों के सृष्टि-विधानेतर साम्य भी कम मनोरंजक नहीं। पाइथैगोरस की पुनर्जन्म की कल्पना और ऋग्वेद तक पाया जाने वाला इसका भारतीय समानान्तर सिद्धान्त, सारथी और रथ की फैड्रसीय कथा (Phaedrus) और कठोपनिषद् में बिलकुल उसी के समान एक कथा; प्लेटो के अव्यक्त भाव-जगत के सूर्य के रूप में 'शिवम्' का निरुपण और उसी के अनुरूप कठोपनिषद् में विश्व के नयन तथा दोष-मुक्त सूर्य के रूप में आत्मा का निरुपण; प्लेटो का 'ताँ माँयाँ' जो स्वरशास्त्र तथा भाषा-शास्त्र तथा दर्शन की भी दृष्टि से वेदान्त की माया के अनुरूप है; प्लेटो में अव्यक्त आदि रूप की सर्वव्यापकता के पार्मेनिडीज़ की समालोचना, जो शंकर कृत नैयायिकों के 'सामान्य-रूप' की आलोचना से अक्षरशः साम्य रखती है; ऋग्वेद की 'वाक्' का हैराक्लाइटस, स्टोइक्स तथा साधारणतः ग्रीक दर्शन की 'लॉगॉस' (Logos) की कल्पना से साम्य–ये सब ग्रीक तथा भारतीय विचार साम्यों के कम मनोरंजक उदाहरण नहीं कहलायेंगे। हम इन सृष्टि विधान सम्बन्धी तथा सृष्टि विधानेतर विचार-साम्यों की व्याख्या किस प्रकार करेंगे ? निस्सन्देह प्रति ग्रहण के सिद्धान्त द्वारा नहीं, क्योंकि यह अभी ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सका है। और न सामान्य उद्गम के सिद्धान्त द्वारा, क्योंकि साम्य होते हुये भी दोनों देशों के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरुपण एकान्त मौलिक है; पाइथैगोरस का 'अंकों का सिद्धान्त' तथा प्लेटो का 'सूक्ष्म चरम रूप' का सिद्धान्त उसी सीमा तक मौलिक ग्रीक कल्पनायें हैं, जिस सीमा तक उपनिषदीय 'तुरीय' तथा मीमांसा के 'स्फोट' की कल्पना भारतीय विचार-सृष्टि का मौलिक अंश है। हमें स्वतन्त्र विचार-साम्य के सिद्धान्त की सहायता लेनी होगी, जहाँ किसी प्रति ग्रहण अथवा सामान्य उद्गम का ऐति–हासिक प्रमाण नहीं मिल सकता। गीता की ईश्वर के भारतीय वर्णमाला के 'अकार' होने की कल्पना तथा ईश्वर के 'आल्फ़ा' और 'ओमेगा' होने की कल्पना; तथा मार्ग की बाधाओं के कारण और भी वेग के साथ वहने वाली प्रेम-नदी की कालिदासीय कल्पना की "टू जेन्टिलमैन" (Two Gentle-man) के शेक्सपियरीय प्रेम-वर्णन में मिलने वाली प्रतिध्वनि, इसके उदा–

हरण हैं कि किस प्रकार काव्य तथा दर्शन के क्षेत्र में कल्पना अज्ञात रूप से समानान्तर चलती है। प्रतिभा को, चाहे वह कहीं भी हो, एक ही लक्ष्य की ओर उड़ने से कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। एडम्स (Adams) और लेवरियर (Leverrier) ने बृहस्पति के नक्षत्र को एक साथ देखा, डार्विन (Darwin) और वालेस (Wallace) नैसर्गिक चयन (Natural (Selection) के सिद्धान्त की खोज एक साथ कर सके। स्कॉट (Scott) और एमण्डसन (Amundsen) उत्तरी ध्रुव पर एक साथ पहुँच सके। फिर दार्शनिकों को एक ही सिद्धान्त पर पहुँचने से कौनसी शक्ति रोक सकती है, चाहे उनके समय और स्थान कितने ही भिन्न क्यों न हों?

३

मनोविज्ञान

१. आधिभौतिक, विकृत तथा आध्यात्मिक मनोविज्ञान

यदि हम उपनिषदकारों के समय पर विचार करें तो हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनको कितने अधिक दार्शनिक चिन्तन का श्रेय है। उपनिषद्-कार सम्भवतः प्राचीनतम दार्शनिक तथा विशेषतः मनोवैज्ञानिक चिन्तक हैं। उनका मनोवैज्ञानिक विचार-क्षेत्र आधिभौतिक, विकृत और आध्यात्मिक तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि उनका आधिभौतिक मनोविज्ञान विकृत मनोविज्ञान की अपेक्षा तथा विकृत मनोविज्ञान आध्यात्मिक मनोविज्ञान की अपेक्षा कम विकसित हुआ था, फिर भी उनके मनोवैज्ञानिक चिन्तन का मूल्य निर्धारित करने के पूर्व हमें सभी विचार क्षेत्रों पर ध्यान देना होगा।

अ—आधिभौतिक मनोविज्ञान

२. मन और पाचनक्रिया

हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि आधिभौतिक मनोविज्ञान हाल की ही चीज़ है। अतः हमें उपनिषदीय युग में पूर्व-रूप से विकसित आधिभौतिक मनोविज्ञान की आशा नहीं करनी चाहिये। इसके विपरीत हमें विविध उपनिषदों से इस विषय में जो कुछ सूचना प्राप्त होती है उसी से सन्तोष करना होगा। उपनिषदकारों का विश्वास था कि मनुष्य के मन की प्रकृति उसकी पाचन-क्रिया पर निर्भर होती है। मन भोजन से ही विनिर्मित समझा जाता था (मूल० १—क)। एक अवतरण हमें यह बतलाता है कि "हम जो भोजन करते हैं वह तीन रूपों में परिणत हो जाता है। उसका गरिष्ठतम भाग पुरीष बन

जाता है, मध्यम भाग मांस वन जाता है, और सूक्ष्मतम अंश से मन का निर्माण होता है" (मूल० १–ख)। "जिस प्रकार दधि-मन्थन में सूक्ष्मतम अंश ऊपर उठ आता है और नवनीत वन जाता है, उसी प्रकार भोजन का सूक्ष्मतम अंश ऊपर उठ कर मन में परिणत हो जाता है" (मूल० १–ग)। उपनिषदों के वाद भगवद्गीता के समय में भी हम देखते हैं कि तीन भिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियाँ—सात्विकी, राजसी और तामसी–भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन का ही परिणाम समझी जाती थीं (अध्याय १७; श्लोक–८–१०)। जव एक वार यह विश्वास स्थिर कर लिया गया कि भोजन के गुण ही मानसिक गुणों का आधार हैं, तो फिर नैतिक कल्याण की दृष्टि से भोजन के सम्वन्ध में किसी प्रकार के रेचन का समर्थन स्वाभाविक था। एक अवतरण का कथन है कि "यदि भोजन पवित्र है तो समस्त वृत्तियाँ पवित्र हो जाती हैं। जव वृत्तियाँ पवित्र होजाती हैं तो धारणा-शक्ति दृढ़ हो जाती है। जव मनुष्य की धारणा-शक्ति दृढ़ होजाती है; तो वह समस्त लौकिक वन्धनों से मुक्त होजाता है। क्योंकि उसने (नारद ने) समस्त अपवित्रताओं का नाशकर दिया था, इसी कारण सनत्कुमार उसे अज्ञानतिमिर के उस पार का मार्ग वता सके" (मूल० २)। अतः हमें भोजन की पवित्रता द्वारा, जिसके अन्तर्गत मन की पवित्रता अभिप्रेत है, अज्ञानान्धकार के उस पार ले जाने वाला पथ खोजना चाहिये।

३. अवधान और श्वासनिरोध

प्राचीन ऋषियों के अनेक सूक्ष्म पर्यवेक्षणों में से एक का सम्वन्ध इस वात से है कि अवधान के समय हम सदा अपनी श्वसन क्रिया को रोक लेते हैं; हम न श्वास लेते हैं, न छोड़ते हैं। जव हम वोलते हैं तो हमारी श्वासोच्छ्वास क्रिया स्तव्ध हो जाती है (मूल० ३–अ)। जव हम कोई ऐसा कार्य करते हैं जिसमें सचेतन प्रयास अपेक्षित होता है, उदाहरण के लिये दो अरनियों के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न करना, दौड़ना, धनुष झुकाना अथवा उस पर प्रत्यंचा चढ़ाना तो हम न श्वास लेते हैं न छोड़ते हैं (मूल० ३–ख)। ऐसे व्यापारों में हमारा अवधान मूल प्रक्रिया पर केन्द्रित हो जाता है और वह श्वसोच्छ्वास जैसे गौण व्यापारों की ओर आकर्षित नहीं किया जा सकता। इसको ही कौषीतकी उपनिषद् में अन्तर्यज्ञ कहा गया है, जो उसके प्रतिपादक प्रतर्दन ऋषि के नाम पर प्रतर्दन यज्ञ कहलाता है। प्रतर्दन का कथन है कि "वोलते समय मनुष्य साँस नहीं ले सकता। अतः इसे वाणी वाणी के प्रति श्वास की आहुति कह सकते हैं। इसके विपरीत साँस लेते समय मनुष्य वोल नहीं सकता, अतः इसे श्वास के प्रति वाणी की आहुति कह सकते हैं।" प्रतर्दन के अनुकूल

"ये दो आहुतियाँ मनुष्य सोते जागते सदा देता रहता है। शेष सभी आहुतियों का अन्त है, क्योंकि वे सब कार्यमयी हैं। यही जानने के कारण प्राचीन ऋषि साधारण आहुतियाँ नहीं देते थे" (मूल० ३–ग)। इस अवतरण में अनवरत यज्ञ की छाया में साधारण यज्ञ न करने की प्रथा की न्याय-संगति के लिये प्रमाण खोजने की चेष्टा की गई है।

४. भय-मीमांसा

इसके साथ ही प्राचीन ऋषियों के एक और सूक्ष्म निरीक्षण का उल्लेख किया जा सकता है। इसका सम्बन्ध भय-मीमांसा से है। भय का भाव हमारे हृदय में तभी उत्पन्न होता है जब कि द्वित्व की भावना हमारे हृदय में स्थान कर लेती है (मूल० ४–क)। मूल 'आत्मन्' को पहले भय हुआ था कि वह अकेला है किन्तु "यह ज्ञात होने पर कि किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है, जिससे भय करना चाहिये, वह निर्भय हो गया। क्योंकि द्वैत की भावना से ही भय का उद्भव होता है" (मूल० ४–ख)। इसी प्रकार उस मनुष्य की समस्त भय की भावनायें दूर हो जाती हैं जो अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है, क्योंकि उसकी आत्मानुभूति में ही यह अभिप्रेत रहता है कि उसकी आत्मा के अतिरिक्त विश्व में और कोई दूसरी सत्ता नहीं जो भय का कारण बन सके।

५. संकल्प की श्रेष्ठता

उपनिषदीय मनोविज्ञान से सम्बद्ध एक और महत्वपूर्ण विषय छान्दोग्योपनिषद् का संकल्प और प्रज्ञा की परस्पर श्रेष्ठता की अधिकार-भावनाओं का निरूपण है। यहाँ हमें संकल्पवाद (Voluntarism) और प्रज्ञावाद (Intellectualism) के भावी विरोध का संकेत मिलता है। इस अवतरण में संकल्प की श्रेष्ठता के पक्ष में ऋषि के सबल विचारों का विशद वर्णन है। "अतः ये सब संकल्प में ही केन्द्रीभूत हैं, संकल्प से ही विनिर्मित हैं, संकल्प पर ही स्थिर हैं, पृथ्वी और स्वर्ग संकल्प मय हैं; वायु और आकाश संकल्प-मय हैं; जल और अग्नि संकल्प-मय हैं। आकाश और पृथ्वी के संकल्प करने पर वृष्टि होती है; वृष्टि के संकल्प से अन्न संकल्प करता है; अन्न के संकल्प से प्राण संकल्प करता है; प्राण के संकल्प से मन्त्र संकल्प करता है; मन्त्र के संकल्प से यज्ञ संकल्प करता है; यज्ञ के संकल्प से विश्व संकल्प करता है और विश्व के संकल्प से प्रत्येक पदार्थ संकल्प करता है। यही संकल्प है। संकल्प की ही

उपासना करो। जो संकल्प को ही ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करता है, वह यावत्संकल्प जगत् का स्वामी है" (मूल० ५)। यह उपनिषदीय ऋषि निस्सन्देह संकल्प की सर्वव्यापिनी शक्ति से स्पष्ट-रूप से आक्रान्त जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य स्थलों के साथ-साथ इस स्थल ने भी उपनिषद्-प्रेमी शौपेन-हावर (Schopenhauer) के दर्शन को बहुत प्रभावित किया होगा, जिसने 'मूल-संकल्प' (Ping–an–Sich) पर इतना जोर दिया है। हम उसके "संकल्प और चिन्मय जगत्" (The world as will and Idea) नामक ग्रन्थ के एक अवतरण की उक्त उपनिषदीय प्रवचन से तुलना कर सकते हैं। "यदि हम उस प्रबल तथा अनवरत प्रेरणा पर विचार करें जिसके साथ जल प्रवाह समुद्र की ओर प्रभावित होता है; चुम्बक सदा उत्तरीध्रुव की ओर अभिमुख रहता है; लौहकण शीघ्रता से चुम्बक की ओर दौड़ते हैं; विद्युत के युगल-स्तम्भ एकता खोजते रहते हैं; और जो मानवीय आकांक्षाओं की भाँति बाधाओं से और बढ़ जाती है। यदि हम स्फटिक-कणों (Crystals) को इतनी शीघ्रता से विस्मय कर व्यवस्थित स्वरूप धारण करते देखें; यदि हम पिण्डों के परस्पर आकर्षण और प्रतिक्षेपण की रुचि का निरीक्षण करें; यदि हम इस सब पर विचार करें तो, मैं कह सकता हूँ कि हमें अपनी प्रकृति को पहचानने के लिये अधिक कल्पना-प्रयास की आवश्यकता न होगी। वह जो हमारे अन्तस् में ज्ञान के प्रकाश में लक्ष्य साधन करता है, किन्तु यहाँ, अपनी दुर्बलतम अभिव्यक्ति में, केवल अन्धता तथा मूकतापूर्वक एकदेशीय तथा अपरिवर्तनशील विधि से प्रयास करता है, दोनों रूपों में संकल्प के अन्तर्गत आना चाहिये।" इस सिद्धान्त के अनुकूल जो इस उपनिषद् तथा शौपेनहावर (Schopenhauer) दोनों में पाया जाता है, समस्त विश्व संकल्प की शक्ति से परिप्रोत प्रतीत होता है और जो मनुष्यों में ध्येय (Motivation) कह-लाता है, वही वनस्पति-जीवन में प्रेरणा (Stimulation) तथा जड़-जगत में यान्त्रिक प्रवृत्ति (Mechanical process) कहलाती है"—ध्येय, प्रेरणा और यान्त्रिक प्रवृत्ति संकल्प की ही भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

६. प्रज्ञा की श्रेष्ठता

संकल्प की श्रेष्ठता के विरुद्ध छन्दोग्योपनिषद्-कार तनिक आगे चल-कर ही प्रज्ञा (चित्त) की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। संकल्प की श्रेष्ठता का प्रतिपादन-विधान-पक्ष है, जिसका वही ऋषि प्रति-विधान पक्ष में प्रज्ञा (चित्त) की श्रेष्ठता के प्रतिपादन द्वारा विरोध करता है। "चित्त संकल्प से श्रेष्ठ है; मनुष्य चिन्तन के बाद ही संकल्प कर सकता है; ये सब चित्त में ही

केन्द्रित है; चित्त से विनिर्मित है; चित्त पर स्थिर है। अतः, यदि कोई मनुष्य चिन्तन नहीं करता तो चाहे वह कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, लोग उसे कुछ नहीं मानते। किन्तु यदि कोई मनुष्य चिन्तनशील है, तो चाहे वह थोड़ा ही ज्ञान रखता हो, तो भी लोग उसे सुनने की इच्छा रखते हैं। चित्त केन्द्र है। चित्त आत्मा है। चित्त इस सबका आधार है। चित्त की उपासना करो जो चित्त को ब्रह्म मानकर उसी की उपासना करता है वह यावत्-चित्त लोकों का स्वामी है" (मूल० ६–क)। छान्दोग्योपनिषद्-कार यहाँ निश्चित रूप से संकल्प पर प्रज्ञा (चित्त) की श्रेष्ठता का समर्थन करता है। यहाँ संकल्पवाद प्रज्ञा-वाद को स्थान दे देता है। मैत्री उपनिषद् में भी एक स्थान पर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, जहाँ उपनिषद्-कार चिन्तन पक्ष में मन को समस्त मानसिक विकारों का उद्गम और स्रोत बतलाता है। "वह मनुष्य केवल मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है; जिन्हें हम इच्छा, संकल्प, सन्देह, विश्वास, अविश्वास, निश्चय, अनिश्चय, लज्जा, विचार, भय कहते हैं, वे सब केवल मन हैं।"

७. मनोवृत्तियों का वर्गीकरण

प्रज्ञात्मक विचारधारा का चरम उत्कर्ष ऐतरेयोपनिषद् में होता है, जहाँ, प्रतिभा की एक प्रबल प्रेरणा से, उपनिषद्-कार विविध मानसिक वृत्तियों का विचारणीय वर्गीकरण करता है; जिनके मूल में आधार-भूत प्रज्ञा है। मनोवृत्तियों के वर्गीकरण का सर्व-प्रथम प्रयास होने की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। "संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, संकल्प, ऋतु, प्राण, जीवनाशा, काम और आत्मसंचय—ये सब प्रज्ञा के ही विविध रूप हैं" (मूल० ७)। यह ध्यान देने योग्य है कि ऋषि ने संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान आदि मानसिक अनुभूति के स्तरों को भिन्न-भिन्न मान कर उनका उल्लेख मात्र नहीं किया है, वरन् उसने अनुभूति के दो विशेष स्वरूपों, संवेदना और संकल्प को भी स्वीकार किया है; उसने सक्रिय संकल्प और अक्रिय संकल्प (ऋतु) में भी अन्तर किया है; तथा कल्पना और स्मृति की प्रक्रिया का भी निरुपण किया है। अन्त में, ऋषि की विचार-धारा की प्रज्ञात्मक प्रकृति इसी से स्पष्ट है कि वह प्रज्ञा को समस्त मानवीय व्यापारों का उद्गम और स्रोत मानता है।

८. प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान और चरम-भाव-मूलक परतत्वशास्त्र

यह आश्चर्य की बात नहीं यदि प्रज्ञात्मक मनोविज्ञान चरम भाव-मूलक परतत्व-शास्त्र के लिये स्थान बना लेता है। ऐतरेयोपनिषद् का प्रज्ञावादी ऋषि परम-भाववादी भी है। पीछे दिये हुये अवतरण के अगले भाग में ही वह उपनिषद्-कार यह निर्देश करने लगता है कि किस प्रकार प्रज्ञा केवल मानसिक प्रक्रियाओं का ही नहीं, वरन् स्वयं सत्य का मेरुदण्ड है। "यह ब्रह्मा, और यह इन्द्र, ये पंचमहाभूत—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि—अंडज, जारुज, स्वेदज, उद्भिज प्राणी; अश्व, गाय, हाथी, इत्यादि पशु और पुरुष; समस्त श्वसनशील जंगम तथा नभचर और स्थावर, सब कुछ प्रज्ञा से ही अनु-नीत तथा प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञा जगत् का नेत्र है; प्रज्ञा जगत् का अधिष्ठान है; प्रज्ञा ब्रह्म है" (मूल० ८-क)। यह इतना स्पष्ट परमभाववाद है जितना कि सम्भव हो सकता है। उपनिषद्-कार का कथन है कि समस्त जगत् की चरा-चर सत्ता, समस्त जंगम और नभचर प्राणी, समस्त महाभूत और देवता प्रज्ञा के कारण ही तथा प्रज्ञा में ही जीवित रहते हैं। यह बार्कले (Berkeley) के सिद्धान्त के अनुरुप ही है जो अपने "निबन्ध" (Treatise) में कहता है कि "समस्त आकाश और जगत् के उपादान, एक शब्द में, वे समस्त पदार्थ जिनसे मिलकर इस महान् जगत् की सत्ता है, मन के बिना कोई अस्तित्व नहीं रखते। अतः जब तक मुझे वे प्रत्यक्ष नहीं हो जाते अथवा मेरे मन में अस्तित्व नहीं रखते अथवा किसी अन्य आत्मा के मन में अस्तित्व नहीं रखते तब तक या तो उनकी कोई सत्ता नहीं अथवा किसी शाश्वत आत्मा के मन में उसकी सत्ता होनी चाहिये। उसके किसी भी अंश को आत्मा से पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता प्रदान करना नितान्त अर्थ हीन तथा मूर्खता है।" मैत्री उपनिषद् का यह अवतरण भी इसी का समानार्थक है, जो हमें यह बतलाता है कि 'अन्तरात्मा समस्त बाह्य-सत्ता पर शासन करती है तथा संक्षेपतः अन्तः-प्राण सूर्य के अस्तित्व का आधार है। यह आत्मःज्ञान बहुत थोड़े लोगों को प्राप्त होता है (मूल० ८-ख)।

आ--विकृत मनोविज्ञान

९. छान्दोग्योपनिषद् में मृत्यु मीमांसा

अब हम उपनिषदीय विकृत मनोविज्ञान पर विचार करेंगे। यह प्रश्न उपनिषदों में बार-बार उठता है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा की

क्या दशा होती है। इस जीवन मात्र की विवेचना से सन्तोष न पाकर उपनिषद्-कारों ने परलोक सम्वन्धी प्रश्नों को असाधारण महत्व दिया है। प्रायः यह प्रश्न किया गया है—मानव–जीवन का मूल क्या है? "वृक्ष यदि काट डाला जाय तो अपनी पहली मूल से ही फिर उग आता है; मनुष्य के जीवन का मूल क्या हो सकता है, जिससे वह मृत्यु द्वारा छिन्न होने पर भी फिर उग सके" (मूल० ९–क)। उपनिषद्-काल में परलोक सम्वन्धी ज्ञान सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। कोई मनुष्य अपने को ज्ञानी नहीं समझ सकता था, जव तक कि वह यह नहीं जानता कि मृत्यु के उपरान्त मनुष्य की क्या अवस्था होती है। इसी आधार पर जैवालि ऋषि ने श्वेतकेतु को, जो अपने को वड़ा ज्ञानी समझता था, पूर्ण अज्ञानी सिद्ध कर दिया था—

"वत्स, क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें ज्ञानोपदेश दिया है।"

"हाँ! देव!"

"क्या तुम यह जानते हो कि समस्त भूत प्राणी यहाँ से किस लोक में जाते हैं।"

"नहीं, देव!"

"क्या तुम यह जानते हो कि कहाँ से देवयान और पितृयान पृथक्-पृथक् होते हैं?"

"नहीं, देव!"

"क्या तुम यह जानते हो कि परलोक कभी मरता क्यों नहीं?"

"नहीं, देव!"

"तव तुम यह कैसे कहते हो कि तुम ज्ञानोपदिष्ट हो? वह मनुष्य जो इन साधारण वातों को भी नहीं जानता ज्ञानोपदिष्ट कैसे कहा जा सकता है?" (मूल० ९–ख)।

१०. कठोपनिषद् में मृत्यु मीमांसा

उपनिषदों का सबसे महत्वपूर्ण स्थल, जहाँ परलोक-ज्ञान को "परम श्रेय" माना गया है, कठोपनिषद् के अन्तर्गत मृत्यु-देवता यम और नचिकेतस का संवाद है, जिसमें नचिकेतस यम के दिये हुये तीन वरों में से दो माँग लेने के वाद, तीसरे वर में मृत्यु के उपरान्त आत्म-सत्ता के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ माँगने को तैयार नहीं।

नचिकेतस—"मृत मनुष्य की आत्मा के विषय में यह सन्देह-युक्त मतभेद है कि कुछ लोग कहते हैं कि उसकी सत्ता रहती है, कुछ कहते हैं नहीं रहती। मैं इस विषय में आपसे ज्ञानोपदेश चाहता हूँ। यही मेरा तीसरा वर है।"

यम—"इस विषय में पूर्व काल में देवता भी संदिग्ध रहे हैं। इस प्रश्न का समझना सरल नहीं हैं। क्योंकि यह बहुत सूक्ष्म प्रश्न है। नचिकेतस, तुम दूसरा वर माँग लो; आग्रह न करो, केवल मुझे ही इस विषय से परिचित रहने दो।"

नचिकेतस—"निस्सन्देह देवता भी इस विषय में सन्दिग्ध रहे हैं। और आपने स्वयं कहा कि यह विषय मनुष्य की प्रज्ञान परिधि के परे है। आपको छोड़कर इस विषय में दूसरा गुरु पाना असम्भव है; और न मैं इसके अतिरिक्त किसी दूसरे वर को इसके बराबर समझता हूँ।"

यम—"यदि तुम चाहो तो मुझसे मनुष्य की कामनाओं के विषय में पूछ सकते हो जो इस लोक में अपूर्ण रह जाती हैं। यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हारी सेवा में ये रथ और वाद्य यन्त्रों के सहित अपूर्व सुन्दरियाँ, जो मनुष्य के लिये दुर्लभ हैं, उपहार-स्वरूप दे सकता हूँ; किन्तु नचिकेतस, मुझसे मृत्यु के विषय में मत पूछो।"

नचिकेतस—"मृत्यु-देवता, ये सब क्षणिक तथा मनुष्य की इन्द्रियों के तेज का क्षय करने वाले हैं। दूसरे, उनका पूर्ण उपभोग करने के लिये जीवन बहुत छोटा है। इन सुन्दरियों, अश्व, संगीत, और नृत्य को आप ही अपने लिये रक्खें। सौन्दर्य और रति से प्राप्त होने वाले आनन्द की क्षणिकता पर विचार कर लेने बाद कौन मर्त्य दीर्घ-जीवन की कामना करेगा? कोई नहीं। मृत्यु-देवता, मुझे उस महान् परलोक के विषय में बताओ, जो सन्देह और कुतूहल का विषय हो गया है। नचिकेतस इस रहस्य के अतिरिक्त दूसरा वर नहीं माँगता" (मूल० ६—ग)।

११. निद्रा-मीमांसा: श्रमवाद तथा पुरीतत-वाद

मृत्यु की प्रकृति के प्रश्न के बाद निद्रा की प्रकृति का प्रश्न उठता है, जो मृत्यु का ही हलका स्वरूप है। इस विषय पर हमें प्राचीन ऋषियों के बड़े मनोरंजक सिद्धान्त मिलते हैं। एक स्थल पर तो निद्रा के स्वरूप की व्याख्या के लिये वर्तमान शरीर-विज्ञान के श्रमवाद का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। "जिस प्रकार श्येन अथवा कोई अन्य पक्षी आकाश में उड़ते-उड़ते थक जाता है और अपने पंख समेट कर नीड़ में आ बैठता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी उसी गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था के लिये उत्सुक रहता है, जिसे न

कामना भंग करती है, न स्वप्न" (मूल० १०)। किन्तु सुषुप्ति की इस निश्चित रूप से शरीर-विज्ञान-मूलक व्याख्या से पहले हम इस विषय में उपनिषद्-कारों के बड़े विलक्षण सिद्धान्त पाते हैं। प्रश्नोपनिषद्-कार का मत है कि सुषुप्ति का कारण समस्त इन्द्रियों का इन्द्रियों के चरम आश्रय मन में निलीन हो जाना है। "हे गार्ग्य, जिस प्रकार सन्ध्या के समय समस्त किरणें एक प्रकाश-मंडल में पुंजीभूत हो जाती हैं और प्रभात के समय उससे फिर विकीर्ण होने लगती हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ इन्द्रियों के चरम आश्रय मन में निलीन हो जाती हैं। यही कारण है कि सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य न सुन सकता है, न देख सकता है, न सूँघ सकता है; लोग कहते हैं कि वह सुषुप्त है" (मूल० ११-क)। प्रश्नोपनिषद्-कार ही आगे चलकर अपने मत में थोड़ा परिवर्तन कर देता है; और कहता है कि "सुषुप्ति अवस्था में मन एक प्रकाश पारावार में निलीन हो जाता है; और जब मन 'तेजोभिभूत' होता है तो यह आत्मा किसी प्रकार के स्वप्न नहीं देखती और शरीर में अद्भुत आनन्द का स्फुरण होता है" (मूल० ११-ख)। दूसरा सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है, यह है कि सुषुप्ति का कारण आत्मा का नाड़ी-निवास है। "जब मनुष्य गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में होता है तो आनन्दातिरेक के कारण किसी प्रकार के स्वप्न नहीं देखता। उस समय उसकी आत्मा नाड़ी में संस्थित रहती है" (मूल० ११-ग)। इसी भाव का परिवर्द्धन बृहदारण्यकोपनिषद् में किया गया है, जहाँ प्राचीन विचार-धारा के अनुकूल सुषुप्ति की एक शरीर-विज्ञान सम्मत व्याख्या हमारे सामने रक्खी गई है, जो वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि से पौराणिक सी जान पड़ती है। यह कल्पना की गई थी कि हृदय से पुरीतत् की ओर जिसका अनुवाद डॉयसन (Deussen) ने हृदय-कोश (perikardium) तथा मैक्स-मूलर (Max-Muller) ने भाष्यकार का अनुकरण करते हुये 'परिवर्ती पिण्ड-अंग' (Surrounding Body) किया है, ७२००० नाड़ियाँ प्रवाहित होती हैं जो माननीय नहीं। यह पुरीतत् डेकार्ट (Descartes) के 'पीनियल मांसपिण्ड' (Pineal gland) का सांगतिक है, जहाँ तक दोनों के विषय का सम्बन्ध है। किन्तु दोनों की शारीरिक स्थिति में बहुत अन्तर है। पुरीतत् का अर्थ हृदय के चतुर्दिक एक त्वचा-पेशी समझना चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने कल्पना की थी कि गाढ़ सुषुप्ति में आत्मा नाड़ियों द्वारा हृदय से निकल कर पुरीतत् के अन्तर्गत स्थित हो जाती है, जहाँ से सुषुप्ति का उदय होता है। यही भावना बाद में न्याय-दर्शन में विकसित हो गई थी जिसमें सुषुप्ति का कारण आत्मा का पुरीतत् के अन्तर्गत प्रवेश बतलाया गया है तथा स्वप्न की व्याख्या आत्मा

की पुरीतत् के द्वार पर स्थिति द्वारा की गई है। साथ ही यह भी कल्पना की गई थी कि जाग्रत अवस्था में भी आत्मा पुरीतत् की ओर प्रगतिशील रहती है। न्याय-दर्शन के इस सिद्धान्त का मूल वृहदारण्यकोपनिषद् के एक अवतरण में खोजा जा सकता है, जिसकी हम अभी समीक्षा कर रहे हैं। "जब एक मनुष्य गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में होता है और जब उसे किसी वस्तु की चेतना नहीं रहती, तो आत्मा हिता नामक नाड़ियों द्वारा, जिनकी संख्या ७२००० है, तथा जो हृदय से पुरीतत् की ओर फैली हुई हैं; पुरीतत् की ओर जाती है, वहाँ एक कुमार, महाराजा, ब्राह्मण अथवा परमानन्द-प्राप्त पुरुष की भाँति सुषुप्ति में निलीन हो जाता है" (मूल० ११–घ)।

१२. निद्रामीमांसा: प्राण और ब्रह्मवाद

छान्दोग्योपनिषद्-कार ने सुषुप्ति के सिद्धान्त का एक और स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। उसका मत है कि मन का प्राण अथवा श्वास में निलय सुषुप्ति का कारण है। "जिस प्रकार एक सूत्र में बँधा हुआ पक्षी पहले प्रत्येक दिशा में उड़ने की चेष्टा करता है और कहीं शान्ति न पाकर उसी स्थान पर बैठ जाता है जहाँ पर कि वह बँधा हुआ है। ठीक उसी प्रकार, सोम्य, मन प्रत्येक दिशा में उड़ने के बाद कहीं शान्ति न पाकर श्वास पर ठहर जाता है। क्योंकि वस्तुतः मन श्वास से ही बँधा हुआ है" (मूल० ११–ङ)। सुषुप्ति की अगली व्याख्या वृहदारण्यकोपनिषद् में की गई है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि सुषुप्ति आत्मा का हृदय के अन्तर्गत आकाश में 'विश्राम' है। गार्ग्य को इसका प्रमाण दिखलाने के लिये अजातशत्रु ने एक अनुभवात्मक प्रयोग का आधार लिया है। उन्होंने गार्ग्य का हाथ पकड़ा और दोनों एक सुषुप्त पुरुष के पास आये। उन्होंने उसे इन महान् अभिधानों द्वारा पुकारा "हे महान्! हे शुभ्र-परिधान! हे सोम! हे राजन्!" किन्तु वह मनुष्य न उठा। तब उन्होंने उसे हाथ से उकसाया तो वह उठ बैठा। तब अजातशत्रु ने कहा कि "जब यह व्यक्ति सो रहा था तो यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था और यह कहाँ से लौट आया।" गार्ग्य से इसका उत्तर न बन पड़ा। इस पर अजातशत्रु ने कहा कि 'जब यह मनुष्य निद्राभिभूत था, तब विज्ञान-मय आत्मा हृदय के अन्तर्गत आकाश में संस्थित थी" (मूल०–११–च)। सुषुप्ति की व्याख्या का अन्तिम सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है कि सुषुप्ति में आत्मा ब्रह्म से एकाकार हो जाती है! यह यही कहने के समान है कि जब कोई व्याख्या सम्भव नहीं, तो सन्तोष के लिये ब्रह्म ही एक मात्र प्रश्रय है! प्रश्नोपनिषद् का एक अवतरण हमें यह बतलाता है कि सुषुप्ति में "मन, जो

यजमान है, प्रतिदिन ब्रह्म के यहाँ जाता है," जिसका समर्थन छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण करता है जिसका कथन है कि "जब मनुष्य सोता है तो सोम्य, वह 'सत्य' से एकाकार हो जाता है। इसीलिये लोग कहते हैं कि 'स्वपिति' जिसका अर्थ (स्व आत्म; अपिति लीन, गत) आत्म-लीन है" (मूल० ११-छ)। यहाँ यही भावना अभिप्रेत थी कि गाढ़ सुषुप्ति में आत्मा ब्रह्म से एकाकार हो जाती है; इस प्रकार सुषुप्ति 'समाधि' के तुल्य है। वस्तुतः सुषुप्ति और समाधि में इतनी अथवा इतनी कम समानता है जितनी, कि स्पिनोज़ा (spinoza) कहता, डौग (Dog) और गौड (God) में है; वही अक्षर है पर कितना अन्तर है। ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती युग में उपनिषदों में ही इस अन्तर का अनुभव किया गया था, जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है कि चाहे आत्मा सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म से एकाकार हो, किन्तु वह इसे जानती नहीं; उसे इसकी अनुभूति नहीं। "जिस प्रकार भू-गर्भ-शास्त्र से अनभिज्ञ पुरुष, पृथ्वी में अन्तर्निहित स्वर्ण-कोष के ऊपर विचरण करते हुये भी उसे खोज नहीं सकते, उसी प्रकार समस्त प्राणी प्रतिदिन ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करने पर भी इसे जान नहीं पाते, क्योंकि वे अज्ञान से विमोहित हैं" (मूल० ११-ज)।

१३. स्वप्न-मीमांसा

सुषुप्ति-मीमांसा से ही सम्बन्धित एक दूसरा विचारणीय प्रश्न उपनिषद्-कारों की स्वप्न-मीमांसा है। वृहदारण्यकोपनिषद् का एक प्रसिद्ध अवतरण हमें बतलाता है कि किस प्रकार स्वप्न की अवस्था में "आत्मा अपने नीड़ से निकल कर जहाँ चाहती है विचरण करती है। श्वास द्वारा नीड़ का संरक्षण करती हुई शाश्वत आत्मा अपने नीड़ से निकल कर स्वच्छन्द भाव से विहार करती है—वह हिरण्मय पुरुष, रमणीय हंस! स्वप्न की अवस्था में इधर-उधर विचरण करता हुआ वह देव अनेक रूप धारण करता है, कामिनियों के साथ रमण करता है, भोजन का आनन्द लेता है, भयानक दृश्य देखता है" (मूल० १२-क)। वही अवतरण हमें यह बतलाता है कि किस प्रकार सुषुप्ति और स्वप्न की अवस्थायें चेतनता और अचेतनता की मध्यवर्ती अवस्थायें हैं; "एक का सम्बन्ध इहलोक से है, दूसरी का सम्बन्ध परलोक से है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी मध्यवर्ती अवस्था है जिसे हम चेतना का सन्ध्याकाल कह सकते हैं, जो सुषुप्ति और स्वप्न का समन्वय है। इस तीसरी अवस्था में स्थित हो जाने पर वह (आत्मा) इहलोक और परलोक दोनों से सम्बन्ध रखने वाली अवस्थाओं का अनुभव कर सकता है।" हमें यह भी बत-

लाया गया है कि किस प्रकार इस अवस्था में आत्मा एक तट से दूसरे तट की ओर जाने वाली मछली के समान है : "जिस प्रकार एक विशाल मछली दोनों तटों से कभी पास, कभी दूर चलती है, उसी प्रकार यह पुरुष इन दोनों अवस्थाओं—सुषुप्ति और जाग्रति–के बीच चलता है"; और यह भी बतलाया गया है कि किस प्रकार इस अवस्था में आत्मा से महती विधायक शक्ति स्फुरित होती है : "वहाँ न कोई रथ है, न अश्व, और न पथ, किन्तु वह स्वयं रथ, अश्व और पथ की सृष्टि कर लेती है। वहाँ न कोई मोद है, न प्रमोद, न आनन्द, किन्तु वह स्वयं मोद, प्रमोद और आनन्द की सृष्टि कर लेती है। वहाँ कोई स्रोत, सरोवर अथवा सरिता नहीं किन्तु वह स्वयं स्रोत, सरोवर और सरिता की सृष्टि कर लेती है; क्योंकि वह वस्तुतः विधाता है।" हम देखते हैं कि यहाँ स्वप्नावस्था में आत्मा की विधायक प्रक्रिया पर कितना जोर दिया गया है। अन्त में, प्रश्नोपनिषद् के एक अवतरण में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार प्रायः, जाग्रत अवस्था के अनुभवों की मूक प्रतिध्वनि होते हुये भी, स्वप्न कभी-कभी एकान्त मौलिक कल्पना भी कर लेते हैं : "वहाँ सुषुप्ति में आत्मा अपनी महत्ता का अनुभव करती है। जो बार-बार देखा जा चुका है उसे ही वह एक बार स्वप्न में फिर देखती है। जो बार-बार सुना जा चुका है उसे वह स्वप्न में एक बार फिर सुनती है। दृष्ट और अदृष्ट, श्रुत और अश्रुत, अनुभूत और अननुभूत, सत् और असत् सबका वह अनुभव करती है, क्योंकि ये सब उसी के रूप हैं" (मूल० १२–ख)। इसे निस्सन्देह स्वप्न के अनुभव की एक सूक्ष्म समीक्षा समझना चाहिये।

१४. प्राचीन मनोवैज्ञानिक खोज

जहाँ उपनिषद्-कारों ने चेतना की सुषुप्ति, तथा स्वप्न अवस्थाओं की सूक्ष्म मीमांसा की है, वहाँ वे भूतावेश, प्रेतमाध्यम के स्वरूप में अभिव्यक्त चेतना की विकृतियों का विवेचन भी नहीं भूले हैं। यदि हम यह कह सकते हैं, तो उन्होंने अपनी वैज्ञानिक खोज की, वह चाहे कितनी ही प्रारम्भिक तथा चुपचाप क्यों न हो। हमारे सामने एक ऐसा निश्चित उदाहरण है, जो यह प्रदर्शित करता है कि इतने प्राचीनकाल में भी उनका ध्यान मनोवैज्ञानिक खोज की ओर आकर्षित हुआ था। उदाहरण के लिये बृहदारण्यक में (मूल० १३) हमें सूचित किया गया है किस प्रकार लाह्यायन का पुत्र भुज्यु अपने छात्र-जीवन में माद्र देश में गया और वहाँ उसने कपि के पुत्र पतंचल का गृह देखा। पतंचल के एक कन्या थी जो गन्धर्वाविष्ट थी। वह गन्धर्व उसका माध्यम के रूप में उपयोग किया करता था। भुज्यु ने उस प्रेत से पूछा कि

वह कौन था; और उत्तर पाया कि वह अंगिरस का पुत्र सुधन्वा था। यह जानने के बाद भुज्यु ने गन्धर्व से दो प्रश्न और पूछे, जिनमें एक पृथ्वी के वास्तविक विस्तार के विषय में था और दूसरा परीक्षित के पुत्रों की परिस्थिति के सम्बन्ध में था, जो कालान्तर में उस समय तक ऐतिहासिक व्यक्ति समझे जाने लगे होंगे। हमें नहीं मालूम कि गन्धर्व ने इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया, किन्तु हम यह स्पष्ट रूप से देखते हैं कि किस प्रकार भुज्यु इन प्रश्नों के कारण एक पराविद्या-विशारद समझा जाता होगा, जिसने अपने अन्तः प्रकाश के अनुकूल उस प्राचीनकाल में वर्तमान मनोवैज्ञानिक खोज की रेखाओं पर काम किया।

१५. विचार-शक्ति

अन्त में हमें इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि उपनिषदों में विचार-शक्ति को, जैसा कि अभिनव मनोविज्ञान में इसका नाम है, कितना महत्व दिया गया है। "जो तेजोमय तथा चतुष्कल तथा तेजोमय ब्रह्मपाद की उपासना करता है, वह स्वयं इस लोक में तेजोमय हो जाता है" (मूल० १४–क)। "वह जो प्रकाश-रूप ब्रह्म का ध्यान करता है स्वयं प्रकाश-रूप हो जाता है और प्रकाशमान लोकों में जाता है" (मूल० १४–ख)। "जब सूर्य का जन्म हुआ था तो उसके चतुर्दिक अनेक प्रकार के अभिवादन शब्द हुये, जो यह जानता है तथा सूर्यरूप ब्रह्म का ध्यान करता है, उसके चतुर्दिक मनोहर घोष होते रहेंगे" (मूल० १४–ग)। यदि कोई प्रतिष्ठा-रूप ब्रह्म का ध्यान करे तो वह स्वयं प्रतिष्ठावान हो जायगा। यदि महान् के रूप में ब्रह्म की उपासना करेगा तो स्वयं महान् हो जायगा; यदि मनोरूप में ब्रह्म की उपासना करेगा तो उसे सम्मान मिलेगा; यदि ब्रह्म के परिमर के रूप में ब्रह्म की उपासना करेगा तो उसके चतुर्दिक (परि) अनेक शत्रु, जो उससे घृणा करते हैं, मरेंगे (मर)" (मूल० १४–घ), और अन्त में "जो असत् रूप में ब्रह्म का ध्यान करता है, वह अपनी भी सत्ता खो देगा; जो सत् के रूप में ब्रह्म की उपासना करता है वह सदा सत्तावान रहेगा; यह है जो वे जानते हैं" (मूल० १४–ङ)। हम उन लोगों से जो विचार-शक्ति के चमत्कारों में विश्वास करते हैं, इन अवतरणों के अवलोकन का अनुरोध करेंगे।

इ—आध्यात्मिक मनोविज्ञान

१६. अनात्मिक मनोविज्ञान

आधुनिक मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक मनोविज्ञान की ओर अधिक

ध्यान नहीं देते । वे इसे निरुपयोगी अथवा परतत्व-मूलक समझते हैं । जैसा कि प्रोफेसर जेम्स वार्ड (Prof. James Ward) का कथन है, आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनात्मिक मनो-विज्ञान के विधान में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की चेष्टा करते हैं । प्राचीन आत्मिक भावना तो एक साथ नष्ट हो गई; इसके स्थान पर हम एक 'अहम्' की कल्पना पाते हैं, जिसे 'अभिरुचि-केन्द्र' समझा जाता है, तथा जिसका उद्भव और विनाश एक अभिनव अभिरुचि की जाग्रति और अवसिति के साथ संघटित माना जाता है । ऐसा दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिकों को जिन भूल भुलैयों में ले आता है, उनका अनुभव एक दृष्टि में हो सकता है । जब हम यह विचार करते हैं कि उनमें से कुछ तो मृत्यु के उपरान्त एक रक्त-मांस-हीन अहम्-भाव की क्रम-शील सत्ता स्वीकार करने को बाध्य हुये हैं तथा शाश्वत् आत्मा के प्राचीन सिद्धान्त के स्थान पर हम एक 'वासना-केन्द्र' की कल्पना पाते हैं, जो मृत्यु के बाद भी सत्ता-शील रहता है, यदि मनुष्य के जीवन-काल में उसकी वासना की पूर्ति नहीं हो पाती । प्राचीन सिद्धान्त जैसा कि प्लेटो में, वैसा ही उपनिपदों में, आत्मा की शाश्वत सत्ता के सुदृढ़ आधार पर स्थित है, जो शरीर धारण करने के लिये उतनी ही स्वतन्त्र है जितनी कि शरीर-त्याग तथा पुनर्जन्म-ग्रहण के लिये । ऐसा सिद्धान्त चाहे जितना सीमित हो, फिर भी यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो कम से कम समझा जा सकता है । किन्तु वर्तमान "वासना-केन्द्र" की कल्पना जो मृत्यु के बाद भी सत्ता-शील रह सकता है, एक अतीन्द्रियवादी के अतिरिक्त सबकी धारणा परिधि से परे है, जो प्रकृति-वाद (Naturalism) को इतना प्रति-दान दे सकता है कि इसका परिणाम उसकी दार्शनिक भावनाओं का संकर होता है ।

१७. आत्मा का स्थान

पहला प्रश्न जिससे आध्यात्मिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध हो सकता है आत्मा के स्थान का प्रश्न है । और जब यह प्रश्न पूछा जाता है तो इसका उत्तर आत्मा के आयतनिक स्थान की दृष्टि से देना अस्वाभाविक नहीं । इस सिद्धान्त की उपेक्षा की प्रायः संभावना रहती है कि आत्मा एक व्यास-रहित सत्ता है और इसीलिये समस्त आयतनिक कल्पनाओं से परे है । फिर भी आध्यात्मिक मनोविज्ञान ने शरीर के उस अंग अथवा उन अंगों की विवेचना से, जिनसे आत्मा का प्रधान सम्पर्क है, सम्बन्ध रक्खा है । प्रो० जेम्स (Prof. James) का कथन है कि "किसी न किसी रूप से चेतनता प्रत्येक वस्तु के प्रति वर्तमान है, जिससे उसका सम्बन्ध (Co-

gnitively) है। मैं ज्ञानतः मार्गशीर्ष (Orion) नक्षत्र के प्रति वर्तमान हूँ, जब कभी मैं उस नक्षत्र को देखता हूँ; किन्तु उसके प्रति मेरी सक्रिय (Dynamically) सत्ता नहीं है, क्योंकि मैं उसे अपनी किसी प्रक्रिया द्वारा प्रभावित नहीं कर सकता। अपने मस्तिष्क के प्रति मेरी सक्रिय सत्ता है, क्योंकि मेरे विचार तथा भाव उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करते जान पड़ते हैं। अस्तु, यदि मन (आत्मा) के स्थान से अभिप्राय केवल शरीर के उस प्रदेश से है, जिससे उसका निकटतम तात्कालिक सक्रिय सम्बन्ध है, तो हमें अपने इस कथन की यथार्थता पर विश्वास है कि वह प्रदेश कहीं मस्तिष्क की बाह्य-त्वचा (Cortex) पर है।"[1] इस प्रश्न के सम्बन्ध में अनेक तथा विविध दृष्टिकोण उपस्थित किये गये हैं। जैसा कि हम जानते हैं, आई० एच० फिश्ते (I. H. Fichte) का यह मत था कि आत्मा एक 'दिग्व्यापी' तत्व है। डेकार्ट (Descartes) ने कल्पना की थी कि आत्मा का स्थान पीनियल-पिण्ड (Pineal gland) था। लौत्से (Lotze) का सिद्धान्त था कि आत्मा का स्थान कहीं "शरीर-विज्ञान-सम्मत मस्तिष्क के तत्वों में से एक आकार-हीन विशिष्ट स्थान में होना चाहिये, जहाँ समस्त मज्जातन्तु एक दूसरे से प्रतिगमित तथा एकत्र हो सकें।" प्रो० जेम्स के सिद्धान्त को हम अभी देख चुके हैं कि आत्मा की प्रक्रिया का सम्बन्ध शरीर के एक अंग की अपेक्षा दूसरे से अधिक हो सकता है, तो वह सम्बन्ध मस्तिष्क की बाह्य-त्वचा से होना चाहिये। अरिस्टोटिल का विश्वास था कि आत्मा का स्थान हृदय में है, और वह इस परिणाम पर यह निरीक्षण करने के बाद पहुँचा कि "(१) हृदय के रोग सबसे अधिक उग्र और निश्चित रूप से संघातक होते हैं; (२) भय, शोक, हर्ष आदि मनोभाव सबसे पहले हृदय में ही हलचल मचाते हैं; (३) भ्रूण के रूप में प्रथम परिणत होने वाला अंग हृदय ही है।"[2] उपनिषदीय मनोविज्ञान हृदय को आत्मा का स्थान मानने में अरिस्टोटिल से सहमत है। हम अभी देख चुके हैं कि उपनिषदों के सुषुप्ति-सम्बन्धी मनोविज्ञान (pericardium) में "हृदय-कोश" का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद्-कारों को हृदय को आत्मा का स्थान मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं हुई। और हम भारतीय विचार-विकास के परवर्ती युग तक पहुँचने पर ही चेतना के स्थान को हृदय से हटकर मस्तिष्क में पाते हैं। यह हम केवल यौगिक

1. Principles of Psychology, I. 214.
2. Hammond, Aristotle's Psychology, P. xxiii.

तथा तान्त्रिक ग्रन्थों[1] में ही पाते हैं कि महामस्तिष्क और पृष्ठदेशीय मज्जातन्तुओं को स्थान दिया गया है तथा चेतना का केन्द्र हृदय के स्थान पर मस्तिष्क बतलाया गया है।

१८. आत्मा का स्थान : हृदय और मस्तिष्क

एक महत्वपूर्ण उपनिषदीय अवतरण में हम पहले से ही एक दृष्टिकोण से दूसरे की ओर बढ़ने के प्रारम्भिक लक्षण देखते हैं। यद्यपि सामान्य रूप से हम देखते हैं कि हृदय को ही आत्मा का स्थान माना गया है, फिर भी तैत्तिरीय उपनिषद् के एक अवतरण में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से तथा पर्याप्त भविष्य-कल्पना-मूलक अन्तर्दृष्टि के साथ उपनिषद्-कार हमारे सामने अपना यह विचार रखता है कि किस प्रकार हृदयान्तर्वर्त्ती आत्मा मूर्धा के अस्थिमार्ग से मस्तक की ओर जाती है, जहाँ कि स्त्रियाँ माँग बनाती हैं; और मार्ग में अपने स्वामी ब्रह्म का अभिवादन करती है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि, जहाँ हृदयान्तर्वर्ती आत्मा को मनोमय पुरुष कहा गया है वहाँ उसको मनस्पति अर्थात् आत्मा का अधिपति कहा गया है। "हृदय के अन्तर्गत जिसे हम आकाश के रूप में जानते हैं वही उस हिरण्मय पुरुष मन का स्थान है। मूर्धा की अस्थियों के बीच में जिसे हम स्तनवत् अवलम्बित देखते हैं, उसी में होकर 'इन्द्र'[2] के यहाँ का मार्ग है, जो सीधा मस्तक के उस भाग तक जाता है, जहाँ माँग बनाई जाती है। भूः भुवः स्वः, जब ये बीज मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं, तो आत्मा सीधी ब्रह्म की ओर को प्रगतिशील होती है। आत्मा स्वराज्य प्राप्त कर लेती है। मनस्पति के साथ एक रूप हो जाती है तथा वाक्पति, चक्षुष्पति, श्रोत्रपति, विज्ञानपति, तथा संक्षेपतः ब्रह्म हो जाती है, जो आकाश के रूप में व्यक्त होता है" (मूल० १५)। इस अवतरण की व्याख्या में बहुत कुछ कठिनाई का अनुभव किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत अवतरण हमें यह बतलाता है कि ज्ञान-केन्द्र तथा प्रज्ञान-केन्द्रों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, जहाँ तक उक्त अवतरण का यह मत है कि आत्मा हृदय से मस्तिष्क की ओर चलकर ही इन पर प्रभुत्व स्थापित कर

---

1. Vide Seal's Positive Sciences of the Ancient Hindus, pp. 218-219.

2. Indra, elsewhere paraphrased as Idandra, breaking through the skull; cf. तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः। ऐ. १. ३. १४.

सकती है। फिर भी उक्त अवतरण में निर्देशित पथ का निश्चित निरूपण बहुत कठिन है। 'स्तन इवावलम्वते' में उपनिषदों का किस अंग से अभिप्राय है? क्या यह उपजीभ (Uvula) अथवा श्लैष्मिक अंग या ग्रंथि (pituitary body) है? डॉयसन तथा मैक्समूलर दोनों ने इसे उपजीभ समझा है। तव क्या हमें यह समझना चाहिये कि उपनिषद्-कार उपजीभ की विलक्षणता से इतना प्रभावित हुआ कि वह उसे आत्मा के अधिपति का द्वार मानने लगा? और क्या हमें यह समझना चाहिये कि डॉयसन और मैक्समूलर ने उन योगियों के अनुभव को स्वीकार कर लिया जो उपजीभ को समाधि की अवस्था में मस्तिष्क के छिद्र से कंठ में स्रवित होने वाले अमृत के आस्वादन का माध्यम मानते हैं। अथवा क्या हमें यह कल्पना करनी चाहिये कि उपनिषद-कार इतना भाग्यशाली था कि उसने एक फटा हुआ मस्तक देखा और उसने यह निरीक्षण किया कि श्लैष्मिक ग्रंथि या अंग (pituitary body) मूर्धा की दो अस्थियों के ठीक ऊपर स्थित है, तव यह कल्पना कर सका कि हृदयान्तर्वर्ती आत्मा आनुकम्पक सहानुभूतिपरक स्नायुओं (Sympathetic nerves) के सहारे श्लैष्मिक ग्रंथि (pituitary body) की ओर जा सकती है तथा उसके अन्तर्गत होकर अपने अधिपति' (इन्द्र) के पास जा सकती है, जो इस पार्श्व-छिद्र (ब्रह्म रंध्र) में विराजमान है, जिसके चारों ओर मस्तिष्क की भूरे गुदे (Greymatter) में विविध ज्ञान-केन्द्र स्थित हैं। पिछली व्याख्या असम्भावनीय नहीं। किन्तु हम नहीं कह सकते कि उपनिषद्-कार आत्मा का निश्चित रूप से निर्धारण करने योग्य शरीर-विज्ञान जानता था अथवा योग में इतना पारंगत था कि उसने इसे अपने मनश्चक्षु से देख लिया।

१६. आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

इसका शरीर-विज्ञान सम्वन्धी पक्ष कुछ भी हो, हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद्-कारों ने आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्वन्ध के महत्व-पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रश्न को निश्चित रूप से उठाया है। मैत्री उपनिषद्, यद्यपि यह परवर्ती उपनिषदों के अन्तर्गत है, निमित्त कारण का प्रश्न उठाती है और प्लेटो की रीति से आत्मा को क्रियात्मक शक्ति प्रदान करती है। यह हमें वतलाती है कि प्राचीन काल में वालखिल्य नामक ऋषि थे, जो प्रजापति क्रतु के पास गये और उनसे पूछा कि शरीर-रथ का सारथी कौन है? "भगवन्! शरीर एक स्थिर रथ की भाँति है। क्या आप कृपा कर हमें यह वतला सकते हैं कि इसका संचालक कौन है? और उक्त उपनिषद् हमें वतलाती है

कि वे जो उत्तर प्रजापति से चाहते थे वह यह था कि इस शरीर-रथ का संचालक आत्मा है, "जो शुद्ध, शान्त, शाश्वत, अज तथा अपनी महत्ता में संस्थित स्वतन्त्र सत्ता है" (मूल० १६–क)। इसके अतिरिक्त कौषीतकी उपनिषद् का कथन है कि आत्मा को समस्त शारीरिक वृत्तियों की स्वामिनी तथा समस्त ऐन्द्रिक व्यापारों की अधिष्ठात्री समझना चाहिये: "जिस प्रकार एक छुरा पेटी में रक्खा जाता है, आग चूल्हे में रक्खी जाती है, उसी प्रकार यह सचेतन आत्मा नख-शिख शरीर में व्याप्त है। ये इन्द्रियाँ आत्मा पर इसी प्रकार निर्भर रहती हैं जिस प्रकार निर्धन पुरुष धनी सम्बन्धी पर। जिस प्रकार धनी पुरुष अपने सम्बन्धियों के साथ भोजन करता है तथा सम्बन्धी धनी के आश्रय पर निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार यह सचेतन आत्मा भी इन्द्रियों के साथ आनन्द का उपभोग करती है तथा इन्द्रियाँ आत्मा के आश्रय में आनन्द का उपभोग करती हैं" (मूल० १६–ख)। इस अवतरण से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार इन्द्रियाँ आत्मा पर निर्भर हैं तथा किस प्रकार आत्मा समस्त शरीर में परिव्याप्त है।

२०. आत्मा की आयतनिक कल्पना का इतिहास

ऊपर उद्धृत किया हुआ अवतरण हमें इस दृष्टि-कोण की ओर ले जाता है कि आत्मा समस्त शरीर में व्याप्त है। यह असम्भाव्य नहीं कि यही सिद्धान्त जैनियों के 'आत्मा का आकार शरीर के आकार के बराबर है,' इस सिद्धान्त का पथ-निर्देशक रहा हो। जैन सिद्धान्त के अनुकूल "हाथी की आत्मा का आकार हाथी के शरीर के बराबर होता है तथा चींटी की आत्मा का आकार चींटी के शरीर के बराबर होता है।" "हस्ति-पुद्गल प्राप्त हस्ति-पुद्गलो भवति; पिपीलिका-पुद्गलं प्राप्य पिपीलिका-पुद्गलो भवति।" यह आत्मा की आयतनिक प्रकृति में विश्वास की चरम-विकृति है; जो हमें आकार की सीमा के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में आत्मा की कल्पना करने के लिये स्थान नहीं छोड़ती। आत्मा की आयतनिक प्रकृति की कल्पना का इतिहास उपनिषदों में बड़े मनोरंजक रूप से दिया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि "हृदय-संस्थित तेज:पुंज मनोमय आत्मा इतनी लघु है जितना कि एक चावल अथवा जौ का दाना। फिर भी वह सर्वेश तथा सर्वाधिपति है और विश्व की अखिल सत्ता पर शासन करती है" (मूल० १७–क)। कठोपनिषद् के एक अवतरण में तथा अन्यत्र भी हम देखते हैं कि अब आत्मा का आकार चावल अथवा जौ के दाने से बढ़कर अंगुष्ठ के बराबर हो जाता है। उपनिषदीय विचार-जगत में इस कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है: "आत्मा,

जो समस्त सृष्ट और असृष्ट पदार्थों की स्वामिनी है तथा इसीलिये किसी से भयभीत नहीं होती, अंगुष्ठ-मात्र है तथा शरीर के मध्य-भाग (हृदय) में निवास करती है" (मूल० १७–ख)। छान्दोग्योपनिषद् के एक अवतरण में आत्मा को अंगुष्ठ-मात्र नहीं, वरन् प्रादेश-मात्र माना गया है (मूल० १७–ग)। यहाँ आत्मा को प्रादेश-मात्र तथा अभिविमान कहा गया है। इन शब्दों ने भाष्य-कारों के लिये बड़ी आपत्ति उपस्थित करदी है। शंकराचार्य, जो आत्मा को सर्व-व्यापी मानते हैं, इस सिद्धान्त से कभी सहमत नहीं हो सकते कि आत्मा प्रादेश-मात्र है।[1] प्रादेश शब्द सचमुच बड़े महत्व का है। अमरकोश[2] में इसका अर्थ बालिश्त दिया गया है तथा मेदिनीकोश[3] में भी। शंकराचार्य भी यह जानते थे कि प्रादेश शब्द का प्रयोग अन्यत्र बालिश्त[4] के अर्थ में हो चुका है, जिसे उनके टीकाकार आनन्द गिरि ने जाबाल-श्रुति-सम्मत अर्थ माना है। शंकर के अनुसार प्रादेश शब्द का अर्थ कहीं भी बालिश्त-मात्र नहीं, वरन् मस्तक से लेकर चिबुक तक एक बालिश्त मात्र का स्थान है। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे। महाभारत[5] में भीमसेन को अपने छोटे भाई अर्जुन से 'प्रादेशेनाधिक' बतलाया गया है। मैत्री उपनिषद्[6] में प्रादेश शब्द का स्पष्ट रूप से यही अर्थ है। ऐसी स्थिति में यह पूर्ण रूप से स्वाभाविक है कि हमारे विवेच्य अवतरण में प्रादेश शब्द का अर्थ बालिश्त ही, विशेषतः जैसा कि शंकर ने निर्देश किया है मस्तक और चिबुक का अन्तर्वर्ती एक बालिश्त का स्थान समझा जाय। अभिविमान शब्द ने भी बड़ी आपत्ति

---

1. This is the reason why he explains the expression as द्युमूर्धादिभिः पृथिवीपादांतैर्विशिष्टमेकं प्रादेशमात्रम्।

2. प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते। II. 6. 83. The Commentator explains प्रादेश by saying that it means तर्जन्यादिसहित-विस्तृतांगुष्ठः।

3. प्रादेशो देशमात्रे स्यात्तर्जन्यंगुष्ठसंमिते।

4. शाखांतरे तु मूर्धादिश्चिबुकप्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं कल्पयंति। इह तु न तथाऽभिप्रेतम्। C. on छा. V. 18. 1.

5. प्रमाणेन भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात्। म. भा. V. 51. 19.

6. शरीरप्रादेशांगुष्ठमात्रमणोरप्यण्व्यम् ध्यात्वा अतः परमतां गच्छति। मै. VI. 38.

उपस्थित की है। इस शब्द की जो व्याख्या शंकर ने की है तथा जिसे डॉयसन, मैक्समूलर, राजेन्द्रलाल मित्र आदि ने स्वीकार किया है, अन्ततः कुछ अस्वाभाविक सी जान पड़ती है। शंकर[1] ने इस शब्द का अर्थ 'आत्मज्ञानी' किया है, जो कान्ट (Kant) के 'अहम् (Ichheit) का समानान्तर है। किन्तु अभिविमान शब्द से यह अर्थ नहीं निकलता। डॉयसन[2] पूरे अवतरण को ही ऐसे स्वरूप में रख देता है कि वह शंकर की व्याख्या का समर्थन करने लगता है। जहाँ तक अभिविमान शब्द का सम्बन्ध है मैक्समूलर[3] अभिविमान शब्द का अर्थ "आत्म रूप" करता है। राजेन्द्र लाल मित्र[4] का कथन है कि इसका अर्थ "अहम् सर्वनाम से अभिप्रेत मुख्य उपादान" है। इन सब व्याख्याओं के मूल में एक भूल है। ये सब 'अभि' उपसर्ग का अधिक अर्थ निकालने की चेष्टा करती हैं। शब्दों की कितनी भी तोड़ मरोड़ करने पर भी इससे आत्मा का अर्थ नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि डॉयसन आदि ने करने का प्रयत्न किया है। क्या अभिविमान का अर्थ केवल 'मापन' करना अधिक स्वाभाविक नहीं है। तो 'प्रादेशमात्र अभिविमानम्' वाक्य मस्तक से चिवुक तक का प्रदेश मापने का समानार्थक समझा जा सकता है, और समस्त अवतरण की व्याख्या सरल हो जाती है: "वह जो आत्मा को मस्तक से चिवुक तक के वालिश्तभर प्रदेश को मापता हुआ मान कर उसकी उपासना करते हैं तथा समस्त मनुष्यों में उसकी सत्ता मानते हैं, वे सम्पूर्ण लोकों में, समस्त प्राणियों में तथा समस्त आत्माओं में अन्न का उपभोग करते हैं" (मूल० १७–ग)। वस्तुतः इस अवतरण में हमें उस आत्मा की उपासना का आदेश दिया गया है, जो मस्तक से चिवुक तक के वालिश्तभर प्रदेश के अन्तर्गत निवास करती है और जो इसी कारण मस्तक की स्वामिनी है, जो हिन्दू विचार जगत् में उत्तमांग माना गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्रो० जेम्स आत्मा की भावना को (आत्मानुभूति को) उसकी कुछ मस्तिष्कगत प्रक्रियाओं में खोज सके तथा यह स्वीकार कर सके कि "यदि ध्यानपूर्वक परीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि

---

1. प्रत्यगात्मतयाऽभिविमीयतेऽहमिति शायत इत्यभिविमानः। C. on छां. V. 18. 1.
2. Sechzig Upanishad's pp. 150–151.
3. Sacred Books of the East. Vol. I. p. 88.
4. Twelve Principal Upanishads by Tukaram Tatya. p. 578.

आत्माओं की आत्मा (परम्-आत्मा) मस्तिष्क के अथवा मस्तिष्क और कण्ठ के अन्तवर्ती प्रदेश में होने वाली कुछ प्रक्रियाओं का समुच्चय है।"[1]

२१. आत्माः अणोरणीयान् महतो-महीयान्

यहाँ तक हम आत्मा की आयतनिक कल्पना के निश्चित रूप से ऐतिहासिक नहीं तो तार्किक विकास के कुछ स्तर देख चुके हैं। पहले चावल अथवा जौ के दाने के बराबर समझी जाने के बाद, वह अंगुष्ठ-मात्र आकार की समझी जाने लगी, फिर प्रादेश मात्र आकार की। कौषीतकी उपनिषद् में आत्मा को पूर्ण शरीर में परिव्याप्त तथा पेटी में छुरे के समान सन्निहित बतलाया गया है। अब हम शरीर के किसी भी अंग विशेष से अनियन्त्रित तथा अनन्त और दिगन्त-व्यापिनी आत्मा की कल्पना तक आते हैं। मुण्डकोपनिषद् में आत्मा को "नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतमात्र के उद्भव का मूल और केवल ज्ञानियों द्वारा दृश्य" बतलाया गया है। कठोपनिषद् अपने इस कथन द्वारा मुण्डकोपनिषद् के मत का समर्थन करती है कि "ज्ञानी पुरुष इस महान् तथा विभु-आत्मा को पहचान कर शोक करना छोड़ देते हैं" (मूल० १७–घ)। मैत्री उपनिषद् के आकार सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों में से किसी को भी न चुन सकने के कारण उन सबको एकत्र करके सार-ग्रहण-परता (सार-ग्राहिता) का बड़ा अनिर्दिष्ट रूप हमारे सामने रखती है। यह हमें बतलाती है कि "मनुष्य आत्मा का ध्यान करके परम-गति को प्राप्त होता है, जो अणु से भी सूक्ष्म, अथवा अंगुष्ठ मात्र अथवा प्रादेश मात्र अथवा शरीर के आकार की है" (मूल० १७–ङ)। इस अनिर्दिष्ट कथन से उक्त उपनिषद् द्वारा प्रतिपाद्य किसी सिद्धान्त का ग्रहण करना कठिन है। इस अवतरण की एक और भी व्याख्या की जा सकती है, जैसा कि कॉवेल (Cowell) और मैक्समूलर (Max Muller) ने भाष्यकार रामतीर्थ का अनुकरण करते हुये किया है। किन्तु भाष्यकार रामतीर्थ के साथ यह कहना कि "आत्मा शरीर-स्थित प्रादेश मात्र आकार के हृदय में अंगुष्ठ मात्र आकार की है", हमारी कठिनाई को किसी प्रकार कम नहीं कर देता। उपनिपद्-कारों ने इन विरोधी सिद्धान्तों का कि आत्मा चावल अथवा जौ के आकार की है तथा विभु और सर्व-व्यापक है, समन्वय करने की आवश्यकता का अनुभव किया है, यह कठोपनिषद् के एक-एक अवतरण से ज्ञात होता है, जो हमें इस सिद्धान्त में विश्वास करने का निर्देश करता है कि "आत्मा अणोरणीयन् महतो महीयान् अर्थात्

1. Principles of Psychology I. 301.

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है; और हृदय में संस्थित है" (मूल० १७—च)। छान्दोग्योपनिषद्-कार ने एक समान-रूप से विरोधाभास-पूर्ण अवतरण द्वारा कठोपनिषद् के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है, जहाँ वह यह कहता है कि "मेरी हृदय-स्थित आत्मा चावल, जौ, सरसों अथवा गाई के दाने से भी सूक्ष्म है, फिर भी मेरी आत्मा, जो हृदय में सन्निहित है, पृथ्वी से भी बड़ी है, आकाश से भी बड़ी है; स्वर्ग से भी बड़ी है तथा इन समस्त लोकों से भी बड़ी है" (मूल० १७—च)। आत्मा के आयतनिक कल्पना-मूलक सिद्धान्तों का न्याय-संगत समन्वय इन्हीं विरोधाभासों में मिलता है और आत्मा को समस्त आयतनिक बन्धनों से परे मानने के अतिरिक्त इस कठिनाई से बाहर निकलने का और कोई मार्ग नहीं है।

२२. चेतना की अवस्थाओं का विश्लेषण

फिर भी जहाँ तक आत्मा को शरीर में संस्थित माना गया है, वहाँ तक उसकी विविध मानसिक अवस्थाओं की परिणति को भी स्वीकार करना होगा। माण्डूक्योपनिषद्-कृत चेतना की चार अवस्थाओं का विश्लेषण सचमुच बड़ा सूक्ष्म है; तथा समय की दृष्टि से उसे असाधारण मानना चाहिये। मनोविज्ञान में मन की "प्रज्ञातीत" (तुरीय) अवस्था की कल्पना का श्रेय, जो वर्तमान मनोवैज्ञानिक स्वामी विवेकानन्द को देते हैं, न्यायदृष्टि से माण्डूक्योपनिषद्-कार को देना चाहिये। माण्डूक्योपनिष-द्कार का कथन है कि चेतना की केवल तीन ही अवस्थायें नहीं है किन्तु एक चौथी अवस्था भी माननी चाहिये, जो प्रज्ञातीत अथवा तुरीय कह-लाती है। किन्तु हमारे विचार से 'प्रज्ञातीत' इस चौथी अवस्था के नामकरण के लिये उपयुक्त शब्द नहीं: 'चेतना की प्रज्ञातीत (चेतनातीत) अवस्था व्याकरण व्यतिक्रम है। अतः हम इस चौथी अवस्था को 'आत्म चेतना' कहेंगे। इस प्रकार उक्त उपनिषद् के अनुकूल आत्मा चार अवस्थाओं का अनु-भव करती है—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, और आत्म-चेतना (तुरीय)। "आत्मा चतुष्पदी है। पहली अवस्था जागृति है, जब आत्मा बाह्य पदार्थों का ज्ञान रखती है तथा भौतिक वस्तुओं का उपभोग करती है; इस अवस्था में उसे वैश्वानर कहते हैं। दूसरी अवस्था स्वप्न है जब आत्मा को आभ्यरिक पदार्थों की चेतना होती है और वह सूक्ष्म पदार्थों का उपभोग करती है; इस अवस्था में उसे तेजस् कहते हैं। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है, जब मनुष्य को न कोई कामना होती है, और न वह कोई स्वप्न देखता है। इस प्रकार आत्मा की तीसरी अवस्था सुषुप्ति है जब आत्मा आत्मसंस्थित होने के कारण तथा

ज्ञानमय और आनन्दमय होने के कारण आनन्द का उपभोग करती है, इस अवस्था में उसे प्राज्ञ कहते हैं। आत्मा की चौथी अवस्था तुरीय अथवा आत्म-चेतना है, जब न वाह्य सृष्टि की चेतना रहती है और न अन्तसृष्टि की, और न दोनों के समन्वय की; जब आत्मा केवल ज्ञान का पुञ्जीभूत-स्वरूप नहीं होती, क्योंकि वह चेतना और अचेतना दोनों से परे होती है; जब वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्तन, अव्ययदेश्य, एकात्म्य-प्रत्यय-सार, प्रपंचोपशम, शान्त, शिव, तथा अद्वैत होती है, तभी वह आत्मा कहलाने की अधिकारिणी है" (मूल० १८)।

२३. पिण्ड और ब्रह्माण्ड

आत्मा की जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और आत्म-चेतना अथवा तुरीय इन चार अवस्थाओं में आत्मा की चार पृथक्-पृथक् संज्ञाओं वैश्वानर, तेजस्, प्राज्ञ और आत्मा—का आगे चलकर व्यवस्थित वेदान्त-दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि माण्डूक्योपनिषद् को एक परवर्ती उपनिषद् मानते हैं। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि इस उपनिषद् में इनके सांगतिक विश्वात्मा की चार अवस्थाओं का उल्लेख नहीं किया गया। परवर्ती वेदान्त में इन चार अवस्थाओं में विश्वात्मा की चार अवस्थाओं का उल्लेख नहीं किया गया। परवर्ती वेदान्त में इन चार अवस्थाओं में विश्वात्मा की चार पृथक्-पृथक् संज्ञायें क्रमशः विराज, हिरण्यगर्भ, ईश और ब्रह्म हैं। पिण्ड की चार स्थितिओं के अनुरूप ब्रह्माण्ड की भी चार स्थितियाँ हैं। विश्वात्मा क्रमशः प्रत्येक अवस्था में आत्मा के अनुरूप समझी जाने लगती है; और विश्व आत्मा का ही रूप बन जाता है। यद्यपि यह कल्पना उपनिषदों में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं हो सकी है, हम उनमें इस सिद्धान्त की ओर झुकाव के लक्षण देखते हैं। लाइब्नीज़ (Leibnitz) का प्रतिबिम्बवाद (Theory of Representation) छान्दोग्योपनिषद् में इतने पूर्व ही वर्तमान है: "इस ब्रह्मपुर (शरीर) में पद्मनिभ एक छोटा-सा प्रान्त (हृदय) है, और उसमें एक सूक्ष्म अन्तराकाश है, जो इस अन्तराकाश के अन्तर्गत निवास करता है, वह सचमुच खोजने तथा जानने योग्य है; हृदय का अन्तराकाश बाह्याकाश के ही समान है, स्वर्ग और पृथ्वी, अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत और नक्षत्र इसके अन्तर्गत हैं" (मूल० १९)। यहाँ हम इस सिद्धान्त का मूल रूप पाते हैं कि पिण्ड को ब्रह्माण्ड का ही लघु-रूप समझना चाहिये और ब्रह्माण्ड को पिण्ड का विस्तार समझना चाहिये तथा प्रत्येक पदार्थ को पूर्ण सत्य का प्रतिबिम्बक दर्पण मात्र है। इसी सिद्धान्त

की प्रतिच्छाया लाइब्नीज़ में पाई जाती है जब वह यह कहता है कि : "विश्व के कण-कण में जीव-जन्तुओं, पशुओं, सिद्धियों, आत्माओं का एक विश्व है। प्रत्येक परमाणु मछलियों से भरे तालाब के समान है।"[1]

२४. आत्मा के कोश

उपनिषदीय मनोविज्ञान का एक और मनोरंजक विषय आत्मा के कोशों का निरूपण है। वर्तमान थियोसॉफ़ी (Theosophy) ने इन आत्म-कोशों की कल्पना को कितना महत्व दिया है इसे सभी जानते हैं। इन्हीं कोशों के अनुरूप उन्होंने सात धरातलों की कल्पना की है जिन पर, उनके अनुसार, मनुष्य के भिन्न-भिन्न कोश क्रियाशील रहते हैं। इनके लोक क्रमशः मृत्यु-लोक, नक्षत्रलोक, मनोलोक, विज्ञानलोक, पितृलोक, बिन्दुलोक तथा देवलोक हैं। हमें यह देखना है कि उपनिषदीय सिद्धान्त के प्रकाश में यह कल्पना कहाँ तक युक्ति-संगत है। केवल तैत्तिरीय ही एक ऐसी उपनिषद् है जिसमें हम इस प्रकार के एक सिद्धान्त का उल्लेख पाते हैं। इसके दूसरे अध्याय में हमें बतलाया गया है कि शरीर के अन्नमय कोश के अन्तर्गत एक प्राणमय कोश है; अन्नमय कोश प्राणमय कोश से परिपूर्ण है, जो मनुष्याकार है। प्राणमय कोश के अन्तर्गत मनोमय कोश है, प्राणमय कोश मनोमय कोश से परिपूर्ण है, जो मनुष्याकार है। मनोमय कोश के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश है; यह मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से परिपूर्ण है, जो पुरुषाकार है। अन्त में, विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आनन्दमय कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश से परिपूर्ण है, जो पुरुषाकार है" (मूल० २०—क)। यहाँ हमें यह बतलाया गया है कि शरीर में अनेक कोश अथवा देह अन्तर्निहित हैं, मानों शरीर पैन्डोरा की मंजूषा (pandora's Box) के समान है। यह भी कहा गया है कि ज्ञानी वही है जो इन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों को जानता है। प्रत्येक अन्तर्देह (कोश) एक बाह्यदेह से समावृत है; ये सब देह (कोश) पुरुषाकार हैं। पंच-कोशों की कल्पना का आधार ऐसा ही कोई अवतरण है।

२५. आधुनिक उपपत्ति के दोष

आधुनिक थियोसॉफ़िस्टों के हाथों इस "कोशवाद" ने एक असाधारण महत्व ग्रहण कर लिया है। उनका कथन है कि मनुष्य का सूक्ष्म शरीर बिल-

1. Monadology, 66–67.

कुल शरीर के आकार का होता है और मनुष्य की मृत्यु के कुछ दिन बाद तक रहता है, बच्चों का सूक्ष्म शरीर मृत्यु के केवल तीन दिन बाद तक रहता है। अघेड पुरुष का सूक्ष्म शरीर आशौच पर्यन्त रह सकता है। स्वप्नों में जब हम अपने आकाश में पक्षी की भाँति उड़ने अथवा मछली के समान जल[1] में तैरने का विचित्र अनुभव करते हैं, तो हमारा सूक्ष्म शरीर ही मानों एक प्रकार के परिस्राव से अपना अनुभव हमारे शरीर में अभिप्रेरित करता रहता है; उपनिषदों का पंच-कोश-विधान शरीर के "व्यक्त शरीरों" मात्र का निदर्शन है, इसके अतिरिक्त मनुष्य के दो अव्यक्त शरीर और हैं, जिन्हें बिन्दु-शरीर और दिव्य-शरीर; अथवा अनुपादक और आदि अथवा बौद्ध परिभाषा के अनुकूल परिनिर्वाण और महा-परिनिर्वाण कह सकते हैं। जहाँ तक हमारा विचार है, इस सिद्धान्त का मूल दोष यह है कि इसमें शब्दों को ही वस्तु रूप में ग्रहण कर लिया गया है, साथ इस सिद्धान्त में यह समझने की चेष्टा नहीं की गई कि उपनिषदों में जिन्हें लाक्षणिक रूप से मनुष्य के कोश अथवा शरीर कहा गया है वे कुछ मानसिक भावनाओं के आलंकारिक प्रतीक मात्र हैं। मनुष्य का निर्माण एक स्थूल शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा ब्रह्मानन्द-विहारणीया वृत्ति के समन्वय से हुआ है। यह केवल उतना ही है, जितना कि हमारे प्रासंगिक अवतरण का अर्थ है। इसके मात्र मनोवैज्ञानिक पक्ष की उपेक्षा करके इस सिद्धान्त के आधार पर एक अतीन्द्रिय-दर्शन का विधान कदाचित् ही युक्ति-संगत हो। भगवान् शंकराचार्य ने 'कोशों' को स्वीकार किया, किन्तु उन्होंने उनकी काल्पनिक सत्ता मात्र मानी। हमें विवेक-पूर्वक[2] इन पाँचों भिन्न-भिन्न कोशों में भेद करना होगा और अपनी शुद्ध-शाश्वत आत्मा को स्थूल देह, प्राण, मन, बुद्धि तथा आनन्दमय कोश[3] से भी परे खोजना

1. The Spencerianes would explain these experiences as being due to a remnant of racial experience that may have been transmitted to the individual.
2. अन्नप्राणमनोमयविज्ञानानंदपंचकोशानाम्।
एकैकांतरभाजां भजति विवेकात्प्रकाश्यतामात्मा ।। स्वात्मनिरूपणम्।
3. Contrast his C. on Taittiriya III. 6 एवं तपसा विशुद्धात्मा (अन्न) प्राणादिषु साकल्यने ब्रह्मलक्षणमपश्यन् शनैः शनैरन्तरनुप्रविश्य अन्तरतममानंदं ब्रह्म विज्ञातवान् तपसैव साधनेन भृगुः with C. on Taittiriya II. 2 अन्नमयादिभ्य आनंदमयांतेभ्य आत्मभ्योऽभ्यंतरतमं ब्रह्म विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषुः शास्त्रमविद्याकृतं पंचकोशापनयनेन अनेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततन्डुलान् प्रस्तौति।

होगा। हमें ब्रह्म को आनन्दमय चेतना से एक रूप समझना चाहिये अथवा ब्रह्म को इससे भी परे खोजना चाहिये, इस विषय में शंकराचार्य ने कोई निश्चित मत प्रतिपादित नहीं किया। फिर भी, उनका यह सिद्धान्त निश्चित है कि कोशों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, अतः इन कोशों की कल्पना के आधार पर जिन सिद्धान्तों का विधान हुआ है वे अज्ञान-मूलक हैं।

२६. कोशवाद का मूलरूप आत्मवाद

अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द आदि शब्दों का वास्तविक अभिप्राय विविध कोशों से नहीं है, यह तैत्तिरीयोपनिषद् के ही एक अवतरण से जाना जा सकता है, जहाँ उपनिषद्-कार जगत् की मूल-प्रकृति की विवेचना करता है, और वह पदार्थ, प्राण, मन, बुद्धि को परम-तत्व मानने वाले सिद्धांतों का खण्डन करता है और अन्त में इस परिणाम पर पहुँचता है कि 'आत्मानुभूति-जन्य आनन्द, ही सत्य का एकमात्र मूल-स्रोत मानने योग्य है। तैत्तिरीयोपनिषद्-कार भृगु को उनके पिता वरुण के पास परम ब्रह्म-विद्या सीखने के लिये भेजता है। भृगु ने पिता से परम सत्य के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया। वरुण ने उन्हें तपः साधना द्वारा स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया। उन्होंने केवल इतना निर्देश भर दिया कि परम सत्य अथवा ब्रह्म एक ही होना चाहिये; "जिससे समस्त पदार्थ-जगत् का उद्भव हो, जिसमें समस्त पदार्थ-जगत् की स्थिति हो तथा अन्त में जिसमें समस्त पदार्थ-जगत् का निलय हो।" तपः साधना करने के बाद भृगु ने लौट कर पिता से कहा कि अन्न को परम सत्य माना जा सकता है। पिता को इससे सन्तोष न हुआ और उनसे पुनः तपः करने को कहा। भृगु ने फिर आकर कहा कि प्राण को परम-सत्य माना जा सकता है। और शेष कई बार उन्होंने ऐसे ही उत्तर दिये। पिता को भृगु के इन उत्तरों से कि प्राण, मन और बुद्धि परम सत्य माने जा सकते हैं सन्तोष न हुआ। अन्त में, भृगु ने यह उत्तर दिया कि आनन्दमय आत्मानुभूति को समस्त जगत् का उद्गम माना जा सकता है। यहीं उपनिषद् समाप्त हो जाती है और हमारे लिये यह जानने का कोई साधन शेष नहीं रह जाता कि भृगु के इस अन्तिम उत्तर से उनके पिता को सन्तोष हुआ अथवा नहीं। हमें केवल इतना ही बतलाया गया है कि यह ज्ञान रहस्य रूप से सदा "भार्गवी-विद्या" के नाम से प्रसिद्ध रहेगा तथा यह "परम स्वर्ग में भी प्रतिष्ठित है" (मूल० २०—ख), अर्थात् देवता भी इसका आदर करते हैं।

२७. पुनर्जन्म की कल्पना आर्य है

अब हम उपनिषदों के पुनर्जन्म सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे, किन्तु हम इसका पृष्ठ–देश अथवा इसका उपनिषदीय वाङ्मय से पूर्ववर्ती स्वरूप बिना देखे इसके पूर्ण महत्व को नहीं समझ सकते। पुनर्जन्म के प्रश्न को प्राचीन भारतीय-दर्शन की एक जटिल-ग्रन्थि समझना अयुक्त न होगा। हमें प्रायः बतलाया गया है कि पुनर्जन्म की कल्पना भारतीय विचार-जगत् में बहुत परवर्ती युग की सृष्टि है, यह ऋग्वेद के समय में वर्तमान न थी, यह एक अनार्य कल्पना है, जैसा कि प्रो० मैकडॉनल (Prof. Macdonell) ने कहा है कि "यह अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है कि आर्यों ने इसकी मूल प्रेरणा भारत[1] के मूल निवासियों से ग्रहण की थी। यद्यपि भारतीय आर्यों ने इस कल्पना का प्रतिग्रहण अनार्यों से किया, फिर भी उसको परम-मुक्ति से सम्बद्ध एक जन्म-मालिका के रूप में सुव्यवस्थित विस्तार देने का श्रेय आर्यों को ही मिलना चाहिये।" यह कह देने के बाद कि पुनर्जन्म की कल्पना अनार्य है तथा आर्यों ने इसका प्रतिग्रहण भारत के मूल-निवासियों से किया, मैकडॉनल को पाइथैगोरस में इस सिद्धान्त के पाये जाने का समाधान करने के लिये यह कहना पड़ा कि "भारतीय दर्शन और विज्ञान पर पाइथैगोरस की निर्भरता बहुत परिमाण में सम्भव जान पड़ती है। पाइथैगोरस की पुनर्जन्म की कल्पना असम्बद्ध तथा व्याख्यात्मक पृष्ठ–देश रहित जान पड़ती है। ग्रीक इसे विदेशी मानते थे। वह ईजिप्ट (Egypt) से इसका प्रतिग्रहण नहीं कर सकता था क्योंकि प्राचीन मिश्र निवासी इससे अपरिचित थे।"[2] सन् १८९४ में हर रोहडे (Herr Rohde) के 'ग्रीकों' का मन और आत्मवाद, तथा 'अमरत्व सिद्धान्त' (Psyche, Seelenkult and Unsterblichkeitsglaube der Griechen) नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद से हम यह समझने लगे हैं कि किसी भी जाति में, कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत, पुनर्जन्म की कल्पना का मूल उसके ही जाति-विज्ञान-मूलक मनोवैज्ञानिक विकास में ही है, देशों के अप्रमाणित तथा अप्रामाण्य परस्पर अन्तर्प्रभाव में नहीं। इसी सफल सिद्धान्त के आधार पर हम ग्रीस में पुनर्जन्म की कल्पना का उद्भव और निरन्तर विकास होमर (Homer) से लेकर आर्फियस (Orpheus) के द्वारा पाइथैगोरस (Pythagoras) तक देखते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम भारतीय आर्यों में पुनर्जन्म

---

1. History of Sanskrit Literature, p. 387.
2. Loc. cit. p. 422.

की कल्पना का विकास ऋग्वेद से लेकर, ब्राह्मणों में होकर उपनिषदों तक विना किसी अनार्य प्रभाव की अपेक्षा के पाते हैं। अतः अनार्य आ-प्रतिदान का प्रश्न तो दूर है, वरन् पुनर्जन्म की कल्पना का विकास स्पष्ट-रूप से आर्य विचार क्षेत्र में हुआ है।

२८. ऋग्वेद में पुनर्जन्मः दशम् मण्डल

यह सत्य है कि ऋग्वेद के अधिकांश में पुनर्जन्म की कल्पना का प्रसंग नहीं पाया जाता। भारतीय आर्यों की आमोद-प्रमोद-शील प्रवृत्ति के कारण मरणोत्तर जीवन के विषय में अधिक विचार करना उनके लिये एक प्रकार से असम्भव सा हो गया। वे देवलोक में विश्वास रखते थे, पितृलोक में विश्वास रखते थे और उन्हें अन्य किसी वस्तु में विश्वास करने की चिन्ता नहीं थी। यह जानना भर उनके लिए पर्याप्त था कि दिव्य पुरुष स्वर्ग को जाते हैं, "जिसमें मधु[1] की प्रचुरता है तथा साधारण पुरुष यमलोक में जाते हैं जहाँ यमराज अपने चारों ओर मनुष्यों के दल एकत्र कर बैठते हैं। यह लोक भी अस्पृहणीय नहीं, जहाँ जाने से, ऐसा प्रतीत होता है, कोई भी पुरुष वंचित नहीं किया जा सकता।"[2] यह मान लेने पर भी कि पुनर्जन्म की कल्पना ऋग्वेद में प्रमुख नहीं है, यह सत्य अक्षुण्ण रहता है कि उसके कुछ स्थलों में पुनर्जन्म की कल्पना तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। इस कल्पना का प्रथम चरण जगत की समस्त वस्तुओं को सजीव मानना है। दशम् मण्डल के सोलहवें सूक्त के एक मन्त्र में, जिसमें एक अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है, ऋषि ने मृत पुरुष की आँख को पुनः सूर्य में निलीन हो जाने का आदेश दिया है, जो ब्रह्माण्ड में इसका सांगतिक तत्व है, प्राण को वायु में, जो उसका सांगतिक विश्वरूप है, तथा आत्मा को अपने धर्म के अनुकूल स्वर्ग अथवा पृथ्वी लोक में जाने अथवा, यदि उसे उचित जान पड़े तो, जल तथा वनस्पतियों में भी विहार करने का आदेश दिया गया है। इस मन्त्र में यद्यपि पुनर्जन्म के यथेष्ट भाव का ग्रहण नहीं किया गया है, फिर भी वस्तु प्राणवाद (Animistic) की ओर इसका कुछ निश्चित संकेत अवश्य

---

1. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति
   उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ऋ i. १५४-५
2. यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
   यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना यज्ञानाः पथ्या ३ अनु स्वाः ॥
   ऋ. x. १४. २

है किन्तु इसका धर्म शब्द महत्वपूर्ण है। इसमें कर्म सिद्धान्त का प्राचीनतम स्वरूप मिलता है, विशेषकर जबकि आत्मा को अपने (धर्म) गुणानुकूल स्वर्ग अथवा संसार में जाने का आदेश दिया गया है।[1] किन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक दूसरे मन्त्र में इससे भी अधिक निश्चित अवतरण मिलता है, जहाँ वस्तु प्राणवाद का प्रतिपादन और भी दृढ़ता से किया गया है। उसमें हम निश्चित रूप से यह जान सकते हैं कि सम्पूर्ण मन्त्र[2] एक वियुक्त आत्मा के प्रति सम्बोधित किया गया है, तथा कवि कहता है कि वियुक्त आत्मा को फिर आने और पुनः जीवन-धारण के लिए आह्वान कर रहा है। कवि कहता है कि "वह यमलोक-गत आत्मा को पुनः बुलाकर उसे एक बार फिर जीवन धारण करायेगा। वह कहता है कि आत्मा जो स्वर्ग अथवा पृथ्वी अथवा चतुष्कोण नभो-मण्डल में जा सकती है, अथवा दिशाओं में व्याप्त हो सकती है, अथवा जल की लहरों, सूर्य की किरणों में आश्रय ग्रहण कर सकती है अथवा जल और वनस्पति को अनुप्राणित कर सकती है, अथवा सूर्य; उषा में विलीन हो सकती है, अथवा पर्वत पर विश्राम कर सकती है, अथवा समस्त जगत में फैल सकती है; अथवा भूत और भविष्य से एक रूप हो सकती है," उसी आत्मा को, कवि कहता है कि वह मन्त्रों द्वारा आह्वान करेगा और उसे एक निवास ग्रहण करने को बाध्य करेगा। निस्सन्देह मन्त्र-शक्ति में बड़ा विश्वास है! किन्तु यह सत्य है कि समस्त मन्त्र वस्तुप्राणवाद के वातावरण से ओतप्रोत हैं और कवि हमें यह अनुभव करने को बाध्य कर देता है कि आत्मा मृत्यु के उपरान्त पूर्णतः नष्ट नहीं होती, वरन् पंच-महाभूतों में मिल जाती है।

२६. ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना : प्रथम मण्डल

किन्तु वस्तु प्राणवाद ऋग्वेद का अन्तिम शब्द नहीं है। ऋग्वेद में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्र है, जिसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। रौथ (Roth), बोहटलिन्क (Bohtlingk) तथा गैल्डनर (Geldner) ने कम से कम उस मन्त्र की दो ऋचाओं में जो अर्थ पाया है, उसकी भी बड़ी विस्मय-जनक उपेक्षा की गई है। फिर भी, यह आश्चर्य की बात है, कि लोग कहते हैं कि ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं पाई

1. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितं ओषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥
ऋ. X. १६.३.
2. Rigveda X. 58. 1-12.

जाती। जिस मन्त्र का यहाँ प्रसंग है, वह प्रथम मण्डल का एक सौ चौसठवाँ मन्त्र है, जिसमें बावन ऋचायें हैं और अज्ञेयवाद-मूलक रहस्यवाद के प्राणों से परिप्रोत है। इसका कथन है जिसने इस सृष्टि की रचना की वह स्वयं इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता।[1] यहाँ आत्मज्ञान को इतना महत्व दिया है कि जो कोई, जैसा कि मन्त्र का वचन है, इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह अपने पिता का भी पिता हो जाता है।[2] यह असंदिग्ध सत्य है कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में पाये जाने के कारण ही यह मन्त्र ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए यह सुगम एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करता है,[3] जो विचार-विकास के परवर्ती युग की सृष्टि है। यह उसी ऋचा को उद्धृत कर देता है,[4] जिसे हम प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में पाते हैं, जो वैदिक युग की परवर्ती सृष्टि माना गया है। इसमें 'द्वा सुपर्णा' वाली प्रसिद्ध ऋचा भी है,[5] जो मुण्डकोपनिषद् में इतना महत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है। इन सब बातों से यही प्रतिलक्षित होता है कि ऋग्वेद का यह मन्त्र, जिसकी हम समीक्षा कर रहे हैं, प्रथम मण्डल में होते हुए भी ऋग्वेद का एक परवर्ती मन्त्र है। किन्तु यह निर्विवाद है कि यह पुनर्जन्म के प्रश्न पर जो विपुल प्रकाश डालता है, उसकी आश्चर्य-जनक उपेक्षा हुई है। हैराक्लाइटसीय (Heracleitean) शैली में होते हुए भी जिसमें समस्त मन्त्र की रचना हुई है, तथा अग्नि, गाय, वत्स आदि की विविध कल्पनायें होते हुए भी, सम्पूर्ण मन्त्र में एक मनोवैज्ञानिक सूत्रधारा है; तथा 'द्वा सुपर्णा' अर्थात् आत्मा और विश्वात्मा का प्रसंग यह स्पष्ट कर देता है कि कवि अव्यक्त रूप से तथा आलंकारिक रूप से आत्मा के स्वरूप तथा आत्मा और विश्वात्मा के सम्बन्ध की अभिव्यंजना कर रहा है। उदाहरण के लिए कवि पूछता है कि "अन्तर्जीवन-सार अस्थिविहीन आत्मा के अस्थि-मय शरीर-धारण की यथार्थ प्रक्रिया को प्रत्यक्ष देखा है? कौन जो इसको

---

1. य ईं चकार न सोऽस्य वेद। ऋ. I. १६४. ३२.
2. कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पिता सत्।
   ऋ. I. १६४. १६.
3. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातारमवानमाहुः ॥
   ऋ. I. १६४. ४६.
4. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ. I. १६४. ५०.
5. द्वा सुपर्णा सयुजा सखया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋ. I. १६४. १७

स्वयं नहीं जानता। अपने से बाहर निकल कर ज्ञानी के पास ज्ञान प्राप्त करने गया है ?"[1] तब ऋषि ने स्पष्टरूप से कहा है कि "यह प्राण-युक्त, प्रगति-युक्त, चैतन्य-युक्त जीवन-तत्व मृण्मय शरीर में प्रतिष्ठित है।"[2] इसके अतिरिक्त वह हमें बतलाता है कि 'नित्य-तत्व, अनित्य-तत्व से मिलकर अपनी प्रकृत शक्ति के अनुकूल आगे पीछे चलता रहता है।' किन्तु कवि कहता है कि यह आश्चर्य की बात है कि अनित्य और नित्य तत्वों की प्रगति निरन्तर विपरीत दिशाओं में रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ लोग एक को देख पाते हैं वहाँ दूसरे को नहीं देख पाते।[3] इन दो ऋचाओं को रॉथ, बोहटलिन्क तथा गैल्डनर ने ओल्डेनबर्ग के विरुद्ध ऋग्वेद के अन्तर्गत पुनर्जन्म की कल्पना का पर्याप्त प्रमाण माना है। उनकी यह धारणा सत्य है कि ये ऋचायें हमें यह बतलाती हैं कि आत्मा चैतन्य-युक्त, प्रगति युक्त, जीवन-तत्व है, जो आता जाता है, आगे पीछे चलता है, शरीर के संसर्ग में आता है, फिर इससे विपरीत दिशा में जाता है। ओल्डेनबर्ग का अड़तीसवीं ऋचा को प्रातः और सन्ध्या ताराओं से सम्बद्ध समझना स्पष्ट रूप से अयुक्त है; जैसा कि वह स्वयं स्वीकार करेंगे, ऋचा का प्रतिपाद्य विषय नित्य और अनित्य तत्व है। किन्तु इस सिद्धान्त का चरम बिन्दु वहाँ पर है जहाँ कवि हमें यह बतलाता है कि उसने स्वयं शरीर के संरक्षक को अविच्छिन्न रूप से आगे पीछे के मार्गों से जाते हुए, विकीर्ण ज्योतिपुंज से आवृत्त तथा प्रायेण इस लोक में आते (कदाचित् मनश्चक्षु से) देखा।[4] यह शरीर संरक्षक आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं, यह इस बात से स्पष्ट है कि किस प्रकार इकत्तीसवीं ऋचा, तीसवीं ऋचा के बाद तत्काल आती है, जिसमें प्राणयुक्त, प्रगतियुक्त, चैतन्ययुक्त जीवन-तत्व का वर्णन है। इसके अतिरिक्त "विरीवर्ति" हमें यह बतलाती है कि आत्मा

---

1. को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वंतं यदनस्था बिभर्ति।
   भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्॥
   ऋ. I. १६४. ४.
2. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। ऋ. I. १६४.३०
3. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
   ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥
   ऋ. I. १६४. ३८.
4. अपश्यं गोपामनिपद्यमानं आ च परा च पथिभिश्चरंतम्।
   स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति॥
   ऋ. I. १६४. ३१.

वहुधा इस लोक में आती है। इसी भाव की उत्कृष्ट कल्पना के साथ कवि ने हैराक्लाइटसीय शैली में, उनका वर्णन किया है जो इतरगामियों की भाँति आते हैं तथा इधर लौटने वाले इतरगामियों का भी वर्णन किया है,[1] जैसे कि हैराक्लाइटस देवताओं के मर्त्य और मर्त्यों के देवता होने के विषय में कहता।

३०. पुनर्जन्म की कल्पना का जाति-विज्ञान-मूलक वैज्ञानिक विकास

हमें मरणोत्तर जीवन की वैदिक कल्पना की इतनी विस्तृत समालोचना यह प्रमाणित करने के लिए करनी पड़ी कि पुनर्जन्म की कल्पना के तीन अङ्ग—(१) आत्मा का शरीर से प्रस्थान; (२) जल, वनस्पति आदि उपादानों में उसका निवास; (३) शरीर में पुनरागमन—अव्यक्त रूप से ऋग्वेद तक पाये जाते हैं। जव इनका संयोग भावी-जीवन के स्वरूप के निर्णायक धर्म से हो जाता है, तव तो, हम देखते हैं कि, इस हठ का कोई कारण नहीं रह जाता कि पुनर्जन्म की कल्पना अनार्य है, तथा इसे आर्यों ने भारत के मूल निवासियों से ग्रहण किया तथा किसी अज्ञेय रूप से इस कल्पना ने भारत के अतिरिक्त देशों और संस्कृतियों में भी मार्ग बना लिया। जाति-विज्ञान-मूलक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल प्रायः प्रत्येक जाति अपने ही यथेष्ट मनोवैज्ञानिक विकास के अन्तर्गत पुनर्जन्म की कल्पना की सम्भावना शक्ति रखती है। यह कहने के लिए कि ग्रीस ने पुनर्जन्म की कल्पना का प्रतिग्रहण भारत से किया, हमारे पास इससे अधिक कारण नहीं है, जितना कि हमारे पास यह कहने के लिए है कि मिश्र ने यह भाव भारत से ग्रहण किया। यदि प्रो० कीथ[2] (Prof. Keith) इस वात को स्वीकार करते हैं कि ईजिप्ट (मिश्र) वालों का स्वयं यह विश्वास था कि मृत पुरुष "पृथ्वी पर विचरण करने आता है; उन स्थानों का निरीक्षण करता है जो उसे अपने जीवन-काल में प्रिय थे, अपने को वाज, गृद्ध, साँप, मगर, वालिका आदि किसी वेष में परिणत कर लेता है", तो उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं कि "यह पुनर्जन्म है, किन्तु यह पुनर्जन्म ग्रीस तथा भारत

1. येऽर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ॥
   ऋ. I. १६४. १९.
2. R. A. S. Journal 1909 p. 569 seq.: "Pythagoras and transmigration."

के पुनर्जन्म से भिन्न है ।" जहाँ कहीं भी आत्मा के एक वाह्य दिव्य-तत्व के रूप में शरीर में आकर निवास करने की सम्भावना स्वीकार की गई है, जहाँ कहीं भी यह कल्पना की गई है कि आत्मा जिस प्रकार शरीर में आती है, उसी प्रकार जा भी सकती है, जहाँ कहीं भी यह विचार किया गया है कि आत्मा शरीर त्याग के उपरान्त एक अशरीरी रूप में जीवन व्यतीत कर सकती है; और जहाँ कहीं भी यह माना गया है कि वह पृथ्वी पर आकर किसी भी रूप में निवास करती है, वहाँ आत्मा के शाश्वत जीवन की भावना अभिप्रेत है, जिससे पुनर्जन्म की कल्पना में विशेष अन्तर नहीं । फिर भी पुनर्जन्म की परिपूर्ण विकसित कल्पना परवर्ती युग की सृष्टि है । यद्यपि पाइथैगोरस, प्लेटो तथा भारतीय योग पद्धतियों में यह वर्तमान है, तो भी इसका पूर्ण श्रेय वैदिक ऋषियों अथवा उपनिषद्-कारों को देने का कोई कारण नहीं, जब तक कि हम वामदेव के इस अनजान से प्रवचन में कि वे पूर्व-जन्म में "मनु अथवा सूर्य थे",[1] उसकी अस्फुट सुरभि का सन्देश न पालें ।

२१. उपनिषदों में पुनर्जन्म की कल्पना : कठोपनिषद्

अब हम उपनिषदों में पुनर्जन्म की कल्पना के प्रश्न का विवेचन करेंगे । हम अभी देख चुके हैं कि ऋग्वेद के उस जटिल मन्त्र में पुनर्जन्म की कल्पना की ओर संकेत किया गया है । इसके विपरीत उपनिषदों में यह कल्पना पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुई है । जब नचिकेतस के पिता ने उससे कहा कि उन्होंने उसे यमराज को समर्पण कर दिया है, तो नचिकेतस ने उत्तर दिया कि यह उसके लिए कोई असामान्य नियति नहीं थी : "मैं वस्तुतः वहुत से लोगों का नेतृत्व लेकर परलोक में जा रहा हूँ, किन्तु मैं वहुतों के मध्य में भी जा रहा हूँ । यमराज मेरा क्या करेंगे ? हमारे पूर्वजों की ओर देखो (जो मुझसे पहले ही जा चुके हैं); उनका अनुसरण करने वालों की ओर भी देखो । मनुष्य अन्न की तरह पकता है और अन्न की भाँति ही पुनः उत्पन्न होता है" (मूल० २१—क)। नचिकेतस ने सेन्ट जॉन (St. John) के सिद्धान्त का पूर्व संकेत दिया है तथा पूर्वा-भास में ही उसने उससे अधिक कह दिया जितना कि सेन्ट जॉन अपने सिद्धान्त में कह सके : "जब तक गेहूँ का दाना भूमि पर नहीं पड़ता तब तक वह अकेला रहता है, किन्तु भूमि पर गिरते ही पुष्कल अन्नराशि उत्पन्न करता है ।"[2] सेन्ट जॉन का सिद्धान्त

---

1. अहं मनुरभवं सूर्यश्च । बृ. I. ४. १०.
2. St. John. 12-24

स्पष्ट रूप से यह नहीं कहता कि वह दाना पुनर्जन्म धारण करता है, किन्तु नचिकेतस कहता है कि जिस प्रकार एक दाना पकता है, और नष्ट होता है, तथा पुनर्जन्म धारण करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जीवित रहता है, मर जाता है और पुनर्जन्म धारण करता है।

३२. उपनिषदों में पुनर्जन्म की कल्पना : बृहदारण्यकोपनिषद्

पुनर्जन्म की कल्पना का सर्वोत्कृष्ट विवेचन बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है, जिसमें मनुष्य के मरण तथा पुनर्जन्म-धारण की प्रक्रिया का वर्णन विस्तार-पूर्वक दिया गया है। पहले हमें यह वतलाया गया है कि किस प्रकार जन्म के समय समस्त महाभूत अपने अधिपति और राजा आत्मा की सेवा में खड़े रहते हैं तथा किस प्रकार ये सब महाभूत शरीर त्याग करते समय उस की सेवा में खड़े रहते हैं। "जिस प्रकार एक राजा के आने के समय पुलिस, मजिस्ट्रेट, रथी, नगरपति, अन्न-पान और शिविर के सहित स्वागत के लिये सेवा में खड़े रहते हैं, उसी प्रकार ये समस्त महाभूत आत्मा की सेवा में "ब्रह्म आ रहा है, ब्रह्म आ रहा है" कहते हुये खड़े रहते हैं। पुनः जिस प्रकार राजा के प्रस्थान के समय सैनिक, नायक, विषयपति, रथी, नगरपति सभी उसके चारों ओर एकत्र होते हैं, उसी प्रकार मृत्यु के समय ये समस्त प्राण वायु आत्मा के चतुर्दिक एकत्र हो जाती हैं, तो आत्मा प्रकाश के समस्त कणों को संचित करके हृदय में उतर आती है; जव नयनान्तर्वर्ती पुरुष चला जाता है तो उसे कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। वह आत्मकेन्द्रस्थ हो जाता है, यही कारण है कि लोग कहते हैं कि वह देख नहीं सकता; वह आत्मरूप हो जाता है, यही कारण है कि लोग कहते हैं कि वह वोल नहीं सकता, सुन नहीं सकता, जान नहीं सकता। तव उसके हृदय का अग्रभाग प्रकाशमान हो जाता है और इस प्रकाश में होकर आत्मा नेत्र-मार्ग अथवा शिरोमार्ग अथवा शरीर के अन्य किसी भाग के मार्ग से वाहर निकल जाती है। आत्मा के निकलने के साथ ही जीव निकल जाता है। जीव के निकलने के साथ ही विविध प्राण वायु निकल जाती हैं। उसका ज्ञान, उसके कर्म, और उसकी पूर्व-प्रज्ञा उसका अनुसरण करती हैं"[1] (मूल० २१—ग)। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि

1. The verb anvarabh is understood by Max Muller and Deussen as meaning "take hold of", e.g., Deussen translates "Dann nehman ihn das Wissen und die Werke bei der Hand und seine vormalige Erfahrung"—*Sechrig Upanishads* p. 475.

इस अन्तिम वाक्य में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है; जो तनिक आगे चल कर और भी अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है, "और जिस प्रकार एक कोषकार (Caterpillar) एक दूर्वादल के अन्त तक पहुँचने पर एक दूसरा आश्रय स्थान देखता है और फिर अपने को उसकी ओर बढ़ाता है, उसी प्रकार आत्मा इस शरीर के अन्त तक पहुँचने पर एक दूसरा आश्रय स्थान देखती है और फिर अपने को उसकी ओर बढ़ाती है। और जिस प्रकार एक सुनार एक सोने का टुकड़ा लेकर उसे एक अभिनव तथा सुन्दरतर स्वरूप प्रदान करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को त्याग देने के बाद तथा अज्ञान का नाश कर देने के बाद एक अभिनव तथा सुन्दरतर स्वरूप धारण कर सकती है, चाहे वह पितृ, गन्धर्व, देवता, प्रजापति, ब्रह्म अन्य भूतों में से किसी का हो। यह आत्मा अपने कर्म और आचरण के अनुरूप ही जन्म पाती है। जिसके कर्म शुभ होते हैं उसे शुभ जन्म मिलता है। जिसके कर्म अशुभ होते हैं उसे अशुभ जन्म मिलता है। पुण्य कर्मों से यह पुण्यात्मा हो जाता है तथा पाप कर्मों से पापात्मा। इसी कारण लोग कहते हैं कि मनुष्य 'काममय' है, जैसी उसकी कामना होती है वैसा ही उसका निश्चय। जैसा उसका निश्चय होता है वैसा ही उसका कर्म। जैसा उसका कर्म होता है वैसा ही उसका फल (जन्म)" (मूल० २१–घ)। यह अवतरण कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम तो यह हमें यह बतलाता है कि आत्मा अपना भावी शरीर अपने वर्तमान शरीर को छोड़ने के पूर्व ही निश्चित कर लेती है: वस्तुत: ऐसा प्रतीत होता है कि यह अवतरण आत्मा की अदेह सत्ता में सन्देह उपस्थित करता है। फिर यह हमें यह बतलाता है कि आत्मा एक सक्रिय सत्ता है, और अरिस्टोटिल के ढंग से शरीर की सृष्टि इसी प्रकार करता है जिस प्रकार सुनार सोने का आभूषण बनाता है। इसके बाद इस अवतरण का कथन है कि आत्मा एक फीनिक्स (Phoenix) के समान है, जो प्रत्येक शरीर परिणति में अभिनव और कल्याणतर रूप धारण करता है। आगे चलकर यह आत्मा को प्रत्येक रूपान्तर में कर्म का उत्तरदायी मानता है और हमें बतलाता है कि यदि इसके कर्म शुभ होते हैं तो यह एक पुण्य शरीर धारण करता है, यदि इसके कर्म अशुभ होते हैं तो पापमय शरीर धारण करता है। आगे चलकर यही अवतरण हमें यह भी बतलाता है कि जिस मनुष्य में कोई कामना शेष नहीं है, जो पूर्ण निष्काम है, क्योंकि उसकी सभी कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं, उसकी समस्त कामनायें केवल आत्म संस्थित होने के कारण, उसकी प्राण-वायु विसर्जित नहीं होती: ऐसा पुरुष जीवन काल में ही ब्रह्म होने के कारण ब्रह्म को प्राप्त होता है।" ऐसे ही भाव का एक

अन्य श्लोक है जिसका अर्थ है कि "जब मनुष्य हृदय-स्थित समस्त कामनाओं से मुक्त हो जाता है तो वह मर्त्य होते हुये भी अमर हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त होता है" और जिस प्रकार एक मृत साँप की परित्यक्त केंचुली वल्मीकि पर पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर भी पड़ा रहता है। वस्तुतः विदेह होकर वह अमरत्व प्राप्त कर लेता हैं, उसके प्राण ब्रह्म में लीन होकर विशुद्ध तेजोमय हो जाते हैं" (मूल० २१–ङ)।

३३. पापात्मा की गति

इस शाश्वत सत्ता के विषय में हम अभी विवेचन करेंगे। इसके पूर्व हमें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि उपनिषद्-कारों ने साधारण आत्मा तथा विशेषतः पापात्मा की क्या गति निर्दिष्ट की थी। पापात्मा के विषय में बृहदारण्यक ईश, कठ आदि उपनिषदों में अनेक अवतरण हैं जो हमें यह बतलाते हैं कि उपनिषद्-कारों का यह विश्वास था कि पापात्मा की नियति आनन्दरहित, आसुरिक तथा अन्ध-तामिस्र लोकों में जाना है। उपनिषद्-कारों की यह नरक-कल्पना अन्य आर्य जातियों में भी पाई जाती है। उपनिषदों में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये पापात्मायें इन अन्ध-तामिस्र लोकों में चिरकाल तक पड़ी रहती थी अथवा कुछ निश्चित काल तक। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि "वे लोक आनन्द से रहित हैं तथा अन्धतमस से परावृत हैं, जहाँ अज्ञान तथा मूढ़ मनुष्य मृत्यु के उपरान्त जाते हैं।" ईशोपनिषद् का कथन है कि "वे लोक आसुरिक[1] (असूर्या) तथा अन्धतमस से परावृत हैं, जहाँ आत्मघातियों को जाना पड़ता है।" वही उपनिषद् आगे चलकर कहती है कि "जो अज्ञान की उपासना करते हैं, वे अन्ध तमस में प्रवेश करते हैं।" यही भाव अन्यत्र बृहदारण्यक में भी व्यक्त किया गया है। कठोपनिषद् का कथन है कि "जो वन्ध्या गायों का दान करते हैं, जो पानी पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं तथा अपना दूध दे चुकी हैं" (मूल० २२)। यह अवतरण हमें यह बतलाता है कि उपनिषद्-कार एक प्रकाश-

---

1. Dr. R. G. Bhandarkar in an important article in the B. B. R. A. S. Journal makes the following interesting suggestion. The Sanskrit equivalent of the word demonic viz. "Asurya" may here refer to the Assyrian country, "Assyrian" and "Asuryan" being philologically identical, the y and the u being inter-changeable as in Greek.

रहित लोक में विश्वास करते थे, जहाँ अज्ञान, मूढ़, आत्मघाती तथा दान-कृपण पुरुषों को जाना पड़ता था।

३४. बृहदारण्यकोपनिषद् में परलोक-वाद

अन्य आत्माओं के विषय में बृहदारण्यक का एक अवतरण, जो इस प्रकार के अवतरणों में प्राचीनतम प्रतीत होता है, हमें यह बतलाता है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक में होकर आरोहण करती है तथा अन्त में उस लोक में आती है, जिसे हम प्लेटो का "आनन्द द्वीप" (Isles of the Blessed) कह सकते हैं, जो शोक और हिम से मुक्त है और जहाँ आत्मा अनन्तकाल तक निवास करती है: "जब पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है तो वह वायुलोक में आता है। वहाँ वायु उसके लिये रथ-चक्र के बराबर एक द्वार खोल देती है। इसमें होकर वह ऊपर की ओर चलती है और सूर्यलोक में आती है। वहाँ सूर्य उसके लिये एक लम्बर (Lambora) के बराबर द्वार खोल देता है। उसमें होकर वह ऊपर को चढ़ती है और चन्द्रलोक में आती है। वहाँ चन्द्र उसके लिये एक दुन्दुभी के बराबर द्वार खोलता है, जिसमें होकर वह ऊपर को चढ़ती है और उस लोक में आती है जो शोक-रहित तथा हिम-रहित है। वहाँ आत्मा यथाकाम शाश्वत काल तक निवास करती है" (मूल० २३)। यह अवतरण उपनिषदों के परलोक सम्बन्धी अवतरणों में से एक है। प्रथमतः यह अवतरण न स्वयं और न प्रसंग द्वारा यह स्पष्ट करता है कि यह गति सभी आत्माओं के लिये निश्चित है, अथवा पुण्यात्माओं के लिये ही: यह तो बिना किसी भेद के सामान्य आत्मा की गति का वर्णन करता है। छान्दोग्योपनिषद् के परलोक सम्बन्धी अवतरण को जिसे हम अभी उद्धृत करेंगे, इससे परवर्ती समझना चाहिये, क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् सविस्तार संन्यासी तथा गृहस्थ की आत्माओं का पृथक्-पृथक् निरूपण करती है—एक के लिये देवयान तथा दूसरी के लिये पितृयान निर्धारित करती है। वस्तुतः हम देखते हैं कि उक्त उपनिषद् में पीछे उद्धृत किये गये बृहदारण्यकोपनिषद् के अवतरण के परलोक सम्बन्धी विचार का एक भिन्न रूप में प्रस्तार किया गया है। दूसरे यह विचारणीय है, जैसा प्रायः उपनिषदों में सामान्य रूप से है, उसी प्रकार इस उपनिषद् में भी, चन्द्र-लोक को सूर्यलोक से अधिक दूरी पर स्थित माना गया है। तीसरे यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'अनन्द लोक' जिसका उस अवतरण में उल्लेख किया गया है 'हिमरहित' लोक है। क्या इसका यह अभिप्राय है कि उपनिषद्-कार को जहाँ वह रहता था घोर शीत ने पीड़ित किया था? और अन्त में

"अमरत्व" की कल्पना को इस महत्वपूर्ण अवतरण में स्थान दिया गया है और हमें यह बतलाया गया है कि ऐसी आत्मा इन आनन्दमय लोकों में शाश्वत काल तक निवास करती है।

३५. छान्दोग्योपनिषद् में परलोक-मीमांसा : दो मार्ग

छान्दोग्योपनिषद् में आकर, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, परलोक-मीमांसा का स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है। यहाँ हमें बतलाया गया है कि मनुष्यों के लिये दो मार्ग खुले हुये हैं—तेजोमार्ग तथा तमोमार्ग, अर्चिमार्ग तथा धूममार्ग, देवयान तथा पितृयान। इन दोनों मार्गों का संकेत ऋग्वेद[1] के मन्त्रों में भी मिलता है। आगे चलकर भगवद्गीता[2] में दोनों मार्ग अमर हो गये। उक्त उपनिषद् का कथन है कि जो वन में श्रद्धा सहित तपः साधना करते हैं, चाहे लोग उनकी मृत्यु के उपरान्त औध्वंदेहिक कर्म करें अथवा न करें, उनकी आत्मा तेजोमार्ग में प्रवेश करती है और वे क्रमशः तेज से दिवस, दिवस से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण षण्मास, उत्तरायण षण्मास से संवत्सर, संवत्सर से सूर्य, सूर्य से चन्द्र, तथा चन्द्र से विद्युत की ओर जाती है। वहाँ से एक दिव्य पुरुष उन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है। यह मार्ग देवयान अथवा ब्रह्मपथ कहलाता है। जो इस मार्ग से जाते हैं

1. The Devayana which is mentioned in Rigveda X. 19. 1 has the same meaning as in the Upanishads :

   परं मृत्यो अनु परेहि पंथां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।

   The path which in the above verse is regarded as "different from" the Way of the Gods must be only the Way of the Fathers--Pitriyana. The word Pitriyana, however, in the Rigveda is often used with a sacrificial instead of a funeral connotation of :

   "पंथामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि।"
   ऋ. x, 2, 7.

2. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
   तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
   धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
   तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
   शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
   एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तते पुनः॥ भ. गी. VIII. 24-26.

वे फिर कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं आते (मूल० २४–क)। छान्दोग्योपनिषद् के अनुकूल इस मार्ग के विपरीत एक दूसरा मार्ग है; वह उनके लिये है जो नगर में रह कर दान-पुण्य-मय जीवन व्यतीत करते हैं तथा लोक-कल्याण की साधना करते हैं। ऐसे लोग निश्चय ही देवमार्ग से नहीं जाते, जो केवल वनवासी तपस्वी संन्यासियों के लिये है। वे मनुष्य धूममार्ग से जाते हैं: "धूम से वे निशा में प्रवेश करते हैं, निशा से कृष्णपक्ष में, कृष्णपक्ष से दक्षिणायण षण्मास में, दक्षिणायण षण्मास से (किन्तु वे संवत्सर तक नहीं पहुँचते) वे पितृलोक को चले जाते हैं, पितृलोक से स्वर्गलोक को, स्वर्गलोक से चन्द्रलोक को चले जाते हैं।" वहाँ वे पतन-काल तक निवास करते हैं। वहाँ से वे इस मार्ग से उतरते हैं: "चन्द्रलोक से वे स्वर्गलोक में उतरते हैं, आकाश लोक से वायुलोक में उतरते हैं, वायुरूप होकर वे धूमरूप धारण करते हैं। धूमरूप से अभ्र-रूप धारण करते हैं। अभ्र-रूप से मेघरूप धारण करते हैं। मेघरूप से वृष्टिरूप में नीचे आते हैं। फिर चावल, जौ, वनस्पति, वृक्ष, तिल, उरद किसी रूप में उत्पन्न होते हैं। इससे आगे मार्ग-निरूपण कठिन है। जो अन्न खाते हैं उसी का रूप धारण कर लेते हैं" (मूल० २४–ख)।

३६. उपनिषदीय परलोक-शास्त्र का नैतिक आधार

यह समझना कठिन न होगा कि यह मार्गनिरूपण प्राचीन तत्ववेत्ताओं की परलोक विषयक भावनाओं की अभिव्यक्ति की काल्पनिक पद्धति है। किन्तु यह बहुत काल तक नहीं समझा जासका और उपनिषदों के रूढ़िवादी अनुयायी येन-केन-प्रकारेण इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते रहे। इनमें से सबसे अधिक युक्तिसंगत व्याख्या यह थी कि सूर्य, चन्द्रमा, धूम, निशा अधिष्ठात्री देवता हैं और आत्मा इन देवताओं के अधिकार में कर दी जाती थी, जो उसे यथायोग्य स्थान पर भेजते थे। यह समझना कठिन नहीं है कि उक्त अवतरण में जिन दो मार्गों का निरूपण किया गया है वे एक असाध्य पहेली की पौराणिक व्याख्यायें मात्र हैं। महान् दक्षिणी महात्मा समर्थ स्वामी रामदास[1] ने

1. उत्तरायेण ते उत्तम। दक्षणायेण ते आधम। हा संदेहि वसे भ्रम। साधु तो निःसंदेह ॥१३॥ शुक्लपक्ष उत्तरायण। गृहीं दीप दिवा मरण। अंती राहावे स्मरण। मती कारणें ॥१४॥ इतके नलगे योगियासी। तो जीतचि मुक्त पुण्यराशी। तिलाजुली पापपुण्यासी। दिधली तेणें ॥१५॥ दा. VII 10, 13, 15.

अपने दासबोध में कहा है कि इन दो मार्गों में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है यह मानवी प्रज्ञा के अधिकार की बात नहीं है। यदि उपनिषद्-कार को कोई श्रेय दिया जा सकता है तो वह प्रश्न को हल कर देने का नहीं, वरन् उत्तर के प्रयास मात्र का। दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के आरोहण और अवरोहण के स्तरों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, वरन् हमारा सम्बन्ध ऊर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग की कल्पना मात्र से है। प्रश्न के धरातल को देखने से तथा यह जान कर कि ऊर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग की कल्पना इतने उच्च नैतिक आधार पर अवलम्बित है, बड़ा आश्चर्य और कुतूहल होता है। "कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को जीवन मिलता है", यह नैतिक आधार ही उपनिषदीय परलोक-शास्त्र को दार्शनिक महत्व प्रदान करता है। छान्दोग्योपनिषद् के जिस अवतरण की हमने विवेचना की है, उससे अगले ही अवतरण में हमें बतलाया गया है कि जिनका आचरण रमणीय रहा है, उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की रमणीय योनि मिलती है; जिनका आचरण दूषित रहा है उन्हें श्वान, शूकर अथवा चाण्डाल की निकृष्ट योनि मिलती है (मूल० २४–ग)। कौषीतकी उपनिषद् में छान्दोग्योपनिषद् के इस कथन का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया गया है, जहाँ स्पष्ट रूप से कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा आत्मा के "कर्मानुरूप कीट, पतंग, मछली, पक्षी, बाघ, साँप, मनुष्य आदि इनमें से किसी योनि में जन्म लेने" का उल्लेख किया गया है (मूल० २४–घ)।

३७. उपनिषदीय तथा प्लेटोनिक परलोक-शास्त्र

हम देख चुके हैं कि उपनिषद्-कार प्लेटो के नरक (Hades) की भाँति एक लोक में विश्वास करते थे, जिसमें असाध्य पापियों को सदा के लिये डाल दिया जाता था। हम देख चुके हैं कि वे "आनन्द-द्वीप" (Isles of the Blessed) के समान 'आनन्द लोक' में भी विश्वास करते थे। प्लेटो से उनका इतना ही मतभेद है कि वे इस लोक के जीवन को परम् शाश्वत मानते थे। हम देख चुके हैं कि वे एक देवमार्ग में विश्वास करते थे, जो क्रम से ब्रह्मलोक में पहुँचाता है, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। इसके साथ ही वे एक पितृयान में विश्वास करते थे, जो आत्मा को परलोक में ले जाता है, जहाँ वह अपने पुण्यक्षय-पर्यन्त निवास करती है। किन्तु जब पुण्य का क्षय हो जाता है तो आत्मा वृष्टिबिन्दुओं के रूप में नीचे उत्तर आती है और अपने कर्मानुकूल जन्म धारण करती है। इसके विपरीत हम प्लेटो के यम लोक (नरक) और दान्ते (Dante) के नरक की कल्पना उपनिषद्-कारों में नहीं

पाते। इसकी सबसे सरल व्याख्या यही है कि उपनिषद्-कारों के लिये, जिस प्रकार परवर्ती भारतीय दार्शनिकों के लिये, यह संसार ही एक विशाल नरक-लोक है, जहाँ पुण्य कर्मों द्वारा पाप-प्रक्षालन करना चाहिये। दूसरी ओर हम देखते हैं कि क्षुद्र कोटि के प्राणी, मानों कुल्हाड़ी से काट कर, एक ओर फेंक दिये जाते थे। उनके लिये छान्दोग्दोपनिषद् ने मुक्ति-मार्ग का निषेध किया है तथा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि वे अनन्त-काल तक जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं; इन क्षुद्र प्राणियों को न देवमार्ग पर और न पितृ-मार्ग पर जाने की आज्ञा है। आवागमन ही उनके लिये एक मात्र पथ है। उनकी नियति "जीवन के लिये मरण नहीं", वरन् "मरण के लिये जीवन" है और यह आश्चर्य की बात है कि छान्दोग्योपनिषद् चीता, सिंह, बाघ, रीछ आदि को उसी कोटि में परिगणित करती है, जिसमें कीट, पतंग, डाँस, मच्छर आदि को (मूल० २४–ङ)।

३८. देवमार्ग की कल्पना में विभेद

देवमार्ग की कल्पना का एक और भी पक्ष है, जो विचारणीय है कौषीतकी उपनिषद् देवमार्ग की कल्पना में एक विलक्षण विकास प्रदर्शित करती है। यह हमें बतलाती है कि जब आत्मा देवमार्ग पर आती है तो, "वह प्रथम अग्निलोक में जाती है, फिर वायुलोक में, फिर वरुणलोक में, फिर सूर्यलोक में, फिर इन्द्रलोक में, फिर प्रजापति लोक में, और अन्त में ब्रह्मलोक में जाती है" (मूल० २४–च)। इसमें बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में माने गये आश्रम स्थलों (लोकों) के स्थान पर नये लोकों की कल्पना की गई है।

'दिवसलोक', 'शुक्लपक्षलोक', 'उत्तरायणलोक' तथा अन्त में 'संवत्सर-लोक' की अर्थहीन कल्पनाओं के स्थान पर यह उन देवताओं के लोकों की सृष्टि करती है, जो निश्चित रूप से देवता माने गये हैं। इसके बाद वह हमें यह बतलाती है कि "जब ऐसी आत्मा ब्रह्मलोक में पहुँचती है, तो ब्रह्म अपने परिचारकों को उस आत्मा के पास जाकर अपने निस्सीम वैभव के साथ उसका स्वागत करने की आज्ञा देता है। वह कहता है कि अब आत्मा अजरा नदी के पार आगई, अतः कभी वृद्ध न होगी। उसके आदेश पर पाँच सौ देवां-गनायें उस आत्मा की ओर अभिसरण करती हैं—सौ फलों के साथ, सौ विलेपन के साथ, सौ मालाओं के साथ, सौ वस्त्राभरणों के साथ, और सौ सुगन्धिओं के साथ—और वे आत्मा को समस्त ब्रह्मार्ह वस्त्रालंकारों से सुस-

ज्जित करती हैं। वह अजरा नदी के किनारे आती है जिसे वह मनोगतिमात्र से पार कर लेती है। फिर वह अपने समस्त शुभाशुभ कर्मों का परित्याग कर देती है। उसके प्रिय बान्धवों के भाग में शुभ कर्म तथा उसके अप्रिय बान्धवों के भाग में उसके अशुभ कर्म आते हैं। और जिस प्रकार एक वेगवान रथ में जाने वाला मनुष्य रथ के घूमते हुये चक्रों की ओर देखता है, उसी प्रकार आत्मा दिन-रात, शुभ-अशुभ तथा अन्य समस्त युग्मों को देखती रहती है। शुभा-शुभ के बन्धन से मुक्त होने के कारण तथा ब्रह्म को पहचानने के कारण वह ब्रह्म की ओर अभिसरण करती है" (मूल० २४—छ)।

३६. अमरत्व की कल्पना

अमरत्व की कल्पना के विवेचन तक हम उपनिषदीय मनोविज्ञान के चरम-विन्दु पर पहुँच जाते हैं। उपनिषदीय सिद्धान्त की व्याख्या में यह एक पहेली है तथा विद्वानों में इस विषय में बहुत मत-भेद रहा है, इसका मूल-कारण यह है कि प्रत्येक रूढ़िवादी तत्व ज्ञानी ने उपनिषदों में से अपने सिद्धांतों के अनुकूल भाव-ग्रहण की चेष्टा की है। हम, जिनका किसी रूढ़ि-विशेष के प्रति कोई पक्षपात नहीं है, जानते हैं कि उपनिषदीय अवतरणों को इस विषय में किस प्रकार समझना चाहिये, क्योंकि हम इस सिद्धान्त की ऐतिहासिक रूप-रेखा भर खींचना चाहते हैं, न कि उपनिषदीय अवतरणों से बरबस कोई ऐसा अर्थ निकालना जो हमारे मत का समर्थन करता हो। इस दृष्टि-कोण से उपनिषदों की ओर देखने पर हमें ज्ञात होता है कि उनमें अमरत्व विषयक कल्पनाओं का एक व्यवस्थित विकास खोजा जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद् के एक अवतरण में हमें यह बतलाया गया है कि किसी के लिये जिस सर्वोत्तम अमर-जीवन की कल्पना की जा सकती है वह यह है कि वह उस देवता के लोक तक पहुँच सके जिसकी उसने सप्रेम उपासना की है। तथा उस लोक में सम्भाव्य समस्त सुखों में भाग ले सके (मूल० २५—क)। एक दूसरा मुण्डकोपनिषद् का अवतरण हमें यह बतलाता है कि सर्वोच्च अमर-जीवन परमात्मा का 'सामीप्य' समझना चाहिये, जिसमें महाप्रलय के समय आत्मा का निलय हो जाय (मूल० २५—ख)। केवल 'सामीप्य' से सन्तुष्टि न पाकर दूसरा अवतरण यह घोषित करता है कि अमरत्व परमात्मा के साथ 'परम्-साम्य' प्राप्त कर लेना तथा परमानन्द का उपभोग करना है (मूल० २५—ग)। रामानुज के सगुणेश्वरवाद में इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरी ओर शंकराचार्य की सन्तुष्टि "ब्रह्म-तादात्म्य" तथा अपौरुषेय अमरत्व से कम नहीं हो सकती। जिस प्रकार समुद्र की ओर बहने वाली नदियाँ अतल-जल

में विलीन हो जाती हैं तथा अपनी संज्ञात्मक सत्ता खो देती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी की आत्मा उस अतीन्द्रिय ब्रह्म से तद्रूप हो जाती है तथा अपने नाम रूप को खो देती है। जिस प्रकार विविध रसों के संयोग से मधु की सृष्टि होती है, उन रसों के पृथक्-पृथक् वृक्षों का निरुपण नहीं किया जा सकता, जिनसे वे आये, उसी प्रकार जब आत्मायें ब्रह्म में निलीन हो जाती हैं तो यह नहीं जानती कि वे किस शरीर से आईं (मूल० २५–घ)। यह पूर्ण अद्वैत अमरत्व का सिद्धान्त है। अन्त में मुण्डकोपनिषद् का एक महत्वपूर्ण अवतरण हमें बतलाता है कि आत्मज्ञानी पुरुष की आत्मा मृत्यु के उपरान्त विश्व रूप हो जाती है (मूल० २५–ङ)। *ऐसी आत्मा एक महान् व्यापक शक्ति हो जाती है,* जिसकी ध्वनि पवन की मरमर में है, जो उदीयमान सूर्य में स्थित है, जो तारों में, फूलों में, जहाँ कहीं दृष्टि पड़े[1] देखी जा सकती है; अथवा उस अनोखे कल्पना-कुमार सुकुमार कवि शेली (Shelley) के शब्दों में :

"आज विश्व की अखिल प्रकृति की सुषमा से वह एकाकार,
प्रतिगुंजित उसके ही स्वर से उसका चिर संगीत उदार,
घोष भरी आहों से लेकर बिजली के कम्पन की मधुर गीति तक मूक निशा की,
विहगिनि के निस्वन की।
अन्धकार में औ' प्रकाश में,
प्रस्तर औ' दूर्वादल में,
उसकी सत्ता की विभूति अनुभूति आज प्रति पल-पल में।
जिसने उसको अपने में ही मिला लिया शाश्वत क्षण में,
उसी शक्ति की प्राण-प्रगति के साथ व्याप्त वह कण-कण में।
जिसने जग के मन मुकुलों में गूँथा अमर प्रेम का तार,
प्रेम ज्योति सी जो नभ में औ' नीचे धरणी की आधार।"[2]

1. Tennyson, In Memoriam CXXX.
2. Shelley, Adonais XLII.

४

परवर्ती दर्शनों का मूल

१. प्रस्तावना

उपनिषदीय भाष्यकारों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वे विविध-तत्व-मूलक उपनिषद् शास्त्र को एक व्यवस्थित सिद्धान्त का प्रतिपादक समझते आये हैं। इस प्रकार द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपनिषदीय भाष्यकारों ने ऐसे अवतरणों की भी जो स्पष्ट रूप से उनके प्रतिपाद्य सिद्धान्त के विपरीत अर्थ के द्योतक हैं, अपने मत विशेष के प्रामाणिक प्रवचनों के रूप में उपयोग करने की चेष्टा की है। उपनिषदों के इस प्रकार दुरुपयोग का मूल-कारण 'श्रुति' के वास्तविक अर्थ के विषय में समुत्पन्न सम्भ्रान्त धारणा है। ऋग्वेद की भाँति उपनिषद् भी श्रुति समझी जाती थी। ऐसी स्थिति में इन भाष्यकारों के लिये यह सोच सकना असम्भव था कि 'श्रुति' में भी परस्पर विरोधी तत्वों का समावेश हो सकता है। इन भाष्यकारों के उपनिषद्-शास्त्रों से अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त के अनुकूल अर्थ निकालने की अनाधिकार चेष्टा करने का दूसरा कारण ऐतिहासिक समीक्षा-वृत्ति का अभाव है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे उपनिषदों में उन अनेक प्राचीन ऋषियों के विविधि-रूप भावोद्वेगों को न देख सके, जिनमें से प्रत्येक ऋषि ने अपने श्रेष्ठतम विचारों को, जिन्हें उन्होंने अपने अन्तस में ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से समुद्भूत सत्य दर्शन के निरूपण में समर्थ समझा है, यथासम्भव निर्व्याज, सरल, और स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि हम इस प्रकार के विकास-पथ में देखेंगे, उपनिषद् हमें विविध विचार-सिद्धान्त प्रदान करती है और भारतीय दर्शन की समस्त परवर्ती पद्धतियों की जननी कही जा सकती है। जिस प्रकार एक

पर्वत अपने विविध भागों से विभिन्न दिशाओं में बहने वाली नदियों को जन्म देता है उसी प्रकार उपनिषद् साहित्य दर्शन का वह चरम शिखर है, जो अपने विविध अंगों से अनेक विचार प्रवाहों को जन्म देता है, जो जीवन-सागर की ओर क्रमशः बढ़ने के साथ-साथ असंख्य सहायक विचार-धाराओं के निरन्तर अन्तर्प्रवाह से शक्ति ग्रहण करते जाते हैं, जिससे जीवन सागर से सम्मिलन के स्थल पर जल का विपुल प्रसार-पटल बन जाता है। अस्तु, हम उपनिषदों में बौद्ध और जैन दर्शन, सांख्य और योग, मीमांसा और शैवमत; भगवद्गीता के सेश्वर रहस्यवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद और अद्वैतवाद सभी दर्शनों का मूल पाते हैं। किसी को यह कहने का साहस न करना चाहिये कि उपनिषद् एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। विचार दर्शन के अध्ययन से समुद्भूत समीक्षा-परक ऐतिहासिक प्रवृत्ति से अनुपूरित उपनिषदों का विचार-पूर्ण मनन ऐसी भ्रान्त भावनाओं को शीघ्र ही दूर कर देगा। बहुत काल तक उपनिषदीय भाष्यकार अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुकूल उपनिषदों की व्याख्या करते रहे हैं। इसके विपरीत इस अध्याय में हमारा अभिप्राय यह निदर्शन करना है कि किस प्रकार उपनिषदों से विविध विचार-धारायें निःसृत हुईं, जो आगे चलकर धीरे-धीरे व्यवस्थित होकर परवर्ती दर्शन पद्धतियों का सुसंगठित स्वरूप धारण कर लेती हैं।

२. उपनिषद् और बौद्ध मत

सबसे पहले हम उपनिषदों में प्राप्य बौद्धमत के आधारों पर विचार करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषदीय-युग का अवसान-काल तथा बौद्ध युग का प्रारम्भ-काल एक ही था; और एक धीरे-धीरे दूसरे में विलीन हो रहा था। जब छन्दोग्योपनिषद्-कार यह कहता है कि सृष्टि के आदि में एक मात्र असत् की सत्ता थी और बाद में उससे सत् की सृष्टि हुई (मूल १—क), तो हमें यह समझना चाहिये कि यहाँ उस सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है जो आगे चलकर बौद्ध वाङ्मय में असत्-वाद और शून्यवाद के रूप में पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित होता है। जहाँ शंकराचार्य ने अपने उक्त अवतरण की टीका में यह कहा है कि इसका संकेत बौद्ध सिद्धान्त की ओर हो सकता है, जो सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र 'सद्भाव' (सत्+अभाव) की सत्ता स्वीकार करता है, तो उनका बौद्ध सिद्धान्त के साथ इसका प्रसंग-स्थापन युक्ति-संगत था। असत् के परतत्त्ववाद मूलक प्रतिपादन का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक पक्ष 'अनात्मवाद' का प्रतिपादन है। कठोपनिषद् के इस कथन में कि जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, तो भिन्न-भिन्न लोग की चेतना-संचारिणी आत्मा के

विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार करते हैं; कुछ कहते हैं कि वह अब भी वर्तमान है, दूसरे कहते हैं कि अब उसकी सत्ता नहीं रही (मूल० १–ख)। हम बौद्धों के 'अनात्मवाद' को गर्भावस्था में पाते हैं, जिसके प्रतिपादन में बौद्ध चार्वाकों के साथ थे, जिनके लिये शरीर के अतिरिक्त किसी आत्मा की सत्ता नहीं थी। पुनः, नचिकेतस की यह पुकार-प्रत्येक वस्तु की सत्ता आज है, कल नहीं है; ऐन्द्रिक सुख के उपादान केवल इन्द्रियों की प्राणशक्ति का क्षय करते हैं; जीवन स्वप्न के समान क्षणभंगुर है; जो सौन्दर्य और रति के सुख की साधना करता है उसे दीर्घ जीवन की कामना नहीं करनी चाहिये (मूल० १–ग)–यह सब बौद्धमत की यह पुकार समझी जा सकती है, जो नचिकेतस के शब्दों के प्रायः सम-सामयिक है, कि संसार में प्रत्येक वस्तु दुःख का कारण है—सर्वम् दुःखम् दुःखम्—; प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षणिक है—सर्वम् क्षणिकम् क्षणिकम्। बृहदारण्यकोपनिषद् का यह उपदेश कि उस मनुष्य को जिसे संसार से घृणा हो जाय पुत्र और धन की कामना छोड़ कर भिक्षु जीवन व्यतीत करना चाहिये (मूल १–घ),बौद्धों और जैनियों के भिक्षु-मण्डल की भविष्यवाणी है। पुनः ऐतरेयोपनिषद् के इस कथन में कि इस संसार की समस्त सत्ता-पंचमहाभूत, अंडज, जारूज, स्वेदज तथा उद्भिज प्राणी; घोड़े, गाय, पुरुष तथा समस्त स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन, नभचर प्राणी-प्रज्ञान में ही प्रतिष्ठित हैं तथा प्रज्ञा द्वारा ही ज्ञेय हैं, (मूल० १–ङ), तो हम इसमें विज्ञान-वादियों के परतत्त्व–शास्त्र तथा ज्ञान-शास्त्र के मूल सिद्धान्त की घोषणा पाते हैं। हम देखते हैं कि विज्ञानवादियों ने उक्त अवतरण के प्रज्ञान शब्द के स्थान पर सहज ही 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग कर दिया। अन्त में, जब बृहदारण्यकोपनिषद् में जारतकारव और याज्ञवल्क्य के संवाद में जारतकारव क्रमशः याज्ञवल्क्य को गहनतम प्रश्न पर ले आये तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि उनके लिये एकान्त में जाकर ही इस प्रश्न का विवेचन करना उचित है; और हमें बतलाया गया है कि इसके उपरान्त जारतकारव और याज्ञवल्क्य में कर्म की प्रकृति के विषय में संवाद हुआ तथा दोनों इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य पुण्य-कर्मों से पुण्यात्मा और पापकर्मों से पापात्मा हो जाता है (मूल० १–च)। इसी भाव की आवृत्ति आगे चलकर कठोपनिषद् में हुई जहाँ हमें बतलाया गया है कि आत्मायें अपने ज्ञान और कर्मों के अनुकूल सजीव-प्राणी अथवा निर्जीव पदार्थ का रूप ग्रहण करती हैं (मूल० १–छ)—जो एक ऐसा अवतरण है जहाँ हम कर्म सिद्धान्त को निश्चित रूप से प्रतिपादित पाते हैं, जिससे बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शन पद्धतियों को प्रेरणा मिली, किन्तु जो बौद्ध-पद्धति में सबसे अधिक नैतिक महत्व के साथ दिखाई देता

है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धमत के सभी प्रमुख मूलतत्व गर्भावस्था में उपनिषदों में वर्तमान हैं : असत्वाद, अनात्मवाद, दुःखवाद तक पहुँचने वाली ऐन्द्रिक सुखों की उपेक्षा, भिक्षुमण्डल, विज्ञानवाद, और अन्त में कर्म सिद्धान्त। यह सत्य है कि इन मूलतत्वों के आधार पर बौद्ध धर्म ने एक ऐसे दर्शन-प्रासाद का निर्माण किया जो उपनिषदों से एकान्त भिन्न है, किन्तु जिसने, जैसा कि हम देख चुके हैं, उपनिषदों से पर्याप्त प्रेरणा पायी।

३. छान्दोग्य, कठ और प्रश्न उपनिषदों में सांख्य

बौद्धमत की भाँति सांख्य-पद्धति का अस्तित्व भी बहुत प्राचीन है। इसका मूल यदि इसके आगे नहीं तो उपनिषदों तक निश्चित रूप से खोजा जा सकता है। यह सत्य है कि सांख्य के नाम का उल्लेख उसके सहयोगी योग के सहित बहुत विलम्ब से श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुआ है (मूल० २–क), किन्तु सांख्य की मूल कल्पनायें उपनिषद् वाङ्मय में बहुत पहले पाई जाती हैं। जहाँ छान्दोग्योपनिषद् में हमें यह बतलाया गया है कि प्रत्येक पदार्थ के पीछे वस्तुतः तीन मूल वर्ण हैं : रक्त, शुक्ल, कृष्ण और तीन वर्णों की ही वास्तविक सत्ता है तथा उनसे निर्मित समस्त वस्तुयें केवल शब्द, विकार, नाम मात्र हैं, वहाँ हम सांख्य दर्शन के त्रिगुणवाद का प्रारम्भिक स्वरूप पाते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इसका प्रयोग मूल प्रकृति के रक्त, शुक्ल, कृष्ण वर्णात्मक निरुपण में किया गया है (मूल० २–ख)। अतः यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सांख्य-दर्शन में तीन गुणों का मूल आधार श्वेताश्वतरोपनिषद् में आवृत्त छान्दोग्योपनिषद् की त्रिवर्ण-कल्पना में खोजना होगा। इसके बाद में इस बात का भी एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण मिलता है कि किस प्रकार कठोपनिषद् के समय में सांख्य दर्शन अपनी निर्माण प्रक्रिया के अन्तर्गत था। उक्त उपनिषद् में जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा है, महान् आत्मा से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष है तथा पुरुष से परे कोई नहीं है (मूल० ३–क), और फिर जहाँ हमें, हमारे विवेचित पद से तनिक आगे ही, यह बतलाया गया है कि मन ज्ञानात्मा में विलीन हो जाता है, ज्ञानात्मा महत् आत्मा में, महत् आत्मा शान्त-आत्मा में (मूल० ३–ख), वहाँ हमें स्पष्ट रूप से एक पद की बुद्धि को दूसरे पद की ज्ञानात्मा में समान एक ही महत्-आत्मा को दूसरे की महत् आत्मा के समान तथा एक के पुरुष को दूसरे की शान्त आत्मा के समान मानना पड़ता। केवल पहले अवतरण का अव्यक्त, जो महत्-आत्मा और पुरुष के मध्य में आता है, दूसरे अवतरण में छूट जाता है, चाहे यह सुविधा के लिए किया गया हो,

चाहे छन्द-साधना के लिये। किसी प्रकार सही किन्तु यह तर्क-संगत है कि हम इन दो अवतरणों में मन, बुद्धि, महत्, अव्यक्त और पुरुष इन सांख्य के मुख्य तत्वों का निर्देश पाते हैं। आगे हमें यह भी ध्यान रखना है कि सांख्य के लिंग शरीर की कल्पना का संकेत भी हमें प्रश्नोपनिषद् में मिलता है, जो समय-समय पर षोडश कलायुक्त पुरुष के स्वरूप का उल्लेख करती है। एक अवतरण का कथन है कि यही रूप षोडश-कलायुक्त पुरुष का है (मूल० ४–क) तथा दूसरा इस पुरुष के निर्माण-तत्वों की गणना करता है, जो प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम हैं (मूल० ४–ख)। यह ध्यान रखने योग्य है कि ये सोलह तत्व जिनसे पुरुष का निर्माण बतलाया गया है, प्रायः पौराणिक तथा काल्पनिक हैं। किन्तु पुरुष के निर्माण-तत्वों की अपेक्षा हमारा सम्बन्ध उस पुरुष की कल्पना से अधिक है। जब सांख्य दर्शनकार ने अपने सत्रह कलात्मक लिंग शरीर की कल्पना का विकास किया होगा, तो उसके मस्तिष्क के पृष्ठ देश में प्रश्नोपनिषद् के षोडश कलात्मक पुरुष का स्वरूप अवश्य रहा होगा, यद्यपि दोनों कल्पनाओं में बहुत अन्तर है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राण और भूत, इन्द्रिय और मन, जो प्रश्नोपनिषद् में पुरुष के सोलह निर्माण तत्वों के अन्तर्गत गिने गये हैं, सांख्य के लिंग शरीर की कल्पना में भी स्थान पा लेते हैं, जो केवल इन्हीं का विस्तार करके लिंग शरीर को पंचभूत, पंचेन्द्रिय, मन और बुद्धि से निर्मित बतलाती हैं, जिसमें बुद्धि को छोड़कर शेष सभी प्रश्नोपनिषद् की कल्पना में पाये जाते हैं। अन्त में प्रश्नोपनिषद् में पुरुष और सोलह तत्वों का सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। हमें बतलाया गया है कि जो सम्बन्ध नदियों का समुद्र से है वही इन तत्वों का पुरुष से है। पहले पिछले में लीन हो जाते हैं, अन्त में जिस वस्तु की सत्ता रह जाती है वह एक स्थिति में समुद्र और दूसरी में पुरुष है। जिस प्रकार महासागर की ओर बहने वाली नदियाँ महासागर में पहुँचकर खो जाती हैं, तथा उनके नाम रूप का ही नाश हो जाता है और वे केवल समुद्र कहलाती हैं, उसी प्रकार इन सोलह तत्वों की प्रवृत्ति पुरुष की ओर है, उसमें पहुँचने पर वे उसी में विलीन हो जाते हैं, उनके नाम रूप का नाश हो जाता है, वे केवल पुरुष कहलाते हैं, जो स्वयं कलाविहीन और शाश्वत हैं (मूल० ४–ग)। अथवा एक दूसरे रूपक को लीजिए जो वस्तुवाद-परक है; ये तत्व पुरुष में उसी प्रकार केन्द्रित हैं जिस प्रकार तीलिकायें (अरायें) चक्र की नाभि में केन्द्रित होती हैं (मूल० ४–घ)। किसी रूप में सही, यह ध्यान देने योग्य है कि

प्रश्नोपनिषद् की षोडश कलात्मक पुरुष की कल्पना बिना किसी हानि की सम्भावना के सांख्य के लिंग शरीर की कल्पना का पूर्वरूप मानी जा सकती है, जिसका बाद में वेदान्त दर्शन ने ग्रहण किया।

४. श्वेताश्वतर में सांख्य

यहाँ तक हमने छान्दोग्य, कठ और प्रश्नउपनिषदों में पाये जाने वाले उपनिषदीय सांख्य के चिह्नों को खोजने की चेष्टा की है किन्तु सांख्य दर्शन का सर्वोत्तम आधार श्वेताश्वतरोपनिषद् है, जो हमें उस काल के सांख्य-दर्शन का परिपूर्णतर तथा सविस्तार वर्णन प्रदान करती है। प्रथमतः यह स्मरण रखना चाहिये कि श्वेताश्वतरोपनिषद् की रचना उस समय हुई थी जब तक वेदान्त, सांख्य और योग की विचार-धारायें पृथक्-पृथक् विभाजित नहीं हो पाई थी। वेदान्त की माया और सांख्य की प्रकृति का अपने निश्चित रूप से पृथक्-पृथक् निरुपण नहीं हो पाया था और सांख्य का अपने सहयोगी दर्शन योग की भाँति परतत्व–विचार–कोण ईश्वर–मूलक था। श्वेताश्वतरोपनिषद् परमात्मा की सगुण और निर्गुण कल्पनाओं के विषय में अनिश्चित है। एक स्थान पर ईश्वर की प्रकृति को परिपुष्ट करने का वर्णन किया गया है, जब उसे विकास की प्रक्रिया का निरीक्षण तथा गुणों का प्रयोग करते बतलाया गया है (मूल० ५–क)। मकड़े की भाँति, जो अपने अन्तः स्थित पदार्थ से ही एक जाल बुन देता है, अपनी प्रकृति से ही उत्पन्न गुणों द्वारा अपने को अभिव्यक्त कर देता है (मूल० ५–ख)। प्रकृति ईश्वर की महा-माया शक्ति है और ईश्वर एक महान् जादूगर है (मूल० ६–क)। यह बतलाया गया है कि ईश्वर अपनी शक्ति से विश्व की सृष्टि करता है और जीवात्मा विश्वात्मा के द्वारा निर्दिष्ट किये हुये बन्धनों में बंधी हुई है (मूल० ६–ख)। इस प्रकार हम ईश्वर का सगुण निरूपण पाते हैं, जो समस्त कर्तृत्व, सृष्टि-रचना तथा निरीक्षण की शक्ति से संयुक्त है। इसके विपरीत ऐसे भी अवतरण हैं जिनमें ईश्वर का निवास प्रकृति से पृथक् एक अतीन्द्रिय लोक बतलाया गया है तथा जीवात्मा को अज्ञानान्धकार के कारण मायाविनी प्रकृति के प्रेम–पाश में आबद्ध बतलाया गया है (मूल० ७–क)। वास्तविक निर्गुण प्रवृत्ति के अनुकूल ईश्वर को केवल कर्माव्यक्ष, साक्षी गुणों के प्रभाव से एकान्त मुक्त तथा प्रकृति के दोषों से पूर्ण अलिप्त बतलाया गया है (मूल० ७–ख)। बार–बार यह संकेत करने की आवश्यकता नहीं कि श्वेताश्वतरोपनिषद् की रचना एक ऐसे काल में हुई थी जब वेदान्त, सांख्य और योग की विचार-धारायें अपने लिये पृथक्–पृथक् मार्ग खोज रही थीं। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति और ईश्वर तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पूर्ण-रूप से निश्चित सिद्धान्त क्यों नहीं मिलते। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर द्वारा प्रथम कपिल की सृष्टि तथा ईश्वर के उसकी सृजन-प्रक्रिया के निरीक्षण के प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक सांख्य और वेदान्त एक दूसरे में सम्मिश्रित थे (मूल० ८-क)। उक्त अवतरण के 'कपिल' शब्द की व्याख्या के विषय में भी बहुत कुछ मतभेद रहा है; और इस मत के प्रतिपादक सिद्धान्तों का अभाव नहीं है कि यहाँ जिन कपिल का उल्लेख है वे सांख्य दर्शनकार कपिल के अतिरिक्त और कोई नहीं। इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं कि श्वेताश्वतरोपनिषद्-कार के मस्तिष्क के पृष्ठ-देश में सांख्य-दर्शनकार कपिल की सत्ता की कल्पना नहीं थी, किन्तु यह उसी उपनिषद् के दो अन्य अवतरणों से स्पष्ट है, जिनमें यह बतलाया गया है कि उक्त अवतरण का 'कपिल' शब्द हिरण्यगर्भ का समानार्थक है, जो भारतीय दर्शन की क्रिश्चियन दर्शन के लॉगॉस (Logos) के समानान्तर कल्पना है, तथा जिसकी ईश्वर ने सबसे प्रथम रचना की और उसे समस्त शक्तियों से सम्पन्न कर दिया (मूल० ८-ख)। यदि 'कपिल' शब्द की ऐसी वेदान्त मूलक व्याख्या के सम्बन्ध में, जो निश्चय ही श्वेताश्वतरोपनिषद्-कार के मस्तिष्क में रही होगी, कोई सन्देह शेष रह जाय तो उसका निवारण श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तिम अवतरण में विचार करके किया जा सकता है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि ईश्वर को पहले अपने तथा सृष्टि के अन्तर्वर्ती माध्यम के रूप में ब्रह्मा को उत्पन्न किया (मूल० ८-ग)। इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् पाँचवे अध्याय के दूसरे श्लोक के कपिल ऋषि और श्वेताश्वतरोपनिषद् के तीसरे अध्याय के चौथे श्लोक तथा चौथे अध्याय के बारहवें श्लोक के हिरण्यगर्भ और छठे अध्याय के अठारहवें श्लोक के विश्व-विधाता ब्रह्मा की एकरूपता के विषय में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता।

५. उपनिषद् और योग

योग-दर्शन का मूल भी हमें श्वेताश्वरोपनिषद् में ही खोजना होगा जिसमें योग का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय में एक बड़ा मनोरंजक अवतरण है जो हमारे सामने परवर्ती योगपद्धति के सिद्धान्त तथा प्रणाली का प्रारम्भिक स्वरूप रखता है। यह देखने योग्य है कि प्रथमतः यह हमारा ध्यान योग-साधन के समय शरीर के आसन की ओर आकर्षित करता है। भगवद्गीता के पूर्व ही यह हमें यह बतलाता है कि ध्यान

के समय मेरुदण्ड, ग्रीवा और शिर एक सरल-रेखा में होना चाहिये। अभी हम आसनों की प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन नहीं पाते, जो आगे नव्य उपनिषदों, विशेषतः उस योग से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदों का जो राजयोग और हठयोग को एक ही रेखा में ले आती है, प्रधान विषय बन गया। पुनः दूसरे हमें अपने मन की सहायता से इन्द्रियों का दमन करने का आदेश दिया गया है। यह प्रक्रिया परवर्ती प्रत्याहार के ही समान है। तीसरे, हमें प्राण का नियमन करने का उपदेश दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि प्राण की गति में एक सम की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिये, जो परवर्ती प्राणायाम का ही पूर्व रूप है। चौथे, हमें बतलाया गया है कि ध्यान तथा योग-साधन का स्थान पवित्र तथा धूल और अग्नि, कोलाहल और जलाशय से दूर होना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो यह स्थान गिरि कन्दरा में हो। पाँचवे, हमें नीहार, धूम, सूर्य और अग्नि तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में विवेच्य अन्य रूपों में दिखाई देने वाले आत्म-प्रकाश के पुण्य-प्रभात के अग्रदूतों की सूचना दी गई है। छठे, हमें योगाग्नि के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का रहस्य भी बतलाया गया है। हमें बतलाया गया है कि योग-साधन करने वाला अजर-अमर हो जाता है। वह अपने शरीर को हलका तथा पूर्ण स्वस्थ अनुभव करता है। अन्त में, शीघ्र ही श्वेताश्वतरोपनिषद् हमें योग साधन द्वारा प्राप्य चरम स्थिति समधि की अवस्था में ले जाती है, जिसमें जीवात्मा को विश्वात्मा का साक्षात्कार होता है तथा वह विश्वात्मा से एकाकार प्राप्त कर लेती है (मूल० ६—क)। प्रसिद्ध योग-सूत्र में इसी का संकेत है—तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। उक्त उपनिषद् में धारण और ध्यान का समाधि की प्रारम्भिक स्थितियों के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है, इसका कारण यह है कि दोनों ही चरम स्थिति समाधि के अंग रूप में देखे जा सकते हैं, तथा उसी के अन्तर्गत आ सकते हैं। कठोपनिषद् में धारण का उल्लेख किया गया है और यह बतलाया गया है कि यह इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि का पूर्ण सांमजस्य है। कठोपनिषद् इसे योग की परमश्रेष्ठ स्थिति मानती है (मूल० ६—ख)। श्वेताश्वतरोपनिषद् के पहले अध्याय के चौदहवें श्लोक में ध्यान का भी उल्लेख किया गया है, जहाँ हमें ईश्वर का ध्यान करने तथा अपने अन्तस् से उसका आविर्भाव करने का उपदेश दिया गया है (मूल० ६—ग)। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हम प्राचीन उपनिषदों में उल्लिखित आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, योग के अंगों में केवल परवर्ती योग-दर्शन के यम और नियम और जोड़ दें तो आत्मानुभूति के मार्ग अष्टांगयोग का परिपूर्ण स्वरूप हमारे लिये तैयार हो जाता है। इसके

अतिरिक्त योग-सूत्रों में, विशेषतः 'क्लेशकर्मविपाकाशयै' अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः' इस सूत्र में प्रतिपादित ईश्वर के निर्गुण स्वरूप की कल्पना उपनिषदों में पहले ही से वर्तमान है। मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि विश्वात्मा अध्यक्ष मात्र है तथा जीवात्मा प्रकृति के साथ उपभोग करता है। कठोपनिषद् में ईश्वर को सांसारिक दुःख-शोक से अलिप्त माना गया है, जिस प्रकार सूर्य, जो विश्व का नेत्र है, दृष्टि दोषों से अलिप्त है (मूल० ९-घ)। अन्त में, योग के शरीर-विज्ञान सम्बन्धी आधार की समीक्षा कौषीतकी उपनिषद् और मैत्री उपनिषद् के समय में हो रही थी, जब, ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर विज्ञान सम्बन्धी विचार को प्रेरणा दी जा रही थी जो, जैसा कि गर्भोपनिषद् के गर्भ-विवेचन तथा अन्य प्रसंगों से स्पष्ट है, उस शरीर विज्ञान के लिये मार्ग प्रशस्त कर रहा था, जो आगे चल कर चरक, अग्निवेश आदि की संहिताओं का आधार बना। अस्तु, मैत्री उपनिषद् में अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, सप्त धातुओं, पुरीष, मूत्र, श्लेष्मा, अश्रु, चार मलों, कफ, पित्त, वात, तीन दोषों की गणना की गई है। कौषीतकी उपनिषद् में हमें यह बतलाया गया है कि हृदय से पुरीतत् की ओर प्रवाहित होने वाली नाड़ियाँ केश के सहस्रांश से भी अधिक सूक्ष्म हैं और वे पिंगल, शुक्ल, कृष्ण, पीत और (अथवा) रक्त वर्ण हैं (मूल० ९-ङ)। कौषीतकी उपनिषद् के समय से भी पूर्व छान्दोग्योपनिषद् में ये ही रक्तवाहिनी नाड़ियाँ तनिक अन्तर के साथ पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और रक्त बतलाई गई हैं, तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में शुक्ल, नील, पीत, हरित और रक्त बतलाई गई हैं (मूल० ९-च)। शुक्ल—नाड़ियों और पीत नाड़ियों तथा अन्य नाड़ियों के विषय में हम कुछ भी कहें; यह स्पष्ट है कि इन अवतरणों के प्रणेता कम से कम नील और रक्त नाड़ियों का अन्तर पहचानते थे, जो शरीर—विज्ञान का एक महत्व-पूर्ण विषय है। योग का अध्ययन ही शरीर-विज्ञान के विकास का कारण था, जो परिपूर्ण वैद्यक—शास्त्र का पूर्वरूप था।

६. उपनिषद् और न्यायवैशेषिक

रक्त-वाहिनी नाड़ियों तथा पुरीतत् का उल्लेख हमें एक दूसरे विषय, उपनिषदों में प्राप्य न्यायवैशेषिक के मूल आधारों पर ले आता है। यह सरलता-पूर्वक जाना जा सकता है कि उपनिषद् एक प्रकार मुख्य प्रतिपाद्य विषय तथा विवेचनापद्धति की दृष्टि से न्यायवैशेषिक पद्धतियों से एकान्त भिन्न हैं। जहाँ वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य प्रकृति की चरम सत्ताओं की सूची

बनाना है, तथा न्याय-दर्शन का उद्देश्य तर्क की प्रकृति और उसकी त्रुटियों का विवेचन है, वहाँ उपनिपदों का उद्देश्य यथा सम्भव सरलता पूर्वक आत्मा के परतत्व-मूलक सिद्धान्त का निरूपण है। एक ओर न्याय वैशेषिक और दूसरी ओर उपनिषदों के परस्पर सम्पर्क का एक मात्र विषय, जहाँ, तक दोनों के परतत्व-शास्त्र का सम्बन्ध है, मोक्ष की कल्पना है, जिसे न्यायवैशेषिक पद्धतियाँ उपनिपदों से ग्रहण करती हैं। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक दर्शन-पद्धतियों के लिये एक वहुत ही उत्कृष्ट कोटि के विचार-स्तर की आवश्यकता है, जो ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान के साधन के प्रति अधिक सचेत रहे। अतः हम उपनिषदों में न्यायवैशेषिक सिद्धान्तों के अधिक चिह्न नहीं पाते। किन्तु उपनिषदों में प्रतिपादित पुरीतत्-वाद को न्याय-वैशेषिक-पद्धतियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और एक परिवर्तन द्वारा उसे श्रेष्ठतर बना दिया है। बृहदारण्यकोपनिषद् उपनिषदीय विचार के इतिहास में प्रथम वार यह वतलाती है कि सुषुप्ति के समय आत्मा नाड़ियों में होकर पुरीतत् की ओर जाती है, जहाँ वह अपना निवास ग्रहण करती है, जो शारीरिक सुषुप्ति का कारण है (मूल० १०—क)। न्याय-दर्शन वृहदारण्यकोपनिषद् की इस कल्पना का प्रतिग्रहण कर लेता है; वह केवल आत्मा का स्थान मन को दे देता है और कहता है कि यह मन है जो नाड़ियों में होकर पुरीतत् की ओर जाता है तथा उससे पुरीतत् में निवास ग्रहण कर लेने पर ही सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है। न्याय-दर्शन द्वारा किये गये इस परिवर्तन का मुख्य-कारण सम्भवतः यही जान पड़ता है कि सुषुप्ति को सरलता पूर्वक मन की वृत्ति कहा जा सकता है, किन्तु उसे आत्मा की वृत्ति नहीं कह सकते, जिसे सदा जाग्रत समझना चाहिये। दूसरे, स्वयं वैशेषिक दर्शन, विशेषतः काल, मनस्, आत्मा सहित पंच-महाभूत, तथा आकाश के अन्तर्गत सम्मिलित दिक् आदि द्रव्यों की गणना में उपनिषदों के कई अवतरणों की ऋणी हैं, जिनमें अन्य कल्पनाओं के साथ पंचमहाभूतों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिये श्वेताश्वतरोपनिषद् का वह अवतरण पर्याप्त है, जिसमें हमें यह वतलाया गया है कि आत्मा काल की भी काल है तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पंचमहाभूत उसकी स्वकीय सृष्टि हैं (मूल० १०—ख)। अन्त में, छान्दोग्योपनिषद् के इस कथन में कि आकाश ध्वनि माध्यम का संवाहक है,—क्योंकि हमें वतलाया गया है कि यह आकाश के ही कारण है कि मनुष्य वोल सकता है, सुन सकता है, तथा प्रतिध्वनि सुन सकता है (मूल० १०—ग)—हमें उस कल्पना की भूमिका मिलती है, जो आगे चल कर नैयायिक दर्शन में इतना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है, जो आकाश की परिभाषा उसके गुण विशेष शब्द (वाहकता) के आधार

पर करता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इसके विपरीत मीमांसा सिद्धान्त में वैज्ञानिक दृष्टि से उपनिषदीय नैयायिक दर्शन की अपेक्षा अधिक सत्य है, जब वह हमें यह बतलाती है कि आकाश नहीं, वरन् वायु शब्द वाहक है। वर्तमान विज्ञान इसका समर्थन करता है।

७. उपनिषद् और मीमांसा

मीमांसा-दर्शन अपनी कर्मकाण्ड-मय प्रकृति के कारण ही उपनिषदीय दर्शन से, जिसका विषय परम-सत्य का निरुपण है, अधिक साम्य नहीं रखता किन्तु मीमांसा में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन ईशावास्योपनिषद् में किया गया है। यह उपनिषद् हमें बतलाती है कि "जो अज्ञान-मार्ग अथवा कर्म मार्ग पर चलते हैं, वे अन्ध-तामिस्र लोकों में जाते हैं; किन्तु जो ज्ञान-मार्ग पर चलते हैं वे और भी अधिक अन्ध-तामिस्र लोकों में जाते हैं। एक अज्ञान का परिणाम है तो दूसरा ज्ञान का। यही हमने ऋषियों से सुना है, जिन्होंने हमें अज्ञान और ज्ञान का स्वरूप बतलाया है। किन्तु जो अज्ञान और ज्ञान दोनों मार्गों को जानता है, वह एक के ज्ञान से मृत्यु के बन्धन को पार कर सकता है तथा दूसरे के ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति कर सकता है" (मूल० ११)। ईशावास्योपनिषद् का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अवतरण हमें ज्ञान और कर्म की परस्पर विरोधी भावनाओं के समन्वय का साधन बतलाता है। एक ओर केवल कर्म अपर्याप्त है, दूसरी ओर केवल ज्ञान। पूर्व मीमांसा, जो एक (कर्म) का प्रतिपादन करती है तथा उत्तर-मीमांसा, जो दूसरे (ज्ञान) का प्रतिपादन करती है, दोनों का दृष्टि-कोण एक-देशीय है। इन दोनों के विपरीत ईशावास्योपनिषद् हमें बतलाती है कि जो यह जानता है कि कर्म और ज्ञान दोनों की भावनाओं का सामंजस्य किस प्रकार स्थापित करना चाहिये, वह दोनों में दोषों से अपनी मुक्ति कर सकता है तथा दोनों से परे पहुँच कर दोनों के आनन्द का उपभोग करता है। हम जानते हैं कि किस प्रकार परवर्ती युग में प्रभाकर, कुमारिल भट्ट और शंकर के मत में परस्पर विरोध हुआ था। प्राभाकरों का मत था कि कर्म से ही मुक्ति मिल सकती है। वे ज्ञान को भी कर्म मानते थे। दूसरे, कुमारिल भट्ट का मत था कि ज्ञान और कर्म के समन्वय से मुक्ति मिल सकती है। शंकर का मत था कि मुक्ति केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। ईशावास्योपनिषद् हमारे सामने एक ऐसा विचार रखती है जो एक ओर न प्रभाकर के मत का समर्थन करता है और न दूसरी ओर शंकर के मत का; किन्तु केवल कुमारिल भट्ट के मत का समर्थन करता है कि मुक्ति ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही प्राप्त हो सकती है; साथ ही

यह आत्मानुभूति के एक श्रेष्ठतर समन्वय के लिये ज्ञान और कर्म दोनों का निषेध करने में कुमारिल से भी आगे बढ़ जाती है। कुमारिल ने कहा है कि जिस प्रकार पक्षी आकाश में एक पंख से नहीं उड़ सकता वरन् दोनों पंखों की सहायता से ही आकाश में उसकी गति संभव है, उसी प्रकार ईशावास्योपनिषद् का कथन है कि मनुष्य को अनन्तलोक में उड़ने के लिये ज्ञान और कर्म दोनों की भावनाओं का समन्वय करना चाहिये, क्योंकि संतुलन के साथ उड़ना श्रेष्ठतर है। अस्तु, हम देखते हैं कि किस प्रकार ईशावास्योपनिषद् हमारे सामने एक ऐसा विचार-तत्व रखती है, जो माध्यमिक मीमांसकों के सिद्धान्त का केन्द्र-विन्दु बन गया, यद्यपि वह न उत्तर-मीमांसकों के मत का समर्थन करता है और न उत्तर-वेदान्तियों के मत का।

८. उपनिषद् और शैव-दर्शन

शैव-दर्शन के मूल आधारों के लिए हमें एक बार फिर श्वेताश्वतर की ओर लौटना होगा। यद्यपि देवाङ्गना के रूप में उमा का उल्लेख केनोपनिषद् में भी मिलता है, फिर भी शैव-दर्शन की विस्तृत तथा व्यवस्थित मीमांसा के लिए हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् का ही आश्रय लेना आवश्यक है। यह सत्य है कि रुद्र-शिव की कल्पना का विकास ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के समय से ही हो रहा था। किन्तु शैव-दर्शन का निश्चित दार्शनिक आधार हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् के ही समय से मिलता है। इस उपनिषद् में हमें यह बतलाया गया है कि "ईश ही क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त सबका आधार है। उसके विपरीत अशक्त आत्मा है जो कर्म-फलों की भोग-भावना से कारण बद्ध है। किन्तु जब यह आत्मा ईश को पहचानती है, तो वह पाशों से मुक्त हो जाती है" (मूल० १२–क)। इस प्रकार पशु, पति और पाश का सिद्धान्त श्वेताश्वतरोपनिषद् में अपनी गर्भावस्था में दिखाई देता है। "एक रुद्र ही परम देवता है। लोक दूसरे देवता को ईश नहीं मानते। वह, जो अपनी शक्तियों द्वारा समस्त लोकों पर शासन करता है, प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख उपस्थित रहता है तथा महाप्रलय के समय अपने कोप से सृष्टि का संहार करता है (मूल० १२–ख)। वे भगवान शिव हैं, जो समस्त भूतों में अन्तःस्थित होने के कारण विश्व में परिव्याप्त हैं। वे घृत के ऊपर के मण्ड के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हीं के ज्ञान द्वारा मनुष्य अज्ञान के बन्धनों से मुक्त होता है" (मूल० १२–ग)। "वस्तुतः ईश्वर अपने हाथों से एक ही जाल को बहुधा करके भूमण्डल पर फैला देता है। वह समस्त लोकों की पुनः-पुनः सृष्टि करता है और उन पर

अपना आधिपत्य स्थापित करता है" (मूल० १२–घ)। इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भगवान रुद्र को, जो शिव और ईश से अभिन्न हैं, परमेश्वर माना गया है, जो आत्माओं का परमात्मा है, विश्व का शासक है, केवल जिसके ज्ञान से ही अज्ञान के पाशों से आबद्ध आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् ने शैवमत का पथ प्रशस्त किया। इसका त्रितत्वात्मक अद्वैत के दिव्य वर्णों द्वारा ईश्वर की अपरूप प्रभा का प्रदर्शन आगे चलकर काश्मीरी शैवमत तथा दक्षिणी शैवमत का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय हो गया।

९. उपनिषदों और भगवद्गीता में भाषा और भाव का साम्य

उपनिषद् और भगवद्गीता के सम्बन्ध की समीक्षा करते समय यह ध्यान में रखने योग्य है कि इस विषय का परिपूर्ण विवेचन इस अध्याय के एक अङ्ग की छोटी सी परिधि में सम्भव नहीं। यह प्रश्न इतना मनोरंजक तथा इतना व्यापक है कि इसका सम्यक् रूप से विवेचन एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में किया जायगा। फिर भी यहाँ पर उपनिषदों और भगवद्गीता के सम्बन्ध का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक जान पड़ता है। उस श्लोक में बहुत कुछ सत्य है जो हमें यह बतलाता है कि "उपनिषद् गाय के समान है, कृष्ण दुहने वाले के समान है, अर्जुन बछड़े के समान है, और और भगवद्गीता उस उपनिषदों रूपी गाय से दुहा हुआ अमृतमय दुग्ध है।" भगवद्गीता में उपनिषदों से ग्रहीत भावों, शब्दों तथा वाक्यों के उदाहरण के लिए हमें देखना चाहिये कि किस प्रकार कठोपनिषद् के इस श्लोक की (मूल० १३–क) "आत्मा न कभी जन्म लेती है, न कभी मरती है; न किसी वस्तु से उसका उद्भव होता है और न किसी में उसका निलय। वह अज, नित्य, शाश्वत है। अनादिकाल से सत्तावान् है तथा शरीर के साथ भी उसका नाश नहीं होता", आवृत्ति प्रायः अक्षरशः गीता के निम्न श्लोक में हुई है—

अध्याय–२; श्लोक–२०। तथा कठ के इस श्लोक की—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं
हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो
नायं हन्ति न हन्यते॥

(मूल० १३–ख)।

गीता के निम्न श्लोक में अक्षरशः आवृत्ति हुई है—

अध्याय–२; श्लोक–१९। पुनः हम देखते हैं कि कठोपनिषद् का यह श्लोक—

श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि वहवो यन्न विद्युः
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्वाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः

(मूल० १३–ग)

शब्द व्यतिक्रम द्वारा गीता के निम्न श्लोक में ग्रहण किया गया है—

अध्याय–२; श्लोक–२९। उक्त उपनिषद् के ही एक अन्य श्लोक—

सर्वे वेदा यत्पदमाम नन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्

(मूल० १३–घ)।

की गीता के निम्न श्लोक में अक्षरशः आवृत्ति हुई है—

अध्याय–८; श्लोक–१३। अन्त में देवयान और पितृयान अथवा देव-मार्ग और पितृमार्ग की कल्पना (मूल० १३–ङ), जिसे उपनिषदों ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वयं वेदों से ग्रहण किया, गीता ने उपनिषदों से प्रति-ग्रहण कर लिया, जो हमें दोनों मार्गों के संश्लिष्ट वर्णन में (८–२४, २५) हमें उपनिषदों के ही स्वर में वतलाती है कि जो देवमार्ग से जाते हैं, वे ब्रह्म की ओर जाते हैं तथा जो पितृमार्ग से जाते हैं उन्हें उसी मार्ग से फिर लौटना पड़ता है।

१०. उपनिषदीय आधार से आगे भगवद्गीता का विकास

यहाँ तक हमने उपनिषदों और भगवद्गीता के उन समानान्तर अव-तरणों का विवेचन किया है, जो भाव अथवा भाषा दोनों की दृष्टि से एक दूसरे से वहुत कुछ साम्य रखते हैं। अब हम उपनिषदों के उन अवतरणों और भावों की विवेचना करेंगे, जिन्हें भगवद्गीता ने उपनिषदों से लेकर अपने सिद्धान्त विशेष के अनुकूल उनका रूपान्तर और विकास किया। ईशावास्योपनिषद् के एक श्लोक ने, जो हमें एक विरोधाभास के रूप में यह बतलाता है कि "मनुष्य को अपना जीवन कर्म-साधना में ही व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि कर्म से अलिप्त रहने का यही एक मात्र साधन है" (मूल०

१४-क)। भगवद्गीता को एक ऐसी उर्वर कल्पना प्रदान की है कि गीता ने उसके आधार पर कर्म-योग का एक परिपूर्ण सिद्धान्त विधान करने की योजना कर ली। जैसा कि हम उपनिषदीय नीति-शास्त्र के अध्ययन में कहेंगे, यह अवतरण हमें जीवन के उपादान साधन और ध्येय तो प्रदान करता है, किन्तु इसमें उनको परस्पर सम्बद्ध करने वाली अन्तः शृंखला नहीं मिलती। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मफल के प्रति उदासीनता तथा अनासक्ति द्वारा निष्काम कर्म साधना का उपदेश है। दूसरे जहाँ हम मुण्डकोपनिषद् में पुरुष का वर्णन पाते हैं, जिसका अग्नि शिर है, सूर्य-चन्द्र दो नयन हैं, दिशायें श्रवण हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पृथ्वी चरण है (मूल० १४-ख)। वहाँ हम भगवद्गीता के एकादश अध्याय के कृष्ण के विश्व रूप को गर्भावस्था में पाते हैं। यह भी सम्भवतः सत्य है कि मुण्डकोपनिषद् इस कल्पना को पुरुष सूक्त से ग्रहण कर लेती है; किन्तु यह कहना भी उतना ही सत्य है कि यह भगवद्गीता को कल्पना का वह स्वरूप प्रदान करती है जिस पर वह विस्तार करके उस विश्व-पुरुष की कल्पना करती है, जो सर्वमय है, सर्वशक्तिमान है, जिसके लिये भूत और भविष्यत चिरन्तन वर्तमान के समान है, जिसके प्रति आत्म समर्पण तथा जिसमें निलय मानवीय प्रयासों का चरम ध्येय है। तीसरे कठोपनिषद् एक प्रसिद्ध अवतरण में मानसिक तथा शारीरिक सत्ताओं का सम्मिश्रित स्वरूप हमारे सामने रखती है, जहाँ वह घोषित करती है कि "इन्द्रियों से परे अर्थ है, अर्थ से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महत है, महत से परे अव्यक्त है और अन्त में अव्यक्त से परे पुरुष है, जिससे परे और जिससे बाहर किसी वस्तु की सत्ता नहीं (मूल० १४-ग); भगवद्गीता परोक्ष-तत्वों को छोड़ कर केवल मानसिक तत्वों का ग्रहण कर इस व्यवस्था को सुलझा देती है। इसका एक स्पष्ट कारण यह है कि वह इस अवतरण को परतत्व-परक होने की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक महत्व से परिपूर्ण समझती है। इस प्रकार भगवद्गीता जहाँ (अध्याय-३, श्लोक-४२) हमें यह बतलाती है कि इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे पुरुष है, वहाँ वह महत् और अव्यक्त इन बाह्य जगत के उपादानों को छोड़ देती है तथा केवल मनोवैज्ञानिक उपादानों का ग्रहण कर उस व्यवस्था को बहुत कुछ सुलझा देती है। अन्त में, सनत्कुमार से अध्यात्म-ज्ञान के उपदेश की विनय करते समय नारद के हृदय में स्पन्दित होने वाली भक्ति प्रेरणा (मूल० १५-क) तथा शाकायन के जलहीन कूप से मेंढ़क के समान जीवन-पंक से उठा लेने की प्रार्थना करते समय बृहद्रथ की नारद के ही

समान भावप्रवण प्रवृत्ति (मूल० १५–ख) जो भाव–प्रवण प्रवृत्तियाँ उपनिषद् के सामान्यतः शुष्क, प्रज्ञात्मक, तर्क प्रणाली के विपरीत हैं—आगे चल कर भगवद्गीता के सेश्वर तथा रहस्यात्मक दर्शन का आधार बन जाती है, जिसमें उपनिषदों की शुष्क प्रज्ञात्मक कल्पनायें विलीन हो जाती हैं, और हम काव्य और दर्शन का अपूर्व सांमजस्य देखते हैं जो श्वेताश्वतरोपनिषद् की 'उपासना' (मूल० १५–ग) अथवा गुरुवत ईश्वरभक्ति (मूल० १५–घ) को रहस्यात्मक जीवन का परम लक्षण बना लेती है, जिसका चरम ध्येय परमात्मा की अनुभूति है।

११. उपनिषदों और भगवद्गीता में अश्वत्थ

एक महत्वपूर्ण विषय में भगवद्गीता ने उपनिषदों के विपरीत स्थिति की है। कठोपनिषद् में हमें 'सनातन अश्वत्थ वृक्ष' का वर्णन मिलता है, जिसकी मूल ऊपर की ओर है, और शाखायें नीचे की ओर हैं, जो शुद्ध शाश्वत ब्रह्म है, जिसमें समस्त लोकों की स्थिति है तथा जिससे परे और कुछ नहीं है (मूल० १६)। इस अवतरण में हमें यह बतलाया गया है कि अश्वत्थ वृक्ष साक्षात् ब्रह्म है और सनातन है। दूसरी ओर भगवद्गीता अपने पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में हमें बतलाती है कि "अश्वत्थ वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है तथा शाखायें नीचे की ओर हैं। वेद इसके पत्ते हैं। नीचे ऊपर दोनों ओर इसकी शाखायें फैली हुई हैं, जिसका परिपोषण गुणों से होता है। विषय इसके प्रवाल हैं। पुनः इसके अनन्त मूल कर्म–रूप से फैलते हैं। इस रूप में इस संसार में उस वृक्ष की एक झलक भी असंभव है। इसका न आदि है और न अन्त है, और न इसमें कोई जड़ता। निष्काम भाव की शक्ति से इस अश्वत्थ वृक्ष को काट कर, जिसकी जड़ें बड़ी पुष्ट हैं, हमें फिर उस दिव्यधाम को खोजना चाहिये, जहाँ पहुँच कर फिर लौटना नहीं होता तथा वहाँ उस आदि पुरुष के पास पहुँचना चाहिये, जिससे समस्त सृष्टि का उद्भव है" (गीता: अध्याय–१५; श्लोक–१-४)। भगवद्गीता के इस अश्वत्थ-वर्णन के गुण-दोष विवेचन से हमारा सम्बन्ध नहीं, हम इसमें प्रदर्शित विरोधी भावों पर विचार नहीं करेंगे, किन्तु हमारा उद्देश्य यहाँ केवल यही जान लेना है कि भगवद्गीता का अश्वत्थ-वर्णन कहाँ तक कठोपनिषद् अश्वत्थ-वर्णन से सहमति रखता है। यह देखा जा सकता है कि जहाँ तक अश्वत्थ वृक्ष के ऊर्ध्वमूल तथा अधः शाखा होने का सम्बन्ध है, वहाँ तक भगवद्गीता और कठोपनिषद् एक मत

हैं। किन्तु जहाँ उपनिषद् यह उपदेश देती है कि अश्वत्थ वृक्ष सनातन तथा ब्रह्म-रूप है, अतः अच्छेद्य है, वहाँ भगवद्गीता हमें यह उपदेश देती है कि अश्वत्थ को अनित्य तथा संसार-रूप मानना चाहिये। इसका अनासक्ति के अस्त्र द्वारा काटना अत्यन्त आवश्यक है। ये दोनों वर्णन एक दूसरे के एकान्त विरुद्ध हैं। तुलनात्मक पौराणिक शास्त्र के पाठकों को यह ज्ञात होना चाहिये कि उपनिषदों और भगवद्गीता के अश्वत्थ वृक्ष के अनुरूप ही स्केन्डिनेवियन (Scandinavian) पौराणिक साहित्य में 'इग्द्रज़िल' (Igdrasil) वृक्ष का मिलता है। यह भी ध्यान देने योग्य है इग्द्रज़िल का वर्णन वृक्ष को सत्यरूप तथा वास्तविक सत्ता मानने में उपनिषदों से सहमत है। दूसरी ओर वह मनुष्य के कर्मों, अभिप्रायों, तथा मनुष्यों के इतिहास को इस लोक-सत्तात्मक वृक्ष की शाखायें और डालियाँ मानने में यह भगवद्-गीता से सहमति रखता है। कारलायल (Carlyle) का इस 'इग्द्रज़िल' वृक्ष का प्रसिद्ध वर्णन यहाँ देने योग्य है: "समस्त जीवन को उन्होंने वृक्ष का स्वरूप दिया है। 'इग्द्रज़िल' अथवा विश्व-वृक्ष का मूल पाताल में मृत्यु के लोकों में है। उसका तना आकाश तक पहुँचता है तथा समस्त विश्व में अपनी शाखायें फैला देता है। यह विश्व-वृक्ष है। इसके तल (चरण) मृत्यु-लोक में तीन नियतियाँ—भूत, वर्तमान, भविष्य—विराजमान हैं और इसकी जड़ों को 'पवित्र (पुण्य) कूप' के जल से सींचती रहती हैं। उसकी शाखायें प्रस्फुटन और पतन के सहित, जो घटनाओं, दुर्वृत्तों, आपत्तियों के ही प्रतिरूप हैं, अखिल लोक और काल में व्याप्त हैं। क्या इसका प्रत्येक पत्र एक जीवन कथा नहीं है? तथा इसका प्रत्येक रेशा एक कार्य अथवा शब्द नहीं है? इसकी शाखायें राष्ट्रों के इतिहास हैं। इसकी मरमर मानव-जीवन का कोलाहल है, जो पुरातन से सदा आगे है। यह वहाँ बढ़ता रहता है; मानवीय वासनाओं की सांसे इसमें मरमर करती रहती हैं अथवा आंधियाँ समस्त देवताओं के समवेत स्वर की भाँति गर्जन करती रहती हैं। यह 'इग्द्रज़िल' विश्व-वृक्ष है, यह भूत, वर्तमान और भविष्यतः है। जो किया जा रहा है, जो किया जायगा सब कुछ यह है। 'कृ' धातु के असंख्य रूप संघात हैं।" यह दुर्भाग्य की बात है कि इस वृक्ष के स्केन्डिनेवियन वर्णन ने इसके मूल को पाताल में मृत्यु-लोक में ले जाकर रख दिया है, यद्यपि इसका तना स्वर्ग तक पहुँचता हुआ बतलाया गया है। यह अधिक वाञ्छनीय था कि इसका मूल शाश्वत जीवन में होता। इस दृष्टि से भगवद्गीता और उपनिषद् दोनों स्पष्ट रूप से स्केन्डिनेवियन पौराणिक शास्त्र से श्रेष्ठ हैं।

१२. छान्दोग्य के कृष्ण और भगवद्गीता के कृष्ण

अस्तु, हमें एक ऐसे प्रश्न का गुण-दोष-विवेचन न भूलना चाहिये जिसने भगवद्गीता और उपनिषदों के कुछ आधुनिक टीकाकारों के हाथों कुछ अधिक महत्व ग्रहण कर लिया है; विशेषतः जब कि, हमारी धारणा है, इन टीकाकारों ने इतनी धूल उड़ाई है कि वे देख नहीं सकते। छान्दोग्योपनिषद् में एक कृष्ण का उल्लेख है, जो देवकी के पुत्र थे। अतः टीकाकारों को उन्हें सहज ही महाभारत के दिव्य नायक देवकी पुत्र कृष्ण से एक रूप कर देने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। हम देखेंगे कि इस प्रकार का एक एकीकरण कितना निरर्थक है। किन्तु इस विवेचना से हाथ लगाने के पूर्व हमें उस अवतरण का अर्थ स्पष्ट कर देना चाहिये, जिसमें देवकी के पुत्र कृष्ण का उल्लेख है। छान्दोग्योपनिषद् के तीसरे अध्याय में एक अवतरण है जो बहुत महत्वपूर्ण है, जिसका अभिप्राय मनुष्य का यजमान के साथ साम्य करना तथा इस प्रकार मानव-जीवन और याज्ञिक-जीवन में तुलना स्थापित करना है। याज्ञिक के जीवन की गति क्या होती है ? जब वह यज्ञ का विधान हाथ में लेता है, तो प्रथम उसके लिये भोजन, पान तथा विनोद और उपभोग का निषेध होता है। यह उसकी दीक्षा का अंग है। दूसरे, इसके बाद कुछ संस्कार होते हैं जिन्हें 'उपासद्' कहते हैं, जिनमें उसे भोजन, पान, विहार और उपभोग की आज्ञा मिल जाती है। तीसरे, जब ऐसा याज्ञिक यज्ञ के बीच में भी हँसना चाहता है तथा भोजन और विषय-सुख की कामना करता है, तो उसे इसकी आज्ञा मिल जाती है, यदि वह कुछ स्तव-गान करदे। चौथे, उसे यज्ञ के उपलक्ष में पुरोहितों को कुछ दक्षिणा देनी चाहिये। पाँचवे, वह सोम का अर्घ्य देता है, जो याज्ञिक के अभिनव जीवन के समान है। अन्त में, यज्ञ के अन्त में वह अवभृथ स्नान करता है, जिसके साथ यज्ञ की समाप्ति होती है। ये श्रेणियाँ हैं जिनसे होकर एक याज्ञिक के जीवन की प्रगति है। ये याज्ञिक के जीवन-पथ की श्रेणियाँ हैं। हमारे विवेच्य अवतरण में यह बतलाया गया है कि घोर अंगिरस, जो देवकी-पुत्र कृष्ण के प्रख्यात गुरु थे, याज्ञिक-जीवन तथा लोक-जीवन में एक तुलना की स्थापना करते हैं। मानव-जीवन की प्रथम श्रेणी पर तो मनुष्य को उम्मीदवारी में रहना पड़ता है। वह कुछ अवसरों पर खान, पान, विहार से भी वंचित रह जाता है। दूसरे, एक दूसरी श्रेणी उसके लिये खुल जाती है, जब वह भोजन, पान, विहार कर सकता है। तीसरे जब वह कुछ वयस्क हो जाता है तो वह विनोद तथा विषय-सुख का उपभोग कर सकता है। चौथे, एक पवित्र जीवन के लिये उसे जो मूल्य

चुकाना पड़ता है वह यह है कि वह तप, औदार्य, आर्जव, अहिंसा, सत्य आदि गुणों का पालन करें। पाँचवे, प्रजोत्पादन के बाद हम कह सकते हैं कि उसने पुत्र के रूप में पुनः जन्म धारण कर लिया। मानव-जीवन के नाटक का अन्तिम अङ्क तब होता है, जब मृत्यु यवनिकापात कर देती है, तथा मनुष्य जीवन से विदा लेता है। घोर अंगिरस कृष्ण से कहते हैं कि ऐसे कठिन समय में—और हमें बतलाया गया है कि जब कृष्ण को यह ज्ञानोपदेश दिया गया तो उन्हें फिर अधिक ज्ञान की पिपासा नहीं रही—मनुष्य को इन तीन विचारों की शरण लेनी चाहिये : तू अक्षय है, तू अच्युत है, तू प्राण-शंसित है (मूल० १७)। इस अवतरण के आधार पर अनेक आधुनिक समालोचकों ने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस अवतरण में उल्लिखित देवकी पुत्र कृष्ण को वासुदेव कृष्ण से एक रूप समझना चाहिये, जो, जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, महाभारत के दिव्य नायक हैं। 'धर्म और नीति का विश्व कोष' (Encyclopaedia of Religion and Ethics) में डॉ० ग्रियर्सन (Dr. Grierson) ने एक बड़ी सहज रीति से यह संकेत किया है कि "कृष्ण वासुदेव, जो एक नवीन एकेश्वर धर्म के संस्थापक थे, घोर अंगिरस के शिष्य थे, जिन्होंने ऐसा ज्ञानोपदेश दिया कि कृष्ण को अधिक ज्ञान की पिपासा न रही। कृष्ण वासुदेव तथा घोर अंगिरस के शिष्य कृष्ण के ऐसे एकीकरण के उत्तर में हमें यही निर्देश करना है कि यह बिना उपपत्ति का प्रतिपादन है। यह हमारी समझ के बाहर है कि किस प्रकार केवल इसी कारण कि घोर अंगिरस के शिष्य कृष्ण देवकी के पुत्र थे, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् का कथन है, वे महाभारत के कृष्ण से एक रूप माने जा सकते हैं, जो देवकी पुत्र थे, जब कि महाभारत में कहीं भी घोर अंगिरस का उल्लेख नहीं किया गया है, जो छान्दोग्योपनिषद् के कृष्ण के गुरु थे। ऐसा विषय महाभारत जैसे ग्रन्थ में उपेक्षित नहीं रह सकता, जिससे दिव्य वीर नायक कृष्ण के जीवन-वृत्त के विषय में प्रत्येक बात की सूचना की आशा की जाती है तथा उनके गुरु का नाम न छोड़ने की भी आशा की जाती है। यदि छान्दोग्योपनिषद् के कृष्ण का महाभारत के कृष्ण से एकीकरण किया जाता है, तो हमें ऐतरेयोपनिषद् के हरिश्चन्द्र का, जिनके सौ रानियाँ थीं, पौराणिक हरिश्चन्द्र से एकीकरण क्यों न करना चाहिये जिनके एक ही रानी थी? केवल नाम की समानता कुछ भी प्रमाणित नहीं कर सकती। अत्यन्त विद्वान् आधुनिक समालोचकों द्वारा वैदिक ख्याति के विष्णु, सृष्टि-कर्त्ता नारायण, अंगिरस के शिष्य कृष्ण, नव-धर्म के संस्थापक (प्रवर्तक) ब्राह्मण-साम्य-पद्धति के आधार पर वासुदेव को एक ही रूप देकर पौराणिक काल्पनिक साम्यों का

विशाल भवन-विधान और इस प्रकार घोर अंगिरस के उपदेशों में भगवद्गीता के धर्म-सिद्धान्तों का आधार खोजना हमारे सामने एक हास्यास्पद स्थिति उपस्थित कर देता है। अस्तु, छान्दोग्योपनिषद् के कृष्ण और (भगवद्गीता) के कृष्ण में कुछ साम्य दिखाई दे सकता है, जब हमारा विवेच्य अवतरण चौथा पद हमें यह बतलाता है कि याज्ञिक को पुरोहितों के प्रति जो दान देना चाहिये वह ये गुण हैं: तप, धन, आर्जव, अहिंसा और सत्य। यह सूची भगवद्गीता के अध्याय १६ के श्लोक १–२ की गुण सूची से बहुत निकट साम्य रखती है, जहाँ पर उन्हीं गुणों का उल्लेख कुछ अन्य गुणों के साथ किया गया है तथा लगभग उसी क्रम में। किन्तु इससे भी कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जैसा पीछे संकेत किया गया है, भगवद्गीता उपनिषदों से ग्रहीत अवतरणों, वाक्यों, भावनाओं का संग्रह है और यह संयोग के कारण ही है, जैसा हम कह सकते हैं, कि उक्त पाँचों गुणों की गणना उपनिषदीय अवतरण में उसी स्थान पर हुई जहाँ कि देवकी-पुत्र कृष्ण का भी उल्लेख है। ग्रीक में डेल्फ़ी (Delphi) की 'दिव्य-वाणी' (Oracle) की एक कहानी है कि उस देवता की अभ्यर्थना में, जिसने सागर के मध्य में पोतनाश से इतने प्राणियों की रक्षा की थी, मन्दिर में अनेक 'जय-चिह्न' लटकाये। एक दार्शनिक वहाँ आया और उसने पूछा कि वे कहाँ हैं जो डूब गये? इसी प्रकार हम छान्दोग्योपनिषद् के अवतरण में उल्लिखित गुणों के विषय में भी कह सकते हैं, जो भगवद्गीता के गुणों से साम्य रखते हैं। यह सत्य है कि छान्दोग्योपनिषद् के गुणों की गणना भगवद्गीता के गुणों की गणना के लगभग समानान्तर है; किन्तु घोर अंगिरस के उपदेश का तत्व भगवद्गीता में सम्मिलित कर लिया गया, जब कि उपनिषदीय अवतरण हमें यह बतलाता है कि मृत्यु के अन्तिम क्षणों में मनुष्य को इन भावनाओं की शरण लेनी चाहिये कि तू अक्षय है, तू अच्युत है, तू प्राण-शंसित है? भगवद्गीता के इन भावों से लाभ न उठाने का क्या कारण है—अक्षित, अच्युत, प्राण-शंसित? क्यों वह हमें केवल इसी उपदेश के साथ छोड़ देती है कि मनुष्य को मृत्यु के समय ॐ शब्द का उच्चारण करना चाहिये, तथा ईश्वर का स्मरण करना चाहिये? अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि दोनों कृष्णों के एकीकरण का भार उन्हीं के ऊपर आता है जो उसका प्रतिपादन करते हैं और जहाँ तक उनके तर्कों की पहुँच है, हम यह नहीं समझते कि उन्होंने किसी भी रूप में उसे प्रमाणित कर दिया है।

१३. उपनिषद् और वेदान्त

उपनिषदों और ब्रह्म सूत्रों का सम्बन्ध उपनिषदों और भगवद्गीता के सम्बन्ध से कम मनोरंजक तथा कम महत्वपूर्ण नहीं। वस्तुतः अपने विविध विभागों के सहित समस्त वेदान्त इन तीन मूल आधारों पर आश्रित हैं: उपनिषद्, ब्रह्म-सूत्र और भगवद्गीता। इस प्रकार यह आशा करना स्वाभाविक है कि ब्रह्म-सूत्रों और उपनिषदों का परस्पर सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण प्रश्न होगा। ब्रह्मसूत्र-कार बादरायण उपनिषद् से इतने अधिक परिमाण में ग्रहण करता है तथा समस्त सूत्रों का इतना दृढ़ मूल उपनिषदों में पाया जाता है कि उपनिषदों के मूल स्थलों के निरन्तर प्रसंग बिना उनका समझना तथा उनकी व्याख्या करना असम्भव है। उन्होंने द्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत वेदान्त, अथवा अद्वैत वेदान्त में किसका प्रतिपादन किया इसका विवेचन यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदान्त-दर्शन के तीन महान् सम्प्रदायों—मध्व, रामानुज और शंकर में से प्रत्येक ब्रह्मसूत्रों तथा उपनिषदों की व्याख्या पृथक्-पृथक् रूप से करते हैं। शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा अन्य ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के भाष्यकार इन तीन प्रधान दर्शन पद्धतियों में प्राप्य चरम-स्थितियों के समुच्चय मात्र हैं। अतः इसका विवेचन करने के बाद ही कि कहाँ तक उपनिषदों में द्वैत, विशिष्टा द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तों के अन्तर के लिये स्थान दिया गया है, हमारी वेदान्त समस्त मूल स्वरूपों की समीक्षा पूर्ण हो सकती है, जिनके भिन्न-भिन्न अंशों में समवाय से सभी पद्धतियों का रूप निरुपण (ग्रहण किया) किया गया। वेदान्त दर्शन के इन तीन मुख्य सम्प्रदायों का विवेचन करते समय भी, अनेक मूल सिद्धान्तों का उदय होता है, जिनके विविध रूप में ग्रहण से विविध पद्धतियों का जन्म हुआ। अतः मुख्य प्रश्न जिनका उत्तर दार्शनिकों को देना है, ये हैं: ईश्वर का स्वरूप क्या है? वह ब्रह्म से भिन्न है अथवा उसके अन्तर्गत अथवा उससे तद्रूप है? दूसरे शब्दों में क्या ईश्वर की सगुण कल्पना तथा ब्रह्म की दार्शनिक कल्पना एक ही है? इन पद्धतियों में आत्मा और विश्वात्मा का क्या सम्बन्ध है? क्या ये पद्धतियाँ संसार की सत्यता को स्वीकार करती हैं अथवा इसे केवल माया मानती हैं? इन पद्धतियों का अमरत्व सिद्धान्त क्या है? ईश्वर की व्यापकता तथा अतीन्द्रियता के विषय में इन पद्धतियों का क्या मत है? ब्रह्म की परिभाषा क्या है—विधायक शब्दों में, निषेधात्मक शब्दों में, दोनों में अथवा किसी में नहीं? इन तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर उन पद्धतियों की विभाजक रेखा होगी। हम देखेंगे कि किस

प्रकार वे तीन महान् वेदान्त-सम्प्रदाय इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर, अपने प्रकाश कोण द्वारा उपनिषदों से देंगे।

१४. उपनिषदों में माध्व-मत

द्वैतवाद के प्रवर्तक आनन्द तीर्थ को अपने जीवात्मा और परमात्मा की एकान्त भिन्नता के सिद्धान्त प्रतिपादन की संगति का समर्थन कठोपनिषद् के एक (ऐसे) अवतरण में मिल जाता है, जो हमें यह बतलाता है कि "विश्व में दो आत्मायें हैं, जो कर्म-फल का आस्वादन करती हैं। वे दोनों मनुष्य के अन्तःकरण में सन्निहित हैं। वे दोनों एक दूसरे से इसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार प्रकाश और छाया" (मूल० १८-क), तथा जिसका संशोधन आगे चलकर मुण्डकोपनिषद् के एक अवतरण में कर दिया गया है। जो हमें यह बतलाता है कि "दो पक्षी हैं; दोनों एक दूसरे के साथी और सुहृद हैं; दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं; उनमें से एक वृक्ष के मधुर फलों का उपभोग करता है, किन्तु दूसरा केवल उसका निरीक्षण करता है" (मूल० १८-ख)। ऊपर उद्धृत किये गये कठोपनिषद् के अवतरण के साथ यह आपत्ति है कि हम विश्वात्मा को कर्म-फलों का उपभोग करने वाला कैसे मान सकते हैं? कर्म-फलों का उपभोग जीवात्मा की प्रकृति कही जा सकती है, किन्तु परमात्मा की नहीं, जो ऐसे उपभोगों से परे है। संभवतः इसीलिये मुण्डकोपनिषद् ने परमात्मा को कर्म-फलों के उपभोग के भार से मुक्त कर दिया और कर्म-फलास्वादन के आनन्द विषय को जीवात्मा के द्वार पर स्थित कर दिया। अस्तु, यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त दोनों अवतरणों में जीवात्मा को परमात्मा से एकान्त भिन्न तथा उस पर आश्रित बतलाया गया है। उपनिषदों के ये ही अंश हैं, जिनका, भगवद्गीता के एक परवर्ती अवतरण की भाँति, जो हमें यह बतलाता है कि "इस लोक में दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर; क्षर सर्वभूत-मय तथा अक्षर उनके शिखर पर स्थित है" (अध्याय १५, श्लोक–१६), उद्धरण मध्वाचार्य के अनुयायी अपने जीवात्मा और परमात्मा को एकान्त भिन्नता के सिद्धान्त के समर्थन के लिये करते हैं। पुनः जब वे अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि विश्व एक परमेश्वर की सत्ता है, जो लोक का उत्पादक, पालक तथा संहारक है, जो पुरुष रूप में वर्तमान तथा समस्त आत्माओं का स्वामी है, जो उसकी परिचारिकायें है, तो उन्हें श्वेताश्वतरोपनिषद् के एक अवतरण से यथेष्ट समर्थन मिल जाता है, जो हमें यह बतलाता है कि "ईश्वर एक है, जो समस्त भूतों में अन्तर्निहित है, जो सर्वव्यापक है, तथा वह समस्त भूतों की अन्तरात्मा है"

(मूल० १६–क); तथा श्वेताश्वतर के ही अन्य अवतरणों में जो हमें यह बतलाते हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त लोक में और दूसरी सत्ता नहीं है; उससे अधिक तथा उससे अधिक सूक्ष्म और कुछ नहीं है, जो आकाश में वृक्ष की भाँति स्तब्ध रूप से स्थित है तथा संसार के कोने-कोने में व्याप्त है" (मूल० १६–ख)। अथवा जेनोफेनीज (Zenophenes) के स्वर में हमें यह बतलाता है कि ईश्वर विश्वतश्चक्षु, विश्वतः श्रुति, विश्वतोवदन, विश्वतोबाहु, विश्वतः पाद है; वह स्थलचर तथा नभचर जीवों की सृष्टि करता है, वह स्वर्ग और पृथ्वी का सृजन विधान करता है" (मूल० १६–ग)। सजीव तथा निर्जीव प्रकृति के ऊपर ईश्वर के प्रभुत्व का यह सिद्धान्त सृष्टि विधान के वस्तुवाद-मूलक सिद्धान्त को अपने साथ खींच लाता है, जो हमें यह बतलाता है कि इन समस्त भूतों का निर्माण उसी के द्वारा हुआ, उनकी स्थिति तथा गति और सत्ता उसी में है। अन्त में, उसी में इनका निलय हो जाता है" (मूल० २०–क)। इसके अतिरिक्त समस्त निर्जीव जगत् का उद्भव उसी से हुआ "सबसे पहले उससे आकाश का उद्भव हुआ जिससे आगे चलकर लोक में वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वनस्पति, वृक्ष और अन्न की उत्पत्ति हुई" (मूल० २०–ख)। पिछले अध्याय में सृष्टि विधान के विवेचन के प्रसंग में हम पहले ही देख चुके हैं कि सृष्टि-विधान का ऐसा वस्तुवाद-मूलक निरुपण, जैसा कि इन अवतरणों में अभिप्रेत है, निस्सन्देह उनके लिए बाधक है, जो सृष्टि को केवल माया सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि ये अवतरण मध्वाचार्य के वस्तुवाद मूलक सृष्टि-विधान के सिद्धान्त का जितना समर्थन करते हैं उतना किसी के सिद्धान्त का नहीं करते। शंकर "यतो वा" अथवा "तस्माद्वा" में अभिप्रेत पंचमी की व्याख्या अधिष्ठान पंचमी के रूप में तथा रामानुज केवल उपादान पंचमी के रूप में तथा मध्वाचार्य निमित्त पंचमी के रूप में, जैसा कि वह वस्तुतः करना चाहते हैं। यह यही कहने के बराबर है कि जहाँ शंकर के मत से आत्मा अथवा ब्रह्म समस्त सृष्टि के, जो केवल माया है, आधार और मूल-तत्व के रूप में विश्व के पृष्ठ-देश में वर्तमान है; रामानुज के वस्तुवाद-मूलक मत से आत्मा सृष्टि का उपादान कारण है, जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णाभरणों का तथा मिट्टी मृण्मय पात्रों की; तथा मध्वाचार्य के मत से आत्मा अथवा परमात्मा सृष्टि का विधाता अथवा इसके उद्भव का निमित्त कारण है। अन्त में, जहाँ तक अमरतत्व के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, छान्दोग्योपनिषद् का एक अवतरण, जो हमें यह बतलाता है कि साधक अपने उपास्य देव के लोक में पहुँच जाता है (मूल० २१), मध्वाचार्य के इस सिद्धान्त का समर्थन

करता है कि मुक्ति ब्रह्म में लीन हो जाने में नहीं है और न ब्रह्मरूप हो जाने में किन्तु उनका सान्निध्य प्राप्त कर उसके वैभव का भागी बनने में है, जिससे भक्त क्रममुक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल अपने उपास्य देवता के साथ प्रलय-काल में परम श्रेष्ठ कैवल्य पद को प्राप्त होता है।

१५. रामानुज का त्रितत्त्वात्मक ब्रह्म

जीवात्मा की परमात्मा से एकान्त भिन्नता, जगत की सत्ता, तथा किसी सीमा तक अमरत्व के सिद्धान्त तक रामानुज की मध्वाचार्य से सहमति है। किन्तु ब्रह्म का त्रितत्त्वात्मक स्वरूप, जो एक प्रकार का दार्शनिक त्रिपाद है तथा प्रकृति जीवात्मा और ब्रह्म जिसके तीन पाद हैं—स्वीकार करने में रामानुज का मध्वाचार्य से मतभेद है। पुनः जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में भी विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करने में उनका मध्वाचार्य से मतभेद है, यद्यपि वह गणनात्मक बहुवाद स्वीकार करने के लिये सहमत है। इस त्रितत्त्वात्मक अद्वैतवाद के लिये रामानुज को श्वेताश्वतरोपनिषद् के अवतरणों में यथेष्ट समर्थन मिल जाता है, जो हमें यह बतलाते हैं कि "लोक में तीन चरम और शाश्वत सत्तायें है, जिनका समवाय ही ब्रह्म है, अशक्त और अज्ञान आत्मा, शक्तिमान सर्वज्ञ परमात्मा और शाश्वत प्रकृति, जो आत्मा के उपभोग के लिये है तथा जिससे आत्मा को अपने कर्मों का प्रतिफल मिलता है" (मूल० २२–क), तथा यह भी बतलाते हैं कि "मनुष्य को केवल तीन तत्वों का ज्ञान होना चाहिये, जिनका समवाय ब्रह्म है : भोक्ता भोग्य और प्रेरक। इन तीनों का ज्ञान हो जाने के बाद मनुष्य को और कुछ जानने के लिये शेष नहीं रह जाता" (मूल० २२–ख)। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुज के ब्रह्म के तीन तत्व है; प्रकृति, आत्मा और ईश्वर जिनमें ईश्वर अपने सगुण रूप में ब्रह्म से अभिन्न है। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि ईश्वर त्रितत्त्वात्मक ब्रह्म की धार्मिक कल्पना है और ब्रह्म उसकी दार्शनिक कल्पना। इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईश्वर जितना समस्त आत्माओं की आत्मा है, उतना ही अखिल प्रकृति की आत्मा है। यह रामानुजाचार्य के दर्शन का महत्वपूर्ण मूल सिद्धान्त है और हम आगे चलकर देखेंगे कि वे अपने इस सिद्धान्त के लिए उपनिषदों से क्या आधार उपस्थित करते हैं।

१६. ईश्वर : प्रकृति की आत्मा

किस प्रकार ईश्वर प्रकृति की आत्मा है ? बृहदारण्यकोपनिषद् में एक अवतरण है जो हमें यह बतलाता है कि ईश्वर विश्व का अन्तर्यामी है :

वह विश्व के अन्तस् में विराजमान है और अन्तस् से ही विश्व का शासन करता है। ईश्वर के अन्तर्यामी होने का यह सिद्धान्त, जो उपनिषदों में उद्दालक, आरुणि और याज्ञवल्क्य के संवाद में प्रतिपादित किया गया है, रामानुज-दर्शन का प्रधान विषय है, जब वे ईश्वर को प्रकृति की आत्मा मानते थे। उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछते हैं। उन्होंने कहा कृपा कर मुझे यह बतलाइये कि वह कौनसा सूत्र है, जिसमें यह लोक, परलोक तथा समस्त भूत बंधे हुये हैं ?" उन्होंने फिर कहा कि "कृपा कर मुझे यह बतलाइये कि इस लोक, परलोक और समस्त भूतों का सूत्रधार कौन है ?" ये हमारे विवेच्य अवतरणों के दो प्रख्यात प्रश्न हैं ; सूत्र-सिद्धान्त और सूत्राधार सिद्धान्त। याज्ञवल्क्य ने पहले प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया कि वायु को वह सूत्र माना जा सकता है जिसमें यह लोक, परलोक और समस्त भूत बँधे हुये हैं। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने यह कह कर दिया कि इनका अन्तर्यामी सूत्रधार वही है जो "पृथ्वी पर तथा पृथ्वी के अन्तस् में निवास करता है, किन्तु जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका रूप पृथ्वी है, जो पृथ्वी का अन्तर्यामी सूत्रधार है। वह तुम्हारी आत्मा, अन्तर्यामी सूत्रधार है, शाश्वत है ; जो जल में निवास करता है, जो जल का अन्तर्यामी है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है, जो जल का अन्तर्यामी सूत्रधार है। वह तुम्हारी आत्मा है, अन्तर्यामी सूत्रधार है, शाश्वत है।" इसी प्रकार याज्ञवल्क्य उद्दालक आरुणि से कहते गये कि अन्तर्यामी सूत्रधार वह है, जो "अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, स्वर्ग, सूर्य, दिशायें, चन्द्रमा, नक्षत्र, आकाश, तम, तेज, सर्वभूत, प्राण, समस्त वस्तुओं में व्याप्त है तथा समस्त वस्तुओं का अन्तर्यामी है, जिसे ये वस्तुयें नहीं जानती, ये समस्त वस्तुयें जिसका शरीर है, जो इन सबका अन्तर्यामी सूत्रधार है। वह तुम्हारी आत्मा है, अन्तर्यामी सूत्रधार है, शाश्वत है। वह अदृष्ट द्रष्टा है, अश्रुत श्रोता है, अमत मन्ता है, अविदित, विज्ञाता है, उसके अतिरिक्त और किसी द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, ज्ञाता की सत्ता नहीं। वह तुम्हारी आत्मा है, अन्तर्यामी सूत्रधार है, शाश्वत है। उसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु असत् है (मूल० २३-क)। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ईश्वर को सर्वव्यापक होने तथा विश्व के अन्तर्यामी सूत्रधार होने की घोषणा करते हैं। उसी स्वर में तैत्तिरीयोपनिषद्-कार हमें यह बतलाता है कि "सृष्टि की उत्पत्ति के समय ईश्वर ने प्रत्येक सृष्ट पदार्थ में प्रवेश किया और उसमें प्रवेश करने के उपरान्त उसने स्वयं सत् और व्यत्, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत दोनों रूप धारण कर

लिये। यही कारण है कि यह सब वस्तु मात्र सत्य कहलाती है (मूल० २३–ख)। यह अवतरण भी वस्तु मात्र में यहाँ तक कि विरोधी पदार्थों में भी ईश्वर की व्यापकता की घोषणा करता है, और हमें यह बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु जिसकी सत्ता है, सत्य है। अस्तु, अखिल प्रकृति जो ईश्वर की सृष्टि तथा ईश्वर का शरीर भी है, ईश्वरमय तथा ईश्वर–प्रेरित है, जो इसका अन्तर्यामी सूत्रधार है, जो इसकी आत्मा है।

१७. ईश्वर: आत्माओं की आत्मा

किस प्रकार ईश्वर आत्माओं की आत्मा है ? वृहदारण्यकोपनिषद् में एक उपमा के द्वारा, जिसकी आवृत्ति उपनिषदों में प्रायः हुई है, हमें बतलाया गया है कि "जिस प्रकार एक चक्र की अरायें (तीलिकायें) उसके केन्द्र चक्र तथा नाभि में संग्रहीत रहती हैं, उसी प्रकार ये समस्त भूत, समस्त देवता, समस्तलोक, समस्त जीवात्मायें, परमात्मा में केन्द्रित हैं। परमात्मा उन सबका राजा है (मू० २४–क)।" वही उपनिषद् एक दूसरे अवतरण में एक अन्य रूपक द्वारा हमें बतलाती है कि "जिस प्रकार अग्नि से छोटे-छोटे स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता, समस्त भूत उत्पन्न हो सकते हैं। रहस्यात्मक रूप से हम इसे यों कह सकते हैं कि परमात्मा सत्यों का भी सत्य, परम सत्य है। प्राण तथा उसके साथ ही उल्लिखित अन्य वस्तुयें सत्य हैं, जिनका परम सत्य परमात्मा है" (मूल० २४–ख)। इन अवतरणों में हमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार ईश्वर को आत्माओं की आत्मा समझा जा सकता है और हमें यह भी निश्चित रूप से बतला दिया गया है कि परमात्मा सत्य का भी परम सत्य है, जिसमें जीवात्मा और जगत् भी सत्य है। इनका समर्थन वृहदारण्यकोपनिषद् के एक अन्य अवतरण में किया गया है जो हमें यह बतलाता है कि "ईश्वर सर्वस्व है, मूर्त, अमूर्त, मर्त्य और अमृत, अचर और चर, यह और वह, वह सत्यों का सत्य है, क्योंकि ये सब सत्य हैं और वह परम सत्य है" (मूल० २४–ग)। अस्तु, चर, अचर दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। यह यही कहने के समान है कि ईश्वर अखिल, सजीव और निर्जीव प्रकृति की आत्मा है। वह आत्माओं में उसी प्रकार परिव्याप्त है, जिस प्रकार वह विश्व में परिव्याप्त है; और अन्तर्यामी सूत्रधार की भाँति उनका नियन्त्रण करता है।

१८. रामानुज का अमरत्व सिद्धान्त

ऐसी दार्शनिक स्थिति का सांगतिक अमरत्व-सिद्धान्त क्या होगा ?

इस विषय में रामानुज का मुख्य आधार मुण्डकोपनिषद् का एक अवतरण है जो हमें यह बतलाता है कि "जब भक्त रुक्मवर्ण पुरुष का दर्शन करता है, जो सर्व-कर्त्ता, सर्व-नियन्ता, तथा विश्व का मूल-कारण है, तो समस्त पाप-पुण्यों का परित्याग करके, उनसे मुक्त होकर निरंजन ब्रह्म से तद्रूप हो जाता है" (मूल० २५—क)। पिछले अध्याय के अन्तिम भाग में हम किसी सीमा तक पहले ही देख चुके हैं कि रामानुज की अमरत्व-कल्पना का मध्व और शंकर दोनों की अमरत्व—कल्पना के साथ कितना साम्य है। जहाँ मध्व के लिये परम कैवल्यानन्द उपास्य देवता के लोक में पहुँच जाने तथा उसका सान्निध्य प्राप्त कर लेने में है, वहाँ रामानुज के लिये वह देवता से तद्रूप तथा तत्समान होते हुये भी भिन्न रहने में है, और शंकर के लिये वह ब्रह्म से एक रूप होकर उस ब्रह्मानन्द-मय जीवन की प्राप्ति में है, जिसमें व्यक्तिगत सत्ता का कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता। अमरत्व की ये भिन्न-भिन्न कल्पनायें इन तत्व ज्ञानियों की दार्शनिक स्थिति का तर्क-संगत परिणाम हैं। यहाँ पर हमारा उद्देश्य यह विवेचन करना नहीं है कि इनमें से कौनसा सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से अधिक युक्ति-युक्त है। किन्तु हमें यही देखना है कि किस प्रकार इन दार्शनिकों में से प्रत्येक ने अपने अमरत्व सिद्धान्त के लिये उपनिषदों से आधार प्राप्त किया है। एक और भी स्थल है जहाँ मध्व और रामानुज एक दूसरे से सहमत हैं तथा शंकर से मतभेद रखते हैं। मुण्डकोपनिषद् के एक अवतरण में हमें यह बतलाया गया हैं कि "वह मनुष्य, जिसने पाप से पूर्णरूप से मुक्ति पा ली है और अपनी बुद्धि को दृढ़तापूर्वक वेदान्त में सन्निहित कर लिया है, वह मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक को जाता है और प्रलय काल में ब्रह्म से कैवल्य प्राप्त कर लेता है" (मूल० २५—ख)। यह अवतरण आत्माओं के व्यक्तिगत अमरत्व की रक्षा करता है और उसे ब्रह्म में लीन हो जाने से बचाता है। ऐसी क्रम मुक्ति की कल्पना अद्वैत की वास्तविक दार्शनिक स्थिति के साथ एक रेखा में नहीं है, जो मनुष्य में जीवन्मुक्ति की सम्भावना देखता। अद्वैत के अनुसार मनुष्य को जीवन्मुक्ति प्राप्त करना तथा जीवन-काल में ही मुक्त हो जाना सम्भव है, फिर मरणोपरान्त मुक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं। जब मनुष्य को ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त हो जाती है, तो वह उससे एक रूप हो जाता है, और तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। यह अद्वैत की स्थिति है। यहीं सब कुछ समाप्त हो जाता है और प्रलय काल में मुक्ति की स्थिति में ले जाने के लिये किसी देवता के आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

१९. शांकर-दर्शन के मूल-तत्व

शंकर का दर्शन किस प्रकार अमरत्व की इस कल्पना तक ले जाता है ? ऐसे सिद्धान्त की तर्क-संगत पूर्व-कल्पनायें क्या हैं ? दूसरे शब्दों में शंकर के दर्शन के वे मूल तत्व क्या हैं जो अन्त में जीवात्मा के इस प्रकार परमात्मा में निलय का समर्थन करते हैं ? मध्व और रामानुज के मतों के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों का शंकर क्या उत्तर देते हैं ? इन प्रश्नों का परिपूर्ण विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। हम केवल उन रेखाओं का दिग्दर्शन मात्र करा सकते हैं जिनके आधार पर शंकर ने सभी विरोधी प्रश्नों का उत्तर दिया है और अपने अद्वैत सिद्धान्त का विधान किया है, जिसके चिराधार उन्हीं के अनुकूल उपनिषद् रही हैं। ब्रह्म की दृष्टि से प्रकृति, जीवात्मा, और ईश्वर समान रूप से माया है। केवल ब्रह्म की सत्ता है : और प्रकृति, जीवात्मा, तथा ईश्वर की सत्ता वहीं तक है जहाँ तक वे ब्रह्म हैं। किन्तु मानवी दृष्टि से जगत प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर सत्य है। शंकर ने सत्य के पारमार्थिक तथा व्यावहारिक स्वरूप में भेद किया है, जैसा कान्ट (Kant) ने अतीन्द्रिय (Noumenal) और इन्द्रियगोचर (Phenomenal) सत्य में किया है। इन्द्रियगोचर सत्य की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जीवात्मायें ईश्वर से भिन्न हैं; प्रकृति की विविध-रूपता सत्य है; ईश्वर सृष्टि-विधान करता है। किन्तु अतीन्द्रिय सत्य की दृष्टि से केवल ब्रह्म सत्य है, और जगत्, जीवात्मा तथा ईश्वर सब ब्रह्म में ही निलीन हो जाते हैं। शंकर का प्रश्न है कि जो सर्वत्र 'आत्मा' को ही देखता है उसके लिये क्या भेद शेष रह जाता है ? उसके लिये समस्त भेद नष्ट हो जाता है। "ईश्वरवादी आपस में विरोध कर सकते हैं, किन्तु अद्वैतवादी किसी से विरोध नहीं करता।" इसी दृष्टिकोण से द्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त-दर्शनों के सत्यों का समावेश अद्वैत वेदान्त के चरम समन्वय में हुआ है। हम देखेंगे कि किस प्रकार शंकर अपने इन सिद्धान्तों के लिये उपनिषदों से आधार ग्रहण करते हैं।

२०. ब्रह्म : एकान्त सत्य

शंकर दर्शन का मूल आधार यह है कि विश्व एक है : इसके बाह्याभ्यन्तर में कोई भेद नहीं है। कठोपनिषद् का कथन है कि जो जगत में विभेद देखता है वह मृत्यु से पुनः मृत्यु को गमन करता है। केवल सुसंस्कृत बुद्धि ही अभेद दृष्टि प्राप्त कर सकती है (मूल० २६—क)। ब्रह्म पूर्णरूप से एक है और उसके किसी भी अंग का ज्ञान पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान है। जब श्वेतकेतु

अभिमान और आत्म-सन्तोष के साथ अपने को ज्ञानी समझकर गुरु के यहाँ से आया तो उसके पिता ने उससे पूछा कि क्या उसके गुरु ने उसे उस परम-सत्ता (ब्रह्म) का ज्ञान सिखा दिया, "जिसे सुन कर अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, जिसके मनन करने से अमत भी मत हो जाता है, जिसके ज्ञान से अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है।" श्वेतकेतु ने स्पष्टता से अपने अज्ञान को स्वीकार कर लिया और अपने पिता से वह परम ज्ञानोपदेश देने की प्रार्थना की। तब उसके पिता आरुणि ने उससे कहा कि "जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले के ज्ञान से प्रत्येक मिट्टी की बनी हुई वस्तु का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह सब इसके चरम-तत्व मिट्टी का शब्द, विकार और नाम मात्र है। जिस प्रकार लोहे के एक खण्ड के ज्ञान से प्रत्येक लोहे की बनी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह सब शब्द, विकार और नाम मात्र है; इसका चरम तत्व लोहा है; जिस प्रकार नाखून काटने की कैंची के ज्ञान से स्पात की बनी हुई प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह सब शब्द, विकार और नाम मात्र है, इसका चरम तत्व स्पात है" (मूल० २६—ख), उसी प्रकार ब्रह्म के किसी स्वरूप के ज्ञान से पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि इसका चरम-तत्व ब्रह्म है, जो अनन्य-सदृश, आत्म-प्रतिष्ठित, और स्वयंप्रज्ञ है। इस अवतरण का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु जिसकी सत्ता है ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् का एक अवतरण इसका समर्थन करता है, जब अपनी पत्नी मैत्रेयी से संवाद करते समय याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "ये समस्त ब्राह्मण, समस्त क्षत्रिय, समस्त लोक, समस्त देवता, समस्त पदार्थ, वस्तुतः प्रत्येक वस्तु जिसकी सत्ता है 'आत्मा' है। जिस प्रकार जब दुन्दुभी बज रही हो तो मनुष्य वाह्य-ध्वनि को ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभी अथवा वाद्यकार के ग्रहण से वह ध्वनि भी परिग्रहीत हो जाती है, जिस प्रकार जब शंख बजता है तो हम वाह्य ध्वनि को ग्रहण नहीं कर सकते किन्तु शंख अथवा वाद्यकार के ग्रहण से वह ध्वनि भी परिग्रहीत हो जाती है, जिस प्रकार जब वीणा बज रही हो तो हम वाद्य-ध्वनि को ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु वीणा अथवा वीणाकार के ग्रहण से वह ध्वनि भी परिग्रहीत हो जाती है" (मूल० २६—ग), उसी प्रकार वाह्य जगत् के ज्ञान के विषय में, जब हम वाह्य जगत् के वास्तविक स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकते तो मन अथवा आत्मा के ग्रहण से वाह्य-जगत् का ग्रहण हो जाता है। यह पिछला भाव उक्त अवतरण में अभिप्रेत है, स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं। किन्तु यहाँ इसका विरोध नहीं किया जा सकता कि यहाँ आत्मा की तुलना वीणाकार अथवा दुन्दुभी अथवा शंख बजाने वाले से की गई, और मन की, जो आत्मा के निरीक्षण का माध्यम है, वीणा, दुन्दुभी

और शंख से तुलना की गई है, और वाह्य-जगत् की इन वाद्यों से निःसृत होने वाली ध्वनि से। उसी उपनिषद् के एक अन्य अवतरण में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि आत्मा एक मात्र ज्ञाता है और वह अपने अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकता; जब तक द्वैत का आभास दिखाई देता रहता है, तभी तक मनुष्य दूसरे को सूँघ सकता है, देखता है, सुनता है, दूसरे के विषय में बातचीत करता है, दूसरे की कल्पना करता है, दूसरे का ध्यान करता है, किन्तु जब एक मात्र आत्मा की ही सत्ता है, तो कौन किसको सूँघे, कौन किसको देखे, कौन किससे बोले, कौन किसकी कल्पना करे, कौन किसका ध्यान करे? जिसके द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है? वह चिरन्तन ज्ञाता है, वह किसके द्वारा जाना जा सकता है? (मूल० २९–घ)। ऐसा सिद्धान्त याज्ञवल्क्य को एकान्त अहमेववाद (Solipsism) की स्थिति की ओर ले जाता है, जिससे वे अपने को राजा जनक के प्रति संवाद में, उसी उपनिषद् के एक अगले अध्याय में, अपने को बचाना चाहते हैं, जहाँ वे हमें यह बतलाते हैं कि "जब यह कहा जाता है कि अमुक मनुष्य नहीं देखता, तो वास्तविक सत्य यह है कि वह देखता है फिर भी नहीं देखता; क्योंकि देखने वाले की दृष्टि का नाश कभी नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है; किन्तु उसके अतिरिक्त, उसके बाहर अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं जिसे वह देखे। जब यह कहा जाता है कि अमुक पुरुष सूँघता नहीं, चखता नहीं, बोलता नहीं, सुनता नहीं, कल्पना नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, जानता नहीं, वह ये सब कार्य करता है, फिर भी उन्हें नहीं करता, क्योंकि उसके घ्राण, स्वाद, वाक्, श्रुति, वाणी, श्रवण, कल्पना, स्पर्श, ज्ञान कभी नष्ट नहीं होते; उनके बाहर तथा उससे भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं, जिसे वह सूँघे, चखे, बोले, सुने, कल्पना करे, स्पर्श करे अथवा ध्यान करे" (मूल० २९–ङ)। इस प्रकार याज्ञवल्क्य अपने को उस अहमेववाद की स्थिति से बचा लेते हैं, जहाँ कि उनको उनके एकान्त अद्वैत ने पहुँचा दिया था। इन अवतरणों का निष्कर्ष यह है कि अद्वैतवादी के लिये आत्मा से वाह्य और आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है, आत्मा के किसी स्वरूप का ज्ञान उसके पूर्ण रूप का ज्ञान है, समस्त कारण सृष्टि का परम मूल आत्मा ही है, आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु माया है; आत्मा ही एक मात्र चिरन्तन ज्ञाता है; आत्मा के दृष्टि और ज्ञान के ऐन्द्रिक विषयों में फँस जाने पर ही यह कहा जाता है कि वह देखती अथवा जानती है; फिर भी वस्तुतः सत्य यही है कि वह नहीं देखती और नहीं जानती। आत्मा ही एकान्तिक सत्तावान तत्व है और उसके अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं।

२१. ब्रह्म का निषेधात्मक तथा विधेयात्मक निरुपण

यद्यपि परतत्वमूलक दर्शन के लिये ब्रह्म की ऐसी चरम कैवल्य कल्पना की आवश्यकता हो सकती है, फिर भी धर्म के आधार के लिये तथा ऐन्द्रिक जगत् के अस्तित्व की व्याख्या के लिये एक ईश्वर के आविष्कार की आवश्यकता होती है, जो माण्डूक्योपनिषद् की रीति से सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी सूत्रधार, सबकी उत्पत्ति का कारण, तथा सबका चरम अधिष्ठान हो। अद्वैतवाद ऐसे ईश्वर की कल्पना का निषेध नहीं करता। केवल उक्त उद्देश्यों के लिये यह ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करता है; किन्तु दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म की कल्पना को ईश्वर की कल्पना से श्रेष्ठ मानता है। अद्वैत वादी के लिये ईश्वर ब्रह्म का सगुण स्वरूप है, और ब्रह्म ईश्वर का निर्गुण रूप है। इसी भाव को लेकर माण्डूक्योपनिषद् ईश्वर और ब्रह्म के स्वरूप में भेद की स्थापना करती है और दार्शनिक दृष्टि से दूसरी कल्पना को श्रेष्ठ मानती है। "ब्रह्म न अन्तःप्रज्ञ है और न वहिःप्रज्ञ और न उभय-प्रज्ञ। यह प्रज्ञानघन नहीं, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य है। वह आत्म-प्रत्यय-सार है। उसमें समस्त प्रपंच का उपशम हो जाता है। वह शान्त, शिव, और अद्वैत है" (मूल० २७—क)। यह सत्य है कि इस अवतरण में ब्रह्म का विधेयात्मक निरुपण बहुत कम है। (किन्तु) उसका निरुपण सामान्य रूप से निषेध की संकुचित परिधि के भीतर है। अद्वैत दर्शन के लिये किसी भी वस्तु का नाम लेना और साथ ही यह कहना कि यह अपने से वाह्य सत्ता नहीं रखती असम्भव है। अस्तु, कठोर अद्वैत दर्शन ब्रह्म का कितना ही निषेधात्मक निरुपण करे, वह निषेध ही विधान हो जाता है; अतः वह अपने को ब्रह्म के कुछ न कुछ विधेयात्मक निरुपण से एकान्त दूर नहीं रख सकता। उपनिषदीय ब्रह्म के विषय में यही हुआ। वृहदारण्यकोपनिषद् ने ब्रह्म को "अस्थूल, अणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अच्छाय, अतम, असंग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अप्राण, अमुख, अनन्तर, आवाह्य, अभुक्त, तथा अभोग्य (भोक्तव्य)" वतलाया है (मूल० २७—ख)। वृहदारण्यकोपनिषद् का यह ब्रह्म निरुपण एकान्त निषेधात्मक है। कठोपनिषद् मुण्डकोपनिषद् की भाँति निषेधात्मक और विधेयात्मक निरुपणों का मिश्रण उपस्थित करती है। कठोपनिषद् हमें वतलाती है कि ब्रह्म "अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त, महतोमहीयान्, ध्रुव, है; उसको हृदय में प्रतिष्ठित करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से वच सकता है" (मूल० २७—ग)। मुण्डकोपनिषद् का

कथन है कि ब्रह्म "अलक्ष्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अपाणि-पाद, नित्य, विभु, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अव्यय, तथा सूर्वभूतों की उत्पत्ति का मूल कारण है" (मूल०२७–घ)। ब्रह्म का प्रसिद्ध निषेधात्मक निरुपण 'नेति नेति' है, जिसकी व्याख्या, जैसा कि हम देखेंगे निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों रूपों में की गई है। वृहदारण्यकोपनिषद् के अधिकांश अवतरणों में, जिनमें इस प्रसिद्ध वाक्य का उल्लेख है, यही अर्थ अभिप्रेत है कि ब्रह्म अलक्षण, और अनिर्वाच्य है; जो कुछ भी विधान उसके विषय में किया जाय वह उससे बाह्य ही रहता है, अतः उसका निरुपण नहीं कर पाता। "आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अविनाशी है, क्योंकि उसका विनाश नहीं हो सकता; वह अनासक्त है, क्योंकि किसी वस्तु में उसकी आसक्ति नहीं। वह अबद्ध है क्योंकि उसे कभी व्यथा नहीं होती," याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि "उसे अमरत्व का रहस्य (तत्व) जानो, और उसी क्षण उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया (मूल० २७–ङ)। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी एक अवतरण है जहाँ 'नेति नेति' को एक विधेयात्मक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की गई है: "यही कारण है कि लोग ब्रह्म को नेति नेति कहते हैं: उसके 'परे' किसी अन्य वस्तु की सत्ता 'नहीं' है, क्योंकि ब्रह्म में सर्वस्व समाविष्ट है" (मूल० २७–च)। ब्रह्म का समावेशक स्वरूप हमें वृहदारण्यकोपनिषद् के एक अगले अवतरण में ब्रह्म की अतीन्द्रिय कल्पना की ओर ले जाता है, जहाँ ब्रह्म को "तेजोमय, और अ-तेजोमय, काममय, और अ-काममय, क्रोधमय, और अ-क्रोधमय, धर्ममय और अ-धर्ममय" बतलाया गया है "क्योंकि वह सर्वमय है, दूर है, और अदूर है, उद्देश्य है और विधेय है, द्रष्टा है और दृश्य है" (मूल० २७-छ)। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार ब्रह्म का उपनिषदीय निरुपण 'नेति नेति' के निषेधात्मक धरातल से समाविश्यता की विधेयात्मक स्थिति में होकर 'इदम् वा अयम्' अर्थात् 'सर्वातीत्य' की अतीन्द्रिय स्थिति तक पहुँच जाता है।

२२. शंकर के कैवल्य, सृष्टि-विधान और अमरत्व सम्बन्धी सिद्धान्त

जीवात्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध के प्रश्न का शंकर ने क्या उत्तर दिया है? यह सत्य है कि सर्वव्यापक और अनन्त ब्रह्म ही एकान्त सत्य है; किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान-गम्य जीवात्मा के सत्य के विषय में हम क्या कह सकते हैं? शंकर का उत्तर यह है कि जीवात्मा ऐन्द्रिक ज्ञान की दृष्टि से सत्य है, किन्तु

परमार्थ-दृष्टि से ध्येयात्मक अथवा अतीन्द्रिय है। व्यावहारिक दृष्टि से हम कहते हैं कि इसकी पृथक् सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह ब्रह्मरूप है। उपनिषदों में ऐसे अनेक अवतरण हैं, जो शंकर के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् हमें बतलाती है कि "आत्मा, जो अन्तर्हृदय में निवास करता है वस्तुतः ब्रह्म है; जैसे ही इस नाशवान् शरीर से छूटता है तो सदा के लिये ब्रह्म में लीन हो जाता है" (मूल० २८—क)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि "आत्मा हंस की भाँति इस ब्रह्मचक्र में भ्रमण करता है, क्योंकि वह अपने को और ब्रह्मचक्र के संचालक को पृथक्-पृथक् सत्तायें समझता है। किन्तु वह ब्रह्म से तद्रूप होने पर ही अमरत्व को प्राप्त कर लेता है" (मूल० २८—ख)। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि "जो देवता को अपने से पृथक् मानकर उसकी उपासना करता है वह केवल देवताओं का पशु है" (मूल० २८—ग)। तैत्तिरीयोपनिषद् में मनुष्य के अन्तः स्थित तथा सूर्य के अन्तः स्थित पुरुष के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है (मूल० २८—घ)। मुण्डकोपनिषद् मनुष्य के अन्तस् में सन्निहित पुरुष के परम पुरुष से एकत्व का उपदेश देती और अन्त में दोनों को विश्व से एकाकार कर देती है (मूल० २८—ङ)। अन्त में, श्वेतकेतु को ज्ञानोपदेश देते समय आरुणि आत्मा ब्रह्म के एकत्व का विधान करते हैं, जिसका उल्लेख कई बार हो चुका है (मूल० २८—च)। उपनिषदों के उन व्याख्याकारों के लिये, जो अद्वैतवादी नहीं है, ये अवतरण निस्सन्देह एक जटिल पहेली हैं। पुनः सृष्टि-विधान के विषय में शंकर का क्या मत है? उनके अनुकूल एक ओर जगत् और जीवात्मा तथा दूसरी ओर ब्रह्म का सृष्टि-विधान के विषय-क्षेत्र में क्या सम्बन्ध है? व्यावहारिक दृष्टि से सृष्टि-विधान की व्याख्या करने के लिये शंकर ने मुण्डकोपनिषद् का आधार लिया है, जिसका कथन है कि "जिस प्रकार एक मकड़ी अपने अन्तस् से सूत्र निकालकर उसे अपने में ही खींच लेती है, जिस प्रकार वनस्पति और वृक्ष पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार (जीवित) मनुष्य के शरीर तथा शिर पर बाल उगते हैं, उसी प्रकार इस अक्षर ब्रह्म से समस्त विश्व का उद्भव होता है" (मूल० २९—क); अथवा पुनः "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से अगणित स्फुलिंग निकलते हैं, फिर उसी में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार इस अक्षर ब्रह्म से अनेकविध प्राणियों का उद्भव होता है और वे सब उसी में लीन हो जाते हैं" (मूल० २९—ख)। अमरत्व के सिद्धान्त के विषय में शंकर ने मुक्तात्माओं के ब्रह्म में लय द्वारा व्यक्तिगत सत्ताहीन अमरत्व का समर्थन किया है। "जिस प्रकार समुद्र की ओर बहने वाली नदियाँ अपने नाम और रूप को समुद्रसात् करके समुद्र में ही लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार

ब्रह्मज्ञानी अपने नाम और रूप का परित्याग करके परात्पर दिव्य पुरुष से कैवल्य प्राप्त करता है" (मूल० ३०—क)। "उसका प्राणावसान नहीं होता, स्वयं ब्रह्म होने के कारण वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, जिस प्रकार साँप अपने केंचुल को छोड़ देता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी अपने नश्वर शरीर को छोड़ देता है" (मूल० ३०—ख)। इस अन्तिम अवतरण में 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था भी अभिप्रेत है, जहाँ यह इसका समर्थन करता है कि अपने जीवन-काल में ही इस नश्वर देह के बन्धनों से मुक्त होकर वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

२३. मायावाद की उत्पत्ति के तीन सिद्धान्त

अब हम मायावाद की उत्पत्ति के प्रश्न की विवेचना करेंगे, जिसके विषय में वेदान्त-दर्शन के भाष्य-कारों में बहुत कुछ मतभेद रहा है। शंकर तथा उनके परवर्ती दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित मायावाद की उत्पत्ति के विषय में तीन भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं : पहले के अनुसार मायावाद शंकर की उर्वर प्रतिभा की अद्भुत कल्पना-सृष्टि है, दूसरे के अनुसार शंकर के मायावाद के चिह्न बौद्धों के शून्यवाद में पाये जाते हैं। तीसरे के अनुसार शंकर के माया-वाद का परिपूर्ण स्वरूप उपनिषदों में पाया जाता है, जिनके शंकर भाष्यकार मात्र हैं। यह कहना कि मायावाद शंकर की उर्वर प्रतिभा की अद्भुत कल्पना-सृष्टि मात्र है, उसके उपनिषदीय आधार का निषेध करना है। यह कहना कि यह बौद्धों के शून्यवाद का रूपान्तर मात्र है, शंकर दर्शन की एक निषेधात्मक असत्तात्मक व्याख्या का सूत्रपात करना है। पुनः यह कहना कि मायावाद अपने परिपूर्ण विकसित रूप से उपनिषदों में पाया जाता है, मानसिक विचार-विकास की प्रक्रिया का, विशेषतः शंकर के जैसे सुसंस्कृत मस्तिष्क में, निषेध करना है। ये समस्त मत खंडित किये जा सकते हैं, यदि हम उपनिषदों के मूल आधारों में मायावाद के लिये यथेष्ट समर्थन खोज सकें और शंकर दर्शन में उसका विकास और परिपूर्ण रूप दिखा सकें। उपनिषद् में मायावाद का आधार खोजने की एक मुख्य रीति तो माया तथा उसके समानार्थक शब्दों द्वारा उनके प्रसंग के आधार पर उपनिषदों में मायावाद के होने न होने की विवेचना है। किन्तु ऐसा प्रयास नितान्त हास्यास्पद है कि क्योंकि यह भाव की अपेक्षा शब्द में मायावाद के सिद्धान्त को खोजना चाहता है। यह ज्ञान करने के लिये कि उपनिषदों में मायावाद का सिद्धान्त पाया जाता है अथवा नहीं, हमें उपनिषदीय विचार तत्व की समीक्षा करनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि यहाँ हमें उपनिषदों में मायावाद का यथेष्ट समर्थन मिलता है अथवा

नहीं। हम इस अध्याय के अन्त की ओर देखेंगे कि उपनिषदीय वाङ्मय में मायावाद के स्पष्ट चिह्न पाये जाते हैं; शंकर की अभिनव कल्पना अथवा बौद्धों के शून्यवाद के प्रभाव की तो बात दूर है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रेरणा के लिये उन्होंने उपनिषदों का आधार लिया और जैसा कि एक सच्चे विचार-वेत्ता तथा दार्शनिक के अनुरूप है, उपनिषदों के मूल तत्व के आधार पर उसका विकास तथा विस्तार किया। अस्तु, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शंकर ने उपनिपदों से ग्रहीत भावों का विकास करके उन्हें अद्वैत दर्शन के रूप में सुगुम्फित कर दिया।

२४. उपनिषदों में मायावाद

जैसा कि हम कह चुके हैं, हम शब्दों के स्थान पर उपनिपदों के भावों की समीक्षा द्वारा यह ज्ञात करने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें मायावाद के चिह्न पाये जाते हैं अथवा नहीं। ईशोपनिषद् का कथन है कि सत्य का मुख एक हिरण्मय पात्र से आच्छादित है; और इस हिरण्मय पात्र को उठाकर सत्य का दर्शन करने के लिये ईश्वरीय अनुकम्पा की अपेक्षा है (मूल० ३१–क)। 'यहाँ पर सत्य का आवरण सुवर्णमय तथा इतना वैभव-युक्त उज्ज्वल और देदीप्यमान वतलाया गया है कि यह देखने वाले के मन को अपनी ऊपरी आभा से ही मुग्ध कर उसे उसके अन्तः स्वरूप के समझने की चेष्टा करने से रोक देता है। उपनिपद् का आदेश है कि हमें सुवर्ण की वाह्य आभा से चकाचौंध न होना चाहिये। प्रत्येक चमकने वाली वस्तु सुवर्ण नहीं। हमें तनिक गहरी दृष्टि से उसके अन्तर्निहित सत्य के निरीक्षण का प्रयास करना चाहिये।

(१) इस प्रकार प्रथमतः हम एक आवरण की कल्पना देखते हैं, जो साधारण दृष्टि के लिये सत्य का स्वरूप देखने में वाधक है।

(२) पुनः हम कठोपनिषद् में एक दूसरा रूपक पाते हैं कि किस प्रकार अपने को ज्ञानी समझने वाले अज्ञानी पुरुष अन्धों के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों के समान सत्य की खोज में इधर उधर भटकते हैं, जिसे, यदि वे अज्ञान को छोड़कर ज्ञान का आश्रय लेते तो सरलतापूर्वक समझ सकते (मूल० ३१–ख)। यहाँ हम अन्धता की कल्पना पाते हैं। हमें वतलाया गया है हम सत्य को देखने के लिये जान वूझ कर आँखें मींच लेते हैं।

(३) तीसरे मुण्डकोपनिषद् में अज्ञान की तुलना एक जटिल ग्रन्थि से की गई है, जिसे मनुष्य को अपनी अन्तःस्थित आत्मा की प्राप्ति के पूर्व खोलना पड़ता है (मूल० ३१–ग)।

(४) चौथे छान्दोग्योपनिषद् हमें यह बतलाती है कि किस प्रकार ज्ञान पौरुष है और अज्ञान नपुंसकता (मूल० ३१–घ)। हम, जो बिना आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के इस संसार में घूम रहे हैं, पद-पद पर अपनी अन्तः स्थित नपुंसकता की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। जब तक हम आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते तब तक हम शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते।

(५) पाँचवे बृहदारण्यकोपनिषद् की प्रख्यात प्रार्थना, जिसमें एक भक्त ईश्वर से अपने को असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलने की विनय कर रहा है, हम मुमुक्षु की दुष्टा वासना के जाल से मुक्ति पाने की भावुक साधना की प्रतिध्वनि पाते हैं। यहाँ असत्य की असत्, तमस् और मृत्यु से तुलना की गई है (मूल० ३१–ङ)। कठोपनिषद् यह घोषणा करती है कि साधक संसार के असत्य और अध्रुव उपादानों में सत्य और ध्रुव को नहीं खोज पाते (की कल्पना नहीं करते) (मूल० ३१–च)। यहाँ माया को अध्रुव अथवा असत्य माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् हमें एक अन्य स्थान पर बतलाती है कि एक असत्य का आचरण सत्य को हमारी दृष्टि से छिपाये रहता है, जिस प्रकार धरातल भूमिहित स्वर्ण कोष को हमसे छिपाये रहता है। हम अनजान रूप से प्रतिदिन सत्य के पथ पर बढ़ते हुये भी असत्य के माया-जाल में भ्रमित रहते हैं क्योंकि हम आत्मा को नहीं पहचानते। यह आत्मा वस्तुतः हमारे हृदय के अन्तर्गत है। जो प्रतिदिन आत्मा के निकट पहुँचता जाता है, वही इस ऐन्द्रिक जगत् से मुक्त हो सकता है (मूल० ३१–छ)। माया की तुलना यहाँ अमृत से की गई है। पुनः प्रश्नोपनिषद् हमें बतलाती है कि हम तब तक ब्रह्म-लोक में नही पहुँच सकते जब तक अपने अन्तर्निहित जिह्म, अनृत, और माया का परित्याग नहीं करते हैं (मूल० ३१–ज)। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस अवतरण में स्पष्ट रूप से माया शब्द का प्रयोग किया गया है और प्रायः उसके वास्तविक अर्थ 'आभास' में, इसी अर्थ में माया शब्द का प्रयोग श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि केवल ब्रह्म के चिन्तन, उससे एकत्व-साधन, तथा उसकी सत्ता में प्रवेश द्वारा ही महान जगन्माया के बन्धन से मुक्ति मिलती है (मूल० ३१–झ)। यहाँ भी माया शब्द का अर्थ 'आभास' के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि एक अवतरण

में माया शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के इतने प्राचीन-काल में हो चुका है, जिसका उद्धरण बृहदारण्यकोपनिषद् ने दिया है, जहाँ इन्द्र के अपनी 'माया' द्वारा अनेक रूप-धारण का वर्णन किया गया है (मूल० ३१-ञ)। वहाँ स्पष्ट रूप से माया शब्द का 'अभिप्राय' 'आभास' के स्थान पर 'शक्ति' से है, जिस अर्थ में श्वेताश्वतरोपनिषद् ने इसका प्रयोग आगे चलकर किया है, जहाँ उसने ईश्वर का वर्णन 'मायावी' जादूगर, एक शक्ति सम्पन्न सत्ता, जो अपनी शक्तिओं से सृष्टियों की रचना करती है, के रूप में किया है; और दूसरे, जहाँ जीवात्मा के पुनः 'माया' से आवद्ध किये जाने का उल्लेख है (मूल० ३१-त)। यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ, जैसा कि परवर्ती वेदान्त दर्शन में किया गया है, माया, जो ईश्वर को परिवेष्टित किये हुये है, तथा अविद्या, जो जीव को घेरे हुये है, दोनों की विभाजक रेखा नहीं खींची गई है : क्योंकि दोनों के लिये सामान्य रूप से माया शब्द का प्रयोग किया गया है (जिसके अन्तर्गत माया और अविद्या दोनों आजाती हैं) और हमारे विवेच्य अवतरण में इसका अभिप्राय शक्ति से है; यह लगभग वही भाव है जो क्यूनो फ़िशर (Kiino Fischer) ने स्पिनोज़ा (Spinoza) के 'गुणों' (Attri-biutes) को दिया है। एक वार फिर श्वेताश्वतरोपनिषद् में माया को प्रकृति से एकाकार कर दिया गया है (मूल० ३१-थ)। यह प्रयोग वहुत परवर्ती युग में प्रचलित हुआ था, जैसा कि कुसुमांजलिकार के अपने सगुणवाद के उद्देश्यों के लिये भी दोनों की अभिन्नता स्वीकार करने में आपत्ति का अनुभव न करने से स्पष्ट है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसे अवतरण हैं जिनमें ईश्वर का वर्णन अपने जाल को फैलाये हुये तथा उसे विस्तृत कर उसमें संसार के समस्त भूतों को फँसा कर उन पर शासन करते हुये किया गया है (मूल० ३१-द)। यहाँ हम एक जाल की कल्पना पाते हैं जिसमें सभी वस्तुयें फँसी हुई हैं। पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् का एक प्रसिद्ध अवतरण, जिस पर हम पहले विचार कर चुके हैं, जो 'द्वित्वमिव' का उल्लेख करता है, जिसका अभि-प्राय यह है कि वास्तव में वहाँ कोई द्वित्व नहीं है, माया का आभास, समानता, मानों तथा दृश्य से एकत्व स्थापित करता है (मूल० ३१-ध)। अन्त में, श्वेतकेतु और आरुणि के प्रसिद्ध संवाद में, जिस पर भी हम पहले विचार करने का अवसर प्राप्त कर चुके हैं, हमें वतलाया गया है कि आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु केवल एक शब्द, विकार और नाम है (मूल० ३१-न)। इस प्रकार उपनिषदों के विविध अवतरणों की समीक्षा द्वारा हम देखते हैं कि चाहे उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग अधिक वार न हुआ हो, किन्तु माया शब्द का अन्तर्भाव उनमें वर्तमान है। यद्यपि हम उनमें परिपूर्ण रूप से परि-

स्फुट मायावाद को उसके दार्शनिक अङ्गों सहित नहीं पाते, जैसा कि गौड़पाद तथा अन्य परवर्ती दार्शनिकों में है, फिर भी हम उनमें वे सभी तत्व पा जाते हैं, जिन्होंने शंकर को उसके विकास के लिये सहज ही प्रेरित किया होगा। जब हम यह विचार करते हैं कि हम उपनिषदों में एक आवरण, अन्धता, ग्रन्थि, अज्ञान, असत्, तमस्, मृत्यु, अनृत, अध्रुव, असत्य, जिह्म, माया, शक्ति, प्रकृति, जाल, साम्य, मानों, दृश्य और अन्त में, शब्द, विकार, नाम आदि की कल्पनायें पाते हैं, तो किसी को यह कहने का साहस न करना चाहिये कि उपनिषदों में मायावाद के पूर्वांक नहीं पाये जाते।

२५. मायावाद का ऐतिहासिक विकास

उपनिषदों में मायावाद का मूल आधार खोज लेने के बाद उपनिषदों के उत्तर-काल में उसके ऐतिहासिक विकास की, और विशेष रूप से गौड़पाद तथा शंकर द्वारा इसके रूपान्तर की एक संक्षिप्त रूपरेखा खींच देना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि इसका इस प्रश्न से विशेष सम्बन्ध है कि शंकर ने कहाँ तक उपनिषदों की शिक्षाओं तथा अपने आध्यात्मिक पूर्वज गौड़पाद के विचारों के आधार पर अपने पूर्णरूप से प्रस्फुटित सिद्धान्त का विस्तार किया। उपनिषदों के परवर्ती युग में भगवद्गीता के समय तक भी हम इस सिद्धान्त का इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं पाते, जितना कि आगे चलकर गौड़पाद और शंकर में मिलता है। भगवद्गीता में माया शब्द का प्रयोग लगभग ऐन्द्रजालिक शक्ति के ही अर्थ में किया गया है और महान् ऐन्द्रजालिक ईश्वर का वर्णन जीवात्माओं के समूह को अपनी ऐन्द्रजालिक दिव्य शक्ति के द्वारा भ्रमित करते हुये किया गया है (अध्याय १८; श्लोक–६१) और फिर भी लोक के जीवों के आसुरी जीवन में शरण लेने की घोषणा की गई है, जब कि ईश्वर स्वयं अपनी शक्ति द्वारा उनके ज्ञान का अपहरण कर लेता है (अध्याय ७; श्लोक–१५)। इसके अतिरिक्त यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ भी हमें मायावाद को शब्दों में नहीं, भाव में खोजना है। फिर भगवद्गीता उपनिषदों की अपेक्षा एक छोटा सा ग्रन्थ है, और न उसकी विचार-धारा की सेश्वर-रहस्यवादपरक प्रवृत्ति माया के दार्शनिक विकास के लिये अधिक स्थान छोड़ती है। अस्तु, जब हम गौड़पाद तक आते हैं, तो उस सिद्धान्त को अपने विकास पथ पर बहुत आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। गौड़पाद ने बौद्ध शब्दावली का प्रयोग किया है किन्तु उन्होंने (उसमें) हमारे सामने एक मौलिक सिद्धान्त रक्खा है। भगवद्गीता की भाँति मानव-हृदय की आध्यात्मिक प्रवृत्ति को एक उन्नायक

स्फूर्ति देने के स्थान पर गौड़पाद ने दर्शन पर एक व्यवस्थित ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया। अतः वे अपने मत का उल्लेख सचेतनता के साथ तथा पूर्णरूप से करते हैं और हम उन्हें अपनी कारिकाओं में केवल इस सिद्धान्त का नहीं कि संसार माया है वरन् इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये पाते हैं कि इस संसार की कभी सृष्टि ही नहीं हुई। उनका सिद्धान्त भारतीय दर्शन में 'अजातवाद, के नाम से प्रसिद्ध है। "यदि संसार की सत्ता हो, तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या वह हमारी दृष्टि से छिप सकता है। किन्तु इस संसार की सत्ता ही नहीं है, तो द्वैत केवल माया है; अद्वैत ही एकान्त सत्य है (अध्याय १; श्लोक-१७)। गौडपाद का मत इस विषय में निश्चित नहीं है कि वे संसार को स्वप्न अथवा माया मानें, अथवा न मानें। एक स्थान पर वे उनकी प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने संसार को माया कहा है; वे ऐसे लोगों को "वेदान्त-दर्शन में पारंगत" कहते हैं (अध्याय २; श्लोक–३१)। दूसरी ओर सृष्टि-विधान के भिन्न-भिन्न मतों की गणना करते समय, वह संसार के स्वप्न अथवा माया होने के सिद्धान्त का अपने नहीं, वरन् औरों के प्रतिपादित सिद्धांत के रूप में उल्लेख करते हैं।

"कुछ लोग संसार को ईश्वर की महत्ता मानते हैं, कुछ उसकी सृष्टि, कुछ स्वप्न, कुछ माया, तथा कुछ ईश्वर की इच्छा मात्र मानते हैं। और भी, कुछ उसके उपभोग का साधन, कुछ ईश्वर का खिलौना, कुछ ईश्वर की प्रकृति मानते हैं" (अध्याय १; श्लोक–७–९)। इन मतों के विपरीत वे अपनी स्थिति को उनके साथ बतलाते हैं जो इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं कि इस संसार की कभी सृष्टि ही नहीं हुई (अध्याय ४; श्लोक–४–५)। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि आध्यात्मिक पूर्णता और नैतिक आचार के लिये, गौड़पाद को संसार को सत्य के रूप में ग्रहण करना होगा। "वह सर्वोच्च समाधि की अवस्था है, जिसमें समस्त संवाद का अन्त हो जाता है, समस्त चिन्ता का अवसान हो जाता है तथा जो परम शान्ति और शाश्वत प्रकाश से परिपूर्ण है" (अध्याय ३; श्लोक–३७) और पुनः 'ऋषियों ने सृष्टि का विधान उन लोगों के लाभ के लिये किया है, जो संसार को सत्य से अतिरिक्त समझने में असमर्थ हैं (उपालम्भात्) और जिनको सदाचार के पथ पर लाना है (समाचारात्) (अध्याय ४; श्लोक–४२)। अस्तु, हम देखते हैं कि किस प्रकार गौड़पाद को भी संसार को कुछ अंश में सत्य के रूप में स्थान देना पड़ता है, चाहे वह आध्यात्मिक पूर्णता अथवा नैतिक आचार के लिये ही क्यों न हो, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से वे सृष्टि की रचना को ही स्वीकार नहीं करते। शंकर अपने से पूर्ववर्ती सभी कल्पनाओं का लाभ उठाते

हैं और उपनिषदों तथा गौड़पाद द्वारा छोड़े गये उपादानों से एक परिपूर्ण सिद्धान्त का व्यवस्थित संगुम्फन करते हैं। यदि हम ब्रह्म-सूत्रों के शांकरभाष्य में अथवा अन्यत्र उनके माया सम्बन्धी वाक्यों की समीक्षा करें, उदाहरण के लिये एक ओर 'सदसदनिर्वचनीयस्वरूपत्व, अतस्मिन्तद्‌बुद्धि, रज्जुसर्प, और शुक्तिकारजत' तथा दूसरी ओर 'आकाशेतलमलिनत्वादि' और 'खपुष्प' 'मृगतृष्णिका' ऐन्द्रजालिक, शशविषाण, वन्ध्यापुत्र, जिन सबका उद्देश्य ऐन्द्रिक जगत् के दृश्य पदार्थों को प्रयोगिक संज्ञा मात्र प्रदान करना है, तो हम देखेंगे कि शंकर की स्थिति इस समय (यहाँ) न्यूनतर-सत्य और माया के बीच में है। किन्तु उनका अर्थ स्पष्ट रूप से ग्राह्य है कि ब्रह्म के पृष्ठ देश पर केवल आभास मात्र है। हम यहाँ पर शंकर के मायावाद के विकास के विस्तृत विवेचन से हाथ नहीं लगा सकते। किन्तु हम इतनी संकुचित परिधि में भी रामानुज द्वारा शंकर के मायावाद के प्रति उठाये गये प्रश्नों का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते, जिससे कि हम शंकर के सिद्धान्त के वास्तविक अर्थ को और भी अच्छी तरह समझ सकें। रामानुज का प्रश्न है—किस प्रकार चिर प्रकाशमान ब्रह्म हमारी दृष्टि से छिपा हुआ है? माया सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो 'आभास' नहीं हो सकती, यदि असत्य है तो ब्रह्म की 'उपाधि' नहीं हो सकती। क्या ब्रह्म का अनिर्वचनीयत्व ही उसकी परिभाषा नहीं है? माया की उपपत्ति की कसौटी क्या है? क्या यह कहना परस्पर भाव-विरोध नहीं है कि निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान द्वारा माया का नाश हो जाता है? क्या एक वार स्थित अज्ञान का दूरीकरण असम्भव नहीं है? रामानुज के ये समस्त तर्क असंगति-पूर्ण प्रतीत होंगे, यदि हम शंकर के "नाभाव उपलब्धेः" (अध्याय २; श्लोक–२८) नामक ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में उनकी विज्ञानवादियों और शून्यवादियों की आलोचना को विचार पूर्वक देखें, जहाँ संसार को केवल एक कल्पना, अथवा असत्ता मानने वाले सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना द्वारा शंकर ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वे न ज्ञान-परक विज्ञानवादी (Epistemological idealist) हैं और न ज्ञान-परक शून्यवादी (Epistemological nihilist) हैं। यदि हम शंकर के पारमार्थिक और व्यवहारिक सत्य के स्वरूपों का अन्तर ध्यान में न रक्खेंगे, तो शंकर के दृष्टिकोण को समझने में भूल होने की आशंका है। अपने परवर्ती जर्मन उत्तराधिकारी की भाँति, भारत में प्रथम वार ऐन्द्रिक सत्य और अतीन्द्रिय सत्य की विभाजक रेखा खींचने वाले शंकर ही थे। उसके विज्ञानवाद के प्रख्यात खण्डन के बाद भी कान्ट (Kant) पर विज्ञानवादी होने का दोषारोपण किया गया था। इसी प्रकार विज्ञानवाद तथा शून्यवाद

के प्रख्यात खण्डन के बाद भी शंकर पर विज्ञानवादी तथा शून्यवादी होने का दोषारोपण किया गया है। व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य के निरुपण ने प्रातिभासिक और स्वप्निक सिद्धान्त से मिल कर, जो उनके दर्शन से ही ग्रहण किया जा सकता है, हमारे सामने सत्य की श्रेणियों का सिद्धान्त उपस्थित करता है, जो शंकर में सर्वत्र अभिप्रेत है, यद्यपि व्यक्त रूप से इसका उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। स्वप्न-जगत् का सत्य आभास-जगत् के सत्य से श्रेष्ठतर है, जाग्रत-जगत् का सत्य स्वप्न-जगत् के सत्य से श्रेष्ठतर है, जाग्रत-जगत् के सत्य से आध्यात्मिक-जगत्, अथवा ईश्वर अथवा ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला सत्य श्रेष्ठतर है, जो अन्ततः एक दूसरे से अभिन्न है। प्रत्येक दर्शन-पद्धति को किसी न किसी प्रकार की दृश्य सत्ता को स्थान देना होगा। पार्मेनिडीज़ (Parmenides), प्लेटो (Plato) और प्लोटिनस (Plotinus) के समय से लेकर बर्कले (Berkeley), हीगल (Hegel) और ब्रैडले (Bradley) के समय तक यही पुकार रही है। दृश्यवाद में भी नैतिक दृष्टि से एक विशेष महत्व है, जिसकी इस सिद्धान्त के समीक्षक सदा उपेक्षा करते आये हैं। कारलाइल (Carlyle) के शब्दों में "ऐसा कौनसा विचक्षण चक्षु तथा श्रवण है, जिसके लिये 'श्रुति' ग्राह्य अर्थ प्रदान करेगी ?" हम एक अनन्त प्रेतलोक, तथा स्वप्न-जगत् में निवास करते हैं; यह स्वप्न-जगत् मन्दतम तारिका, प्राचीनतम शताब्दी, के लिये अनन्त है तथा उनकी सीमा के बहुत दूर है। विविध ध्वनियाँ तथा चित्र-विचित्र दृश्य हमारी इन्द्रियों के पथ में आते हैं, किन्तु उस चिरचेतन, ईश्वर को हम देख नहीं पाते जो स्वप्न और स्वप्नदर्शी दोनों का सृष्टा है। किन्तु कुछ दुर्लभ अर्ध-जाग्रत क्षणों में हमारे सामने एक आभा दौड़ जाती है। हम उसकी सत्ता में सन्देह नहीं करते। एक कहता है कि सृष्टि हमारे सामने एक इन्द्रधनुष की भाँति है; किन्तु सूर्य, जिसने इसकी रचना की वह उनसे छिपा हुआ है। उस अद्भुत स्वप्न में हम किस प्रकार छायाओं को वस्तु समझकर पकड़ते हैं; और अपने को पूर्ण-जाग्रत समझते हुये गहरी नींद सोते हैं। मेसीडन का अलक्षेन्द्र अब कहाँ है ? कहाँ है वह नैपोलियन और उसका मास्को प्रत्यागमन तथा औस्टर लिज़-युद्ध। क्या यह सब स्वप्न की खेला कुछ भिन्न था ? अपने परिपुष्ट युद्ध-अश्व पर वह वीर, उसकी आँखों से आग निकलती है, उसकी बाहुओं और हृदय में शक्ति का आकर है : किन्तु वीर और वीर-अश्व एक स्वप्निल दृश्य है; एक व्यक्त शक्ति है और कुछ नहीं। बड़ी शान के साथ वे भूमि पर विचरण करते हैं, मानो यह एक सुदृढ़ पदार्थ हो; मूर्ख ! पृथ्वी केवल एक झिल्ली है; इसके दो टुकड़े हो जाते हैं और वह वीर तथा वीर-

अश्व उसमें समा जाते हैं; समस्त ध्वनियों से दूर। ध्वनियाँ ? कल्पना उनके साथ नहीं जा सकती। कुछ क्षण पहले उनका अस्तित्व न था; कुछ क्षण, और उनका अस्तित्व रहा, उनकी धूल भी नहीं। इस प्रकार अग्नि से श्वास लेने वाले तथा ईश्वर-सृष्ट प्रेतसमूह की भाँति शून्य से हमारा उद्भव होता है : आँधी की भाँति विस्मित वसुन्धरा के ऊपर से निकल जाते हैं और फिर शून्य में ही विलय हो जाते है। किन्तु कहाँ से ? दैव ! किधर ? इन्द्रियाँ यह नहीं जान सकतीं। श्रद्धा नहीं जान सकती। केवल रहस्य से रहस्य की ओर, ईश्वर से ईश्वर की ओर।"

५

परतत्वशास्त्र

१. परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न

समस्त आध्यात्मिक उलझनों के अन्तर्गत, जिन्हें हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, एक परम महत्व-पूर्ण प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदीय दर्शन का मूल रहस्य क्या है ? क्या हमारी कल्पना उपनिषदीय दर्शन के महासागर में उलझनों की उत्ताल तरंगों में ही भटकती रहेगी अथवा हमें अपनी दार्शनिक चिन्तनाओं के संतुलन का कोई निश्चित अवलम्ब मिलेगा ? क्या हमारी कल्पना द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत आदि की पहेलियों की पंक में ही फँसी रहेगी, जैसा कि हम उपनिषदों में देखते हैं ? क्या मूल आव्यामिक प्रश्न को हल करने के इन विविध प्रयासों के मूल में एक आधारभूत कल्पना-तत्व नहीं है, जिसके द्वारा हम उपनिषदों के भिन्न सिद्धान्तों को एक सूत्र में बाँध सकें ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्नउपनिषद्-कारों के परम-तत्व के प्रश्न को जन्म देता है। जैसा कि हम प्रस्तुत अध्याय में देखेंगे, उपनिषद्-कारों ने इस प्रश्न को हल करने के लिये आत्मा की कल्पना का आश्रय लिया है। आरम्भ में आत्मा शब्द का अभिप्राय मनुष्य की श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया से था, पर अन्त में वह विश्व के परम-तत्व का प्रतीक बन गया। ग्रीक-दर्शन के पाठकों को यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं कि ग्रीक-दर्शन में प्लेटो की कल्पना उपनिषदीय आत्मा की कल्पना के समानान्तर है। आत्मा, जैसा कि हम इस अध्याय में आगे चलकर देखेंगे, उपनिषद्-कारों के लिये विश्व-सत्ता का परम-तत्व है। किस प्रकार वे आत्मा की इस कल्पना तक पहुँचते हैं, और उन्होंने मूल दार्शनिक प्रश्न को सुलझाने में इसका किस प्रकार उपयोग किया, यही हमारे प्रस्तुत विवेचन का विषय है।

२. परम-तत्त्व की खोज के तीन पथ : सृष्टिविधान-मूलक, ईश्वरशास्त्र-मूलक, मनोविज्ञान-मूलक

यदि हम दार्शनिक विचार-जगत् के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि दार्शनिकों ने परम-तत्व की खोज अनेक मार्गों से की है। उनमें से तीन प्रधान पथ सृष्टिविधान-मूलक, ईश्वरशास्त्र-मूलक तथा मनोविज्ञान-मूलक अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक हैं। डॉ. केअर्ड (Dr. Caird) का कथन है कि मनुष्य के मस्तिष्क की निर्माण प्रकृति के ही अनुकूल उसके लिये केवल तीन विचार-पथ खुले हुये हैं : "वह अपने चतुर्दिक बाह्य-जगत् की ओर देख सकता है, वह अपने अन्तस् में निहित आत्मा की ओर देख सकता है, वह ऊपर ईश्वर की ओर देख सकता है, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों का समीकरण है, तथा अपने को दोनों में अभिव्यक्त करता है"[1]। उनके मतानुसार बाह्य-जगत् का ज्ञान से पहले होता है, और ईश्वरीय-ज्ञान इन दोनों के उपरान्त। जैसा कि उन्होंने अन्यत्र कहा है : "मनुष्य अपने अन्तस् में देखने के पूर्व बाहर की ओर देखता है और ऊपर की ओर देखने के पूर्व वह अपने अन्तस् की ओर देखता है।"[2] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञान के विकास की यह व्याख्या अन्ततः युक्ति संगत है ? क्या यह आवश्यक है कि अपने अन्तस् की ओर देखने के पूर्व मनुष्य बाह्य-जगत् की ओर देखे, अथवा ऊपर ईश्वर की ओर देखने के पूर्व अपने अन्तस् की ओर देखे ? दर्शन-शास्त्र के इतिहास का विकास इन प्रश्नों का वही उत्तर न देगा, जो डॉ. केअर्ड चाहेंगे। डेकार्ट (Descartes) ने अपने तत्वज्ञान-विवेचन का प्रारम्भ बाह्य-जगत् की सत्यता के प्रतिपादन से नहीं किया। डेकार्ट के लिये आत्मा मूल-सत्य है, आत्म-ज्ञान मूल-सत्ता है, और अन्तदर्शन वास्तविक दार्शनिक प्रक्रिया का प्रारम्भ। डेकार्ट का कथन है कि हम आत्मा से ईश्वर की कल्पना तक पहुँचते हैं, जो आत्मा का मूल-कारण है, और इसीलिये जिसको हमें आत्मा की अपेक्षा पूर्णतर मानना चाहिये। अन्त में, ईश्वर से बाह्य-जगत् की ओर आते हैं, जिसे हम प्रारम्भ में असत् तथा किसी राक्षस प्रेत की माया-सृष्टि मान कर चले थे। दूसरी ओर ईश्वरानुभूति में आत्म-विस्मृत रहने वाले दार्शनिक स्पिनोज़ा (Spinoza) के लिये न आत्मा सत्य है, न जगत्। उसके लिये ईश्वर ही अखिल सृष्टि का आदि, अन्त तथा सर्वस्व है। ईश्वर से ही दर्शन-शास्त्र का प्रारम्भ होता है और ईश्वर में ही उसका अन्त होता है। उपनि-

1. Evolution of Religion, I. 77.
2. Evolution of Religion, II. 2.

षद्-कारों का परम-तत्व की खोज का पथ डेकार्ट और स्पिनोज़ा दोनों से भिन्न था। उपनिषद्-कार आत्मा को परम-सत्ता मानते थे और उन्होंने जगत् तथा ईश्वर को गौण स्थान दिया था। उनके लिये आत्मा जगत् और ईश्वर से अधिक सत्य है। अन्त में वे आत्मा और ईश्वर को एकरूप करके सत्य के ईश्वर-मूलक तथा मनोविज्ञान-मूलक पथों को एक कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे वाह्य-जगत् की ओर देखने से प्रारम्भ करते हैं, किन्तु उन्हें शीघ्र ही यह ज्ञात हो जाता है कि परम-सत्य के प्रश्न का उत्तर वाह्य-जगत् में नहीं मिल सकता : उनका कथन है कि हमारे लिये अन्ततः आध्यात्मिक तत्व की ओर जाना आवश्यक है। तब वे एक दूसरा प्रयोग आरम्भ करते हैं : वे सत्य के आधिदैविक पथ से जाते हैं, किन्तु उसे भी अभाव-पूर्ण पाते हैं। अन्त में वे आध्यात्मिक पथ से जाते हैं तो परम-सत्ता के प्रश्न के यथेष्ट उत्तर पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्-कारों के लिये परम सत्य का प्रश्न आधिभौतिक, आधिदैविक, तथा अध्यात्मिक त्रितत्वात्मक प्रश्न है : आधिभौतिक तथा आधिदैविक पथों के अभावपूर्ण ठहरने पर वे आध्यात्मिक पथ का आश्रय लेते हैं और आत्मा की कल्पना तक पहुँचते हैं। हम प्रस्तुत अध्याय में इस पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे कि किस प्रकार उपनिषद्-कार परम-सत्य तक पहुँचने के लिये आधिभौतिक तथा आविदैविक पथों को गौण तथा आध्यात्मिक पथ को एक मात्र सच्चा पथ मानते थे।

अ—आधिभौतिक विचार-पद्धति

३. आधिभौतिक उपादानों से शरीर शास्त्र के उपादानों की ओर

सबसे पहले हम आधिभौतिक विचार-पद्धति का विवेचन करेंगे और यह देखेंगे कि किस प्रकार यह अभावपूर्ण पायी गयी। प्राकृतिक पुरुष की सरल-कल्पना-शक्ति के लिये नैसर्गिक शक्तियों को परम-सत्य मान लेना स्वाभाविक है, किन्तु घटनाओं के गम्भीर विचार और सूक्ष्म अन्तर्दर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक शक्तियाँ परम-सत्य नहीं मानी जा सकतीं। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा इसका उदाहरण है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि उपकोसल नामक एक छात्र ज्ञान-सम्पादन के लिये अपने गुरु सत्यकाम जाबाल के यहाँ बारह वर्ष तक रहा और बड़े श्रम और निष्ठा से उनकी सेवा की। यद्यपि उसके ब्रह्मचर्याश्रम की सामान्य

अवधि समाप्त हो गई थी, किन्तु उसके गुरु ने उसे घर जाने की आज्ञा न दी। उसकी गुरुमाता ने ऋषि से पूछा कि जब उन्होंने सब शिष्यों को आज्ञा दे दी तो उसे क्यों नहीं जाने देते। एक बार जब उपकोसल वन में (गया) था, तो तीन होमाग्नियाँ जिनका उसने गुरु-आश्रम में एकनिष्ठ भाव से सेवन किया था मूर्त रूप में उसके सामने प्रकट हुईं। पहली होमाग्नि गार्ह ने उससे कहा कि परम सत्य सूर्य में पाया जा सकता है। दूसरी होमाग्नि अन्नवाहार्य-पचन ने कहा कि परम-सत्य चन्द्रमा में है। तीसरी होमाग्नि अहवनीय ने कहा कि परम सत्य विद्युत् में है। उस समय के लिए तो उपकोसल को उन तीन होमाग्नियों के उत्तर से सन्तोष हो गया। जब वह आश्रम में पहुँचा तो उसके गुरु ने पूछा कि उसके मुख पर आत्म-प्रकाश की आभा कैसी दिखाई देती थी। उपकोसल ने गुरु से सारा वृत्तान्त कह दिया कि किस प्रकार, यदि उसके मुख पर कोई दिव्य आभा थी, तो उसका कारण उन तीन अग्नियों का ज्ञानोपदेश हो सकता था। उसके गुरु ने कहा कि उन तीन अग्नियों द्वारा दिये गये उपदेश से उनका दिया हुआ ज्ञान श्रेष्ठ है। अन्त में, उन्होंने अपने शिष्य को यह ज्ञानोपदेश दिया कि 'परम-सत्य न सूर्य में है, न चन्द्रमा में, न विद्युत् में, वरन् मनुष्य के नयन में, प्रतिबिम्बित पुरुष में है। सत्यकाम जाबाल ने कहा कि "यह प्रतिबिम्ब ही आत्मा है, यही अमृत, अभय और ब्रह्म है। यह प्रतिबिम्ब समस्त सुखों का देने वाला है, यह पुरुष समस्त लोकों से अधिक तेजयुक्त है जो यह जानता है कि वह समस्त लोकों से अधिक तेजयुक्त है, स्वयं समस्त लोकों से अधिक तेजयुक्त हो जाता है" (मूल० १)। यह अवतरण स्पष्ट रूप से आधिभौतिक उपादानों के आधिदैहिक उपादान की ओर झुकाव के प्रति संकेत करता है। बाह्य जगत् के उपादानों के परम-सत्य होने से सन्तुष्ट न होकर सत्यकाम ने आधिदैहिक उपादान अर्थात् नयन में परम-सत्य होने की घोषणा की। यह स्वयं, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, एक गौण-रूप सत्य है, यद्यपि प्रत्यक्ष-रूप से इसमें एक विशेषता है कि यह हमें बाह्य जगत् से आधिदैहिक वातावरण में ले जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के एक अन्य अवतरण में हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार वह प्रकाश "जो अतीन्द्रिय आकाश में स्वर्ग में प्रतिभाषित होता है, वही प्रकाश है जो मनुष्य के अन्तस् में वर्तमान है और जिसका स्पर्श-जन्य प्रमाण हमें तब मिलता है, जब हम शरीर में ऊष्णता का अनुभव करते हैं, अथवा श्रवण-जन्य प्रमाण यह है कि कान मूँद लेने पर भी हम घन-गर्जन का घोष अथवा बैल का नाद अथवा प्रज्वलित अग्नि का शब्द सुन सकते हैं। जो परम-सत्य को शरीर-संस्थित मानकर उसका ध्यान करता है उसे ख्याति

विवेचन-पद्धति के विरुद्ध उठाई थीं। किन्तु इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि यह विवेचन-पद्धति उपनिषदों में भी पायी जाती है। जब एक बार इस बाह्य जगत् के पीछे एक शाश्वत सत्य की कल्पना करली गई तो उपनिषद्-कारों को उसे निखिल शक्ति का उद्गम और स्रोत बना देने में कोई आपत्ति न होती। वे इसे अनन्त शक्ति का उद्गम मानते हैं, जिसकी केवल आंशिक अभिव्यक्ति नैसर्गिक शक्तियों में दिखाई देती है। इस प्रकार नैसर्गिक शक्तियाँ, जिनसे हम परिचित हैं, ब्रह्म की अनन्त शक्ति की आंशिक अभि-व्यक्तियाँ हैं। केनोपनिषद् में एक बड़ी मनोरंजक कथा है, जिसमें हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार नैसर्गिक शक्तियाँ अनन्त शक्ति की आंशिक अभि-व्यक्तियाँ हैं। उन कथाओं और उपाख्यानों को जिनका सम्बन्ध दार्शनिक ग्रन्थों से है, दार्शनिक सत्यों की रूपकात्मक अभिव्यंजना समझना चाहिये। इसी प्रकार उक्त उपनिषदीय कथा को भी समझना चाहिये, जिसमें ब्रह्म जो शाश्वत सत्य है, प्रकृति के दृष्ट देवताओं के विरुद्ध अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है। वह कथा इस प्रकार है कि एक बार देवताओं और राक्षसों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें देवताओं की विजय हुई। देवताओं ने सोचा कि यह विजय उन्हें पूर्णतः अपनी शक्ति के कारण प्राप्त हुई है। यह भूल जाने के कारण कि यह शक्ति उनके अन्तःस्थित ब्रह्म की शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है, उन्हें गर्व हो गया। यह जानकर ब्रह्म अकस्मात् उनके सामने प्रकट हुआ। देवता लोग यह न समझ सके कि वह कौन था। अतः वे आश्चर्य से चकित रह गये। तब उन्होंने अग्निदेव को ब्रह्म के पास सन्देश देकर भेजा और उसे उस यक्ष के वास्तविक स्वरूप का निर्णय कर लाने की आज्ञा दी। अग्निदेव बड़े गर्व के साथ ब्रह्म के पास गये। ब्रह्म ने उनसे पूछा "तुम कौन हो ?" तो अग्निदेव ने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया कि "मैं जातवेदस् हूँ, जिसमें समस्त विश्व को जला देने की शक्ति है।" ब्रह्म ने उसके सामने एक दूर्वादल डाल दिया और अग्नि से उसे जलाने को कहा। अग्निदेव अपनी शक्ति से भी उसको जलाने में असमर्थ रहे और निराश होकर देवताओं के पास लौट आये। तब देवताओं ने वायु देवता को भेजा और उसे भी वही आदेश दिया। वायु देवता बड़े गर्व के साथ वेग पूर्वक ब्रह्म के पास पहुँचे और ब्रह्म के यह पूछने पर कि "तू कौन है ?" उन्होंने बड़े गर्व के साथ यह उत्तर दिया कि "मैं मातरिश्वन् हूँ, जिसमें विश्व के धरातल से प्रत्येक वस्तु को उड़ा देने की शक्ति है।" ब्रह्म ने फिर वही दूर्वादल उसके सामने डाल दिया। अपनी समस्त शक्ति से भी वायुदेवता उसे एक तिलभर भी न उड़ा सके। तब वायु देवता ब्रह्म की प्रकृति पहचाननें में असमर्थ रहने के कारण लज्जित होकर लौटे। तब देवताओं ने

इन्द्र को भेजा और उसे भी वही भार सौंपा। इन्द्र अग्नि अथवा वायु से अधिक विनम्र प्रकृति का देवता था। वह ब्रह्म की प्रकृति को पहचानने के लिये उसकी ओर वेग से गया, तो ब्रह्म उसकी दृष्टि से अन्तर्धान हो गया। इसका स्पष्ट कारण यही है कि इन्द्र अन्य देवताओं से अधिक नम्र था। तब इन्द्र के सामने एक अत्यंत सुन्दरी स्वर्गांगना प्रकट हुई। इन्द्र ने उससे पूछा कि 'वह यक्ष कौन था; जो उसके सामने से अन्तर्धान हो गया?" इस पर उस हेमवती उमा ने इन्द्र से कहा कि "वह ब्रह्म था।" उसने यह भी कहा कि यह ब्रह्म की ही शक्ति के कारण था कि देवताओं को विजय मिल गई, न कि उनकी अपनी शक्ति के द्वारा। इन्द्र बड़ा विचक्षण देवता था और वह शीघ्र ही समझ गया कि देवताओं की शक्ति ब्रह्म की शक्ति की एक अभिव्यक्ति मात्र थी। यह इंद्र की नम्रता के कारण ही था, जिसके द्वारा वह ब्रह्म के निकट तक पहुँच सका, और वह देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हो गया। "वस्तुतः यह ब्रह्म की ही शक्ति है जो विद्युत में पलभर प्रदीप्त होकर झट विलीन हो जाती है। यह ब्रह्म की ही शक्ति है जो हमारी आत्मा की चेतना और कल्पना के रूप में अपने को व्यक्त करती है तथा हमें कल्पना करने में समर्थ बनाती है" (मूल० ५-क)। यह कथा हमें यह बतलाती है कि भौतिक तथा मानसिक शक्तियाँ ब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केनोपनिषद्-कार आधिभौतिक विवेचना-पद्धति द्वारा एक अव्यक्त शक्ति की कल्पना तक पहुँचता है, जो समस्त व्यक्त मानसिक तथा नैसर्गिक शक्तियों के पीछे वर्तमान है तथा जिसे, इसीलिये, मूल-शक्ति समझना चाहिये।

६. ईश्वर परम ज्योति है

केवल इतना ही नहीं कि जगत् की समस्त शक्ति का मूल कारण ब्रह्म है: यह समस्त ज्योति और जो हम इस जगत् में देखते हैं, वह भी ब्रह्म की अव्यक्त ज्योति की अभिव्यक्ति मात्र है। कठोपनिषद् का प्रश्न है कि "क्या सूर्य अपनी ज्योति से प्रकाशित है? क्या चन्द्र और नक्षत्र अपनी ज्योति से प्रकाशित हैं? क्या विद्युत अपनी ज्योति से दीप्त होती है? —क्षुद्र पार्थिव अग्नि की तो बात ही क्या है, जो स्पष्टतया अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य की ऋणी है।" क्या हम यह कहेंगे कि ये समस्त प्रकाशमान वस्तुयें स्वयं-प्रकाशी हैं अथवा हमें यह मानना चाहिये कि वे अपनी ज्योति किसी मूल आधार भूत शाश्वत सत्ता से ग्रहण करते हैं, जो उन सबके पीछे वर्तमान है, तथा जिसकी ज्योति जगत् के प्रकाश-पिण्डों को प्रकाशित करती है? "उसके सामने सूर्य प्रकाशित नहीं होता, उसके सामने चन्द्रमा और नक्षत्र प्रकाशित

और कीर्ति मिलती है" (मूल० २–क)। इसी भाव की व्यंजना मैत्री उपनिषद् में भी की गई है, जहाँ उपनिषद्-कार कान मूँद लेने पर भी सुनाई देने वाली ध्वनि के रूप में मनुष्य के अन्तर्निहित सत्य का वर्णन करता है (मूल० २–ख)। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अवतरणों में हम आधिभौतिक उपादानों को नयन, ऊष्णता अथवा कान मूँद लेने पर भी सुनाई देने वाली ध्वनि आदि आधिदैहिक उपादानों की ओर बढ़ता हुआ पाते हैं। अस्तु, आधिभौतिक पद्धति सदोष है। उपनिषद्कारों के लिए आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व आधिदैहिक उपादानों[1] के विवेचन के लिये कुछ देर ठहर जाना आवश्यक जान पड़ता है।

४. आधिभौतिक तथा आधिदैहिक उपादानों से आध्यात्मिक उपादानों की ओर

एक अवतरण में जो कौषीतकी और बृहदारण्यक उपनिषदों में सामान्य रूप से पाया जाता है, हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार आधिभौतिक और आधिदैहिक पद्धतियों में दोनों ही सदोष हैं और किस प्रकार वे आध्यात्मिक पद्धति का पथ प्रशस्त करती हैं। इस अवतरण में एक कथा है कि किस प्रकार अभिमानी बालाकी काशिराज अजातशत्रु के यहाँ गया और किस प्रकार उसने यह कहकर कि वह राजा को श्रेष्ठ ज्ञान का उपदेश करेगा, उस पर प्रभाव आरोपित करना चाहा। राजा ने उसका स्वागत किया। अभिमानी बालाकी ने इस कथन से अपना ज्ञानोपदेश आरम्भ किया कि सूर्य में जो पुरुष है, वही परम सत्य है। इस प्रकार उसने क्रमशः चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ-गर्जन, वायु, आकाश, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, ध्वनि, शरीर, दक्षिणाक्षि, वामाक्षि आदि में परम-सत्य बतलाया। जब वह इस प्रकार की विवेचन पद्धति पर आगे न बढ़ सका तो उसका मुख बन्द हो गया (तो उसे चुप हो जाना पड़ा)। राजा अजातशत्रु बालाकी का हाथ पकड़ कर एक पुरुष के पास ले गया, जो घोर निद्रा में सो रहा था और उसे इस प्रकार पुकारना आरम्भ किया "हे महाभाग ! शुभ्रवसन ! सोमराज !" किन्तु पुरुष उसी प्रकार गहरी नींद में पड़ा रहा। जब अजातशत्रु ने अपने दण्ड से उसे उकसाया तो वह तत्क्षण उठ बैठा। अन्त में अजातशत्रु ने

1. There is the same distinction between physiology and psychology as Matthew Arnold would say between the poetries of Byron and Wordsworth.

बालाकी से कहा कि निद्राभिभूत पुरुष में प्रसुप्त चैतन्य परम-सत्य माना जा सकता है (मूल० ३)। उक्त अवतरण की विचार-पद्धति को हम आधिभौतिक तथा आविदैहिक दोनों सदोष पद्धतियों की ओर से आध्यात्मिक उपादान-तत्व प्रसुप्त चैतन्य की ओर बढ़ते देखते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार यह भी प्रस्तुत प्रश्न का अपूर्ण तथा गौण उत्तर है। अतः हम इस स्थान पर उपनिषद्कारों के अन्तिम आध्यात्मिक उत्तर की समीक्षा के लिए नहीं ठहरेंगे।

५. ईश्वर की सत्ता का आधिभौतिक प्रमाण : ईश्वर सर्व-शक्तिमान है

आविभौतिक पद्धति की समीक्षा में हमने उसे आधिदैहिक अथवा आध्यात्मिक पद्धति के पक्ष में सदोष पाया। किन्तु यहाँ इसका यह अभिप्राय नहीं है कि केवल आविभौतिक पद्धति ने उपनिषद्कारों के लिए ब्रह्म-ज्ञान का पथ प्रदर्शित नहीं किया। यदि हम तनिक गम्भीर दृष्टि से देखें तो उनमें ब्रह्म की सत्ता के वैसे ही आधिभौतिक प्रमाण पायेंगे जैसे कि हम, उदाहरण के लिए, ग्रीक दर्शन में पाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् का एक अवतरण यह घोषणा करता है कि बाह्य-जगत् के पीछे (पृष्ठ देश में) एक ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये, जो उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के लिए उत्तर-दायी ठहराई जाय : "वह, जिससे समस्त वस्तुओं का उद्भव है, वह जिसमें इन समस्त भूत पदार्थों की स्थिति है, जिसमें, अन्ततः समस्त भूत पदार्थों का निलय हो जाता है, वही शाश्वत सत्य ब्रह्म है" (मूल० ४—क)। पुनः छान्दोग्योपनिषद् का एक सूत्र यह घोषित करता है कि मनुष्य को इस विश्वास में समाधान मिलना चाहिये कि इस जगत् का उद्भव ब्रह्म से ही है, ब्रह्म में ही इसकी स्थिति है और ब्रह्म में ही इसका निलय होता है। उपनिषद्-कार में इस समस्त भाव की व्यंजना एक शब्द "तज्जलान्" से की है, जिसका अर्थ है कि ब्रह्म से ही इस जगत् का उद्भव है, उसी में इसकी स्थिति है, और अन्त में उसी में इसका निलय होता है (मूल० ४—ख)। बाह्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रसंग द्वारा जगत् के पीछे किसी शाश्वत सत्य की सत्ता के इस आविभौतिक प्रमाण से दर्शन शास्त्र के सभी पाठक परिचित होंगे। यही प्रमाण हम उपनिषदों में भी देखते हैं। यह सत्य है कि उसी प्रकार की शंकायें उपनिषदों की इस विवेचन पद्धति के विषय में भी उठाई जा सकती हैं, जिस प्रकार की शंकायें कान्ट (Kant) ने परम्परागत आधिभौतिक

नहीं होते, उसके सामने विद्युत प्रदीप्त नहीं होती, फिर इस पार्थिव अग्नि का तो कहना ही क्या ? पहले ब्रह्म के ही प्रकाशित होने पर, तत्पश्चात् ये समस्त वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। उसके ही प्रकाश से सब प्रकाश-मान होते हैं (मूल० ५-ख)।

७. ईश्वर विश्व का सूक्ष्म सार है

उपनिषद्-कारों का कथन है कि निखिल सृष्टि की सत्ता के उद्गम और स्रोत तथा समस्त शक्ति और ज्योति के मूल ब्रह्म को विश्व की समस्त दृष्टि-गम्य जड़ अभिव्यक्तियों का अन्तःस्थित सूक्ष्म सार समझना चाहिये। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा हमें बतलाती है कि किस प्रकार एक बार एक गुरु और शिष्य में संवाद हुआ। गुरु ने शिष्य को अन्तःस्थित सार की सूक्ष्मता का विश्वास दिलाने के लिये शिष्य से एक न्यग्रोव वृक्ष का फल लाने को कहा। जब शिष्य एक फल ले आया तो गुरु ने उससे उसे तोड़ने को कहा। तोड़ने के बाद गुरु ने शिष्य से उसके अन्दर देखने को कहा। शिष्य ने उसके अन्दर अत्यन्त सूक्ष्म आकार के असंख्य बीज देखे। फिर गुरु ने उससे एक बीज तोड़ने को कहा और जब शिष्य ने उसे तोड़ा तो गुरु ने उसके अन्दर देखने को कहा। तो उसने उत्तर दिया "कुछ नहीं !" इस पर गुरु ने कहा कि "सौम्य, जो तुम्हें 'नहीं' दिखाई देता वही परम सूक्ष्मसार है; इसी सार से यह न्यग्रोध वृक्ष निर्मित है। वत्स, इसका विश्वास करो" (मूल० ६)। यह कथा हमें यह बतलाती है कि किस प्रकार वस्तुओं के अन्तःस्थित सार को सूक्ष्म और अव्यक्त समझना चाहिये तथा किस प्रकार जड़ और व्यक्त पदार्थों की सत्ता केवल ऐन्द्रिक और दृश्य है। इस कथा में एक और बात ध्यान देने योग्य है। गुरु ने शिष्य से यह कहने के साथ कि न्यग्रोध वृक्ष के पीछे एक अव्यक्त सूक्ष्म तत्व अन्तर्निहित है, यह भी कहा था कि इसे आत्मा से एक रूप समझना चाहिये और आगे शिष्य से अपने को उससे अभिन्न समझने को कहा (मूल० ६)। यहाँ हम वस्तु जगत् के अन्तर्निहित सूक्ष्म तत्व की केवल आधि-भौतिक कल्पना की सीमाओं को देखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो सृष्टि-शास्त्र को एक बार फिर विश्व के अन्तःस्थित अन्तर्निहित तत्व के मानव मन के पीछे निहित तत्व से तादात्म्य स्थापित करने के पूर्व आध्यात्मिक उपादानों का आधार लेना होगा। इस प्रकार समस्त विश्व एक हो जाता है, किन्तु तभी जब हम यह कल्पना करते हैं कि भौतिक जगत् और मानसिक जगत् में एक ही तत्व परिप्रोत है।

८. आधिदैहिक-आधिदैविक विवेचन

विचार-विकास के इतिहास की समीक्षा से ज्ञात होता है कि आधिभौतिक विचार-पद्धति आधिदैहिक-आधिदैविक विचार-पद्धति की भी सहायता लेती दिखाई पड़ती है और दोनों एकत्र होकर तो मनुष्य को निरुत्तर कर देती सी दिखाई देती हैं। ठीक यही उपनिषदीय दर्शन के विषय में होता है। विधान और नियति-मूलक विवेचन आधिदैहिक-आधिदैविक विवेचन-पद्धति के सगुण और निर्गुण अथवा साकार और निराकार पक्ष दिखाई देते हैं। जो ईश्वर में विश्वास करते हैं वे विधान में विश्वास करते हैं। जो निराकार ब्रह्म में विश्वास करते हैं वे केवल नियति में विश्वास करते हैं। उपनिषद्-कारों के साथ प्रायः निराकार और साकार दोनों मिश्रित रहे हैं; और हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार आत्मा सगुण सत्ता होते हुये भी "एक निर्गुण बाँध है जो सत्ता की स्रोतस्विनी के प्रवाह को स्तम्भित करता है; सत्ता के इस चिरन्तन बाँध को न दिवस और न रात्रि, न जरा और न मृत्यु, न पुण्य और न पाप भंग कर सकते हैं" (मूल० ७–क)। बृहदारण्यक का कथन है कि "इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से ही सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से पृथ्वी और आकाश अपने पृथक्-पृथक् स्थान पर स्थित हैं। इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से निमेष, मूहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, और वर्ष विश्व की व्यवस्था में अपने निश्चित धर्म का पालन करते हैं। इसी ब्रह्म के आदेश से ही कुछ सरितायें हिमावृत पर्वतों से पूर्व की ओर बहती हैं, और कुछ पश्चिम की ओर" (मूल० ७–ख)। यहाँ हम आविदैहिक-आविदैविक प्रमाण के सगुण और निर्गुण अथवा विधान और नियति पक्षों को पृथक्-पृथक् करने की चेष्टा न करेंगे। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि आविदैहिक-आधिदैविक प्रमाण उपनिषदों में वर्तमान हैं, जो ब्रह्म के विश्व के आधार होने तथा संयोग की आँधी में भी उसे अविचल रखने वाले संतुलन-भार होने की ओर संकेत करते हैं।

आ—आधिदैविक विचार-पद्धति

९. अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद की ओर

अब हम यह विचार करेंगे कि उपनिषद्-कारों ने आधिदैविक पद्धति के आधार पर किस प्रकार सत्य की कल्पना की है। उन्होंने इस प्रश्न से आरम्भ किया है कि विश्व में कितने देवताओं की सत्ता माननी चाहिये।

किन्तु वे तब तक सन्तुष्ट न हो सके जब तक कि वे एक ईश्वर की कल्पना तक न पहुँच गये, जो समस्त संसार का शासक है। अन्त में उन्होंने ईश्वर को मनुष्य की अन्तरात्मा से एकाकार कर दिया। इस प्रकार आधिदैविक उपादान आध्यात्मिक उपादानों के सामने गौण हो जाते हैं। हम देखेंगे कि यह किस प्रकार होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के विदग्ध शाकल्य और याज्ञवल्क्य के संवाद में हमें बतलाया गया है कि शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि संसार में कितने देवताओं की सत्ता माननी चाहिये। याज्ञवल्क्य ने पहले तो इस प्रश्न का उत्तर दिया कि "तीन सौ तीन", किन्तु शीघ्र ही कहा कि "तीन हजार तीन"। इन उत्तरों से सन्तुष्ट न होकर विदग्ध शाकल्य ने फिर पूछा कि देवता कितने हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'देवता तेतीस हैं'। शाकल्य को इससे भी सन्तोष न हुआ और उसने फिर पूछा, तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'देवता छः हैं।' शाकल्य के बार-बार पूछने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'देवता तीन, दो अथवा डेढ़ (!) हैं; अन्त में, केवल एक ईश्वर है, जो अद्वितीय है। याज्ञवल्क्य केवल शाकल्य की अन्तर्दृष्टि की परीक्षा कर रहे थे कि देखें वह पहले दिये गये विविध उत्तरों से सन्तुष्ट होता है अथवा नहीं और जब शाकल्य सन्तुष्ट न हुआ तो अन्त में उन्होंने कह दिया कि ईश्वर एक है। पारस्परिक सहमति से शाकल्य और याज्ञवल्क्य इसी परिणाम पर पहुँचे कि केवल वही विश्व का ईश्वर है जिसका पृथ्वी शरीर है, अग्नि दृष्टि है, प्रकाश मन है, तथा जो आत्माओं का परम परायण है (मूल० ८—क)।

१०. सगुण ईश्वर और आत्मा से उसका एकत्व

श्वेताश्वतरोपनिषद् इस सगुण ईश्वर की कल्पना का विकास करती है। सगुणवाद के स्वर में वह घोषणा करती है कि किस प्रकार एक ही ईश्वर ने (जिसे वह रुद्र कहती है), जिसके अतिरिक्त दूसरा नहीं, जो अद्वितीय है तथा जो अपनी शक्तियों द्वारा विश्व का शासन करता है तथा समस्त भूतों का आधार है, समस्त लोकों की सृष्टि करता है और प्रलय काल में उनका संहार करता है। वह विश्वतश्चक्षु तथा विश्वतोमुख है, उसके चरण और पाणि भी सर्वत्र व्याप्त है। वह संसार के पुरुषों को उत्पन्न करता है और उन्हें पाणि-प्रदान करता है। वह आकाश के पक्षियों को उत्पन्न करता है और उन्हें पंख प्रदान करता है। वही एक मात्र ईश्वर है जिसने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया (मूल० ८—ख)। उसी उपनिषद् के एक अगले अवतरण में ऋषि इस ईश्वर, प्रकृति और गुणों का और अधिक अन्वेषण करता है।

वह उसे विश्व का एकमात्र स्वामी, उत्पादक, पालक, तथा संहारक बतलाता है। वह इस घोषणा के साथ समाप्त करता है कि शाश्वत आनन्द की प्राप्ति केवल उन्हीं को होती है, जो इस ईश्वर को अपनी अन्तर्रात्मा से अभिन्न मानते हैं "कुछ ज्ञानी कहलाने वाले पुरुष महान् दार्शनिक मोह के कारण स्वभाव अथवा काल को सत्ता का उदगम मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह इस ईश्वर की ही महत्ता का प्रभाव है, जिसके कारण यह ब्रह्मचक्र निरन्तर घूमता है। यह समस्त विश्व उसी से आवृत्त है। वही एक मात्र ज्ञाता है। वह काल का भी काल है; वह सर्वगुणसम्पन्न और सर्वज्ञ है। उसी के आदेश से सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पंचमहाभूतों का विकास होता है। वह पदार्थों के संयोग का नित्य और निमित्त कारण है। वह भूत, भविष्यत, और वर्तमान से परे है, अर्थात् त्रिकालातीत है और कलाहीन है। उसी विश्वेश्वर को, जो समस्त विश्व में व्यापक है, आत्म-संस्थित मानकर उसी का ध्यान करना चाहिये, जो ईश्वरों में परमेश्वर है, देवताओं में महादेव है, अधिपतियों में सर्वाधिपति है, तथा अत्यन्त वन्दनीय और विश्वनियामक है। उसका न कोई कारण है और न कोई परिणाम है। न कोई उसके समान है और न कोई उससे श्रेष्ठ है। उसकी अन्तर्निहित महान् शक्ति ज्ञान और कर्म के रूप से अपनी अभिव्यक्ति करती है। इस विश्व में उसका कोई स्वामी नहीं है, कोई शासक नहीं है, और न कोई उसका लिङ्ग है। वह एकमात्र कारण है। समस्त ऐन्द्रिक लोक का अधिनायक है। उसका न कोई उत्पादक है और न पालक। वह विविध रूप निष्क्रिय जड़ जगत् का स्वयं-प्रतिष्ठित संचालक है, जो एक बीज को अनेक रूपों में अंकुरित करता है। जो इस विश्वात्मा को अपनी अन्तरात्मा में व्याप्त मानते हैं वे ही शाश्वत आनन्द के अधिकारी हैं" (मूल० ८—ग)। इस ईश्वर के सगुण रूप वर्णन में श्वेताश्वतरोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार ईश्वर संसार का एकमात्र कारण है और किस प्रकार वह अन्त में हमारी अन्तरात्मा से एकरूप है। यहाँ फिर शुद्ध आधिदैविक उपादान आध्यात्मिक उपादानों के सामने गौण हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों के लिये सत्ता का अन्तिम उपादान ईश्वरात्मा है।

११. ईश्वर की सर्व-व्यापकता और अतीन्द्रियता

उपनिषदों में ईश्वर की सर्व-व्यापकता तथा अतीन्द्रियता का प्रसंग छोड़ा नहीं गया है। उपनिषदों में ऐसे कुछ अवतरण हैं जिनका प्रसंग केवल

ईश्वर की सर्व-व्यापकता से है तथा कुछ का सम्बन्ध केवल अतीन्द्रियता से है तथा कुछ में सर्व-व्यापकता और अतीन्द्रियता का सम्मिलित प्रसंग है। अस्तु, उदाहरण के लिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में हमें बतलाया है कि "ईश्वर को अग्नि, जल, अखिल विश्व, वनस्पति, वृक्ष सब में व्याप्त मानना चाहिये।" बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार ईश्वरात्मा हम में नख-शिख व्याप्त है, जिस प्रकार एक छुरा पेटिका में बन्द होता है अथवा जिस प्रकार पक्षी अपने नीड़ में होता है। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा भी ईश्वर के उस पक्ष को प्रकाश में लाती है। उसमें हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार एक शिष्य से उसके गुरु ने रात को एक नमक का टुकड़ा पानी में डाल देने को कहा और प्रातःकाल उसे अपने पास लाने को कहा। शिष्य ने आदेशानुसार सब किया। जब गुरु ने शिष्य से पूछा कि नमक का क्या हो गया, तो शिष्य इसका उत्तर न दे सका, क्योंकि नमक पहले ही पानी में घुल चुका था। गुरु ने शिष्य से धरातल से कुछ जल चखने को कहा, फिर बीच में से, फिर तले में से, तो शिष्य ने उत्तर दिया कि सब स्थानों पर नमकीन था। तब गुरु ने शिष्य से कहा कि यद्यपि नमक दिखाई नहीं देता, फिर भी वह जल के प्रत्येक कण में वर्तमान है। गुरु का कथन है कि वस्तुतः इसी प्रकार सूक्ष्म आत्मा विश्व में परिव्याप्त है, जिसे हम चाहे देख न सकें, किन्तु जिसकी परम श्रद्धा के उपादान रूप सत्ता में हमारी अमर आस्था होनी चाहिये (मूल० ६–क)। ये सभी अवतरण ईश्वर की सर्व-व्यापकता का समर्थन करते हैं। कठोपनिषद् का एक अवतरण, जो हमें प्लेटो में उपनिषद् के एक समानान्तर स्थल का स्मरण दिलाता है, जो अतीन्द्रिय जगत् के सूर्य का उल्लेख करता है, हमें बतलाता है कि किस प्रकार विश्वात्मा को लोक के समस्त दुःख और सुख से परे मानना चाहिये: "स्वर्गीय सूर्य की भाँति जो विश्व-चक्षु है तथा बाह्य दृष्टि-दोषों से अलिप्त है" (मूल० ६–ख)। यहाँ ईश्वर की अतीन्द्रियता पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार ईश्वर को "समस्त विश्व में व्याप्त तथा फिर भी उसकी सीमाओं से परे" मानना चाहिये। "अग्नि और वायु के समान, जो विश्व में प्रवेश करके अनेक रूप धारण कर लेती है, विश्वात्मा विश्व के प्रत्येक भाग में व्याप्त है, फिर भी विश्व की सीमाओं से परे है।" वस्तुतः ईश्वर स्वर्ग में एकाकी वृक्ष की भाँति अविचल रूप से स्थित है, फिर भी सम्पूर्ण जगत् उसी से परिव्याप्त है।" इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् ईश्वर की सर्व-व्यापकता और अतीन्द्रियता की घोषणा करती है (मूल० ६–ग)। इन सब अवतरणों से हमें ज्ञात होता है कि किस प्रकार ईश्वरात्मा को विश्व

के कोने-कोने में व्याप्त तथा फिर भी इसकी सीमाओं से परे माना गया है। अस्तु, विश्व-व्यापक ईश्वर को अन्तरात्मा से अभिन्न मानना चाहिये : उपनिषद्-कारों के अनुकूल इस अभिन्नता तक पहुँचने पर ही हम सत्य की चरम कल्पना तक पहुँच सकते हैं।

इ--आध्यात्मिक विचार-पद्धति

१२. आधिदैहिक तथा आध्यात्मिक उपादानों के विश्लेषण-जन्य आत्मा की कल्पना

अब हमें यह देखना चाहिये कि आध्यात्मिक पद्धति के द्वारा उपनिषद्कार किस प्रकार परम-सत्य की कल्पना तक पहुँचे। बृहदारण्यकोपनिषद् में राजा जनक और याज्ञवल्क्य के एक सम्वाद से हमें ज्ञात होता है कि एक बार याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से पूछा कि उन्होंने परम-सत्य के विषय में कौन-कौन से आध्यात्मिक सिद्धान्त सुने। जनक बड़े जिज्ञासु तथा दार्शनिक वृत्ति के राजा थे। इसलिये वे अनेक ऋषियों से प्राप्त परम-सत्य विषयक सभी सिद्धान्तों को जानते थे। अतः उन्होंने याज्ञवल्क्य को भिन्न तत्व-ज्ञानियों के मत सुनाना आरम्भ किया। राजा जनक ने कहा कि "जीत्वन शैलिनी ने मुझे बतलाया कि वाक् परम-सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "यह केवल आंशिक सत्य है, तब राजा जनक ने कहा कि "उदन्क शौल्वायन ने मुझे बतलाया कि "प्राण परम-सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने कहा कि "वह आंशिक सत्य है।" राजा जनक ने कहा कि "वार्कु वार्ष्णी ने मुझे बतलाया कि "नेत्र परम सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने कहा वह भी आंशिक सत्य है।" राजा जनक ने कहा कि "गर्दभी विपीत भारद्वाज ने मुझे बतलाया कि श्रवण परम सत्य है; सत्यकाम जाबाल ने मुझे बतलाया कि मन परम सत्य है। विदग्ध शाकल्य ने मुझे बतलाया कि हृदय परम सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने सबके लिये यही कहा कि ये सब आंशिक सत्य हैं (मूल १०—क)। परम सत्य के विविध आधिदैहिक और आध्यात्मिक अधिष्ठानों के विषय में उपनिषदीय तत्व-ज्ञानियों के भिन्न-भिन्न मतों की यह गणना तथा याज्ञवल्क्य के क्रमशः सबके खंडन में यह भाव अभिप्रेत है कि परम सत्य केवल आत्मा में ही पाया जा सकता है, संयोगिक अधिष्ठानों में नहीं जो आत्मा के आवरण-मात्र हैं। इसी कल्पना का विकास केनोपनिषद् में किया गया है जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि "आत्मा को श्रवण का भी श्रवण, मन का भी मन, वाक् की भी वाक्, नेत्र का भी नेत्र मानना चाहिये।

जो इस रूप में आत्मा को पहचानते हैं वे संसार से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं।" जिसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो, उसे नहीं जिसकी लोग व्यर्थ उपासना करते हैं। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, किन्तु जो मन की कल्पना करती है, उसी को परम सत्य समझो। जिसे देखने में नेत्र असमर्थ हैं, किन्तु जिसके द्वारा हम नेत्रों को देखते हैं, वही परम सत्य है। जिसे श्रवण सुन नहीं सकते किन्तु जो हमें श्रवण-ज्ञान की शक्ति प्रदान करती है, वही परम सत्य है। जिसे प्राण श्वसित अथवा उच्छ्वसित करने की शक्ति नहीं रखते, किन्तु जो प्राणों को श्वासोच्छ्वास की शक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो" (मूल० १०–ख)। इस अवतरण में हमें यह बतलाया गया है कि आत्मा को अन्तरतम सत्ता मानना चाहिये, आधिदैहिक तथा मानसिक अधिष्ठान तो इसके उपाधि रूप बाह्य आवरण मात्र हैं, सत्य के वास्तविक स्वरूप नहीं।

१३. चेतना की अवस्थायें : जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं संवित्ति (तुरीय)

अब हम छान्दोग्योपनिषद् में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा पर आते हैं, जो हमें निश्चित रूप से यह बतलाती है कि हम किस प्रकार अपनी स्वसंवेद्य अन्तरात्मा के परम सत्य होने की कल्पना तक पहुँच सकते हैं। उपनिषद्-कार आत्मा की मानसिक अवस्थाओं के बड़े विशद विश्लेषण द्वारा, यह स्पष्ट कर देता है कि भौतिक चेतना को परम सत्य समझने की भूल न करनी चाहिये, न स्वप्नगत चेतना को परम सत्य समझना चाहिये; यह सुषुप्ति-गत चेतना से भी परे है। अन्त में यह विशुद्ध आत्मसंवित्ति है, जो समस्त मानसिक और शारीरिक सीमाओं से परे है। हमें छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया गया है कि एक बार देवता और राक्षस दोनों को परम सत्य का स्वरूप जानने का कुतूहल हुआ और इसीलिये वे प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति का यह मत था कि "वह तत्व जो निष्पाप, अजर, अमर, अशोक, क्षुतपिपासा-रहित, अकाम तथा संकल्प-रहित है, उसे परम सत्य समझना चाहिये।" देवताओं और राक्षसों को यह जानने का कुतूहल हुआ कि यह आत्मा क्या है। अतः देवताओं ने इन्द्र को और राक्षसों ने विरोचन को अपना-अपना प्रतिनिधि बनाकर प्रजापति के पास परम सत्य का ज्ञान सम्पादन करने के लिये भेजा। पहले तो वे बत्तीस वर्ष तक शिष्य की भाँति रहते

रहे, जैसा कि नियम था। तब प्रजापति ने उनसे पूछा कि वे किसलिये वहाँ आये थे। इन्द्र और विरोचन ने उनसे कहा कि वे उनके पास इसलिये आये थे कि वे आत्मा के स्वरूप को पहचान सकें। प्रजापति ने उन्हें एक साथ परम सत्य नहीं बतला देना चाहते थे। पहले तो उन्होंने उन्हें इस प्रकार कह कर भ्रमाना चाहा कि आत्मा नेत्र, जल अथवा दर्पण में दिखलाई देने वाले प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उन्होंने कहा कि उसी को अमर और निर्भय ब्रह्म समझना चाहिये। इन्द्र और विरोचन को यह जानकर बड़ा आत्म-सन्तोष हुआ कि वे आत्मा के स्वरूप को समझ गये। उन्होंने अपने शरीर को स्वच्छ करके अत्यन्त सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित किया और एक जलाशय में जाकर अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे और यह समझने लगे कि उन्होंने परम सत्य का स्वरूप देख लिया, और अपने मन में पूर्ण सन्तुष्ट होकर गये। विरोचन ने जाकर राक्षसों से कहा कि उसे परम रहस्य की प्राप्ति हो गई है। उसने कहा कि यह जिसे आत्मा कहते हैं वह नेत्र, दर्पण अथवा जलाशय में दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं और इस प्रकार आत्मा को केवल शरीर के प्रतिबिम्ब से एक रूप कर दिया। उक्त उपनिषद् हमें बतलाती है कि किस प्रकार एक ऐसे प्रकार के लोग होते हैं, जो इसी सिद्धान्त को, जो असुर-सिद्धान्त कहलाता है, चरम सिद्धान्त मान लेते हैं। यहाँ उनकी ओर संकेत अवश्य है, जो परवर्ती चार्वाकों की भाँति यह मानते थे कि आत्मा शारीरिक चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विरोचन के विपरीत इन्द्र ने अपने मन में सोचा कि प्रजापति ने परम सत्य के विषय में उसे अन्तिम उत्तर नहीं दिया होगा। उसके सामने एक कठिनाई उपस्थित हुई। उसने सोचा कि "यह सत्य है कि जब शरीर समलंकृत होता है, तो आत्मा भी अलंकृत हो जाती है। जब शरीर भव्याम्बर भूषित होता है, तो आत्मा भी भव्याम्बर भूषित हो जाती है। जब शरीर स्वच्छ होता है, तो आत्मा भी स्वच्छ होती है, किन्तु जब शरीर पंगु, अन्ध अथवा अपाहज हो तो क्या आत्मा को भी पंगु, अन्ध और अपाहज मानना होगा?" उसने सोचा कि प्रजापति के द्वारा दिये गये ज्ञान के साथ एक यही बड़ी कठिनाई थी। अतः वह फिर प्रजापति के पास गया और उनसे एक बार फिर परम सत्य की प्रकृति बतलाने की विनय की। प्रजापति ने उसे पुनः बत्तीस वर्ष तपस्या करने की सम्मति दी। जब इन्द्र ने तपस्या पूर्ण करली तो प्रजापति ने उसे पुनः ज्ञानोपदेश दिया। प्रजापति ने कहा कि 'वास्तविक आत्मा वह है, जो स्वप्न में आनन्द-पूर्वक स्वच्छन्द विहार करती है। वही अमर और अभय ब्रह्म है। वस्तुतः प्रजापति ने उसे यह बतलाया कि स्वप्न-गत चेतना

को आत्मा से एक रूप समझना चाहिये।" इससे इन्द्र को सन्तोष हुआ और वह लौट कर चला गया। किन्तु देवताओं के पास पहुँचने के पूर्व ही उसको यह सन्देह हुआ कि प्रजापति द्वारा दिये गये ज्ञान के साथ एक और कठिनाई थी। उसने अपने आपसे पूछा कि "क्या हम स्वप्न में ऐसा अनुभव नहीं करते कि मानो कोई हमें मार रहा है अथवा कोई हमारा पीछा कर रहा है ? क्या हम स्वप्न में कष्ट का अनुभव नहीं करते अथवा आँसू नहीं गिराते ? यदि आत्मा स्वप्न-गत चेतना से एक रूप है, तो हम इस कठिनाई की व्याख्या किस प्रकार करेंगे। अतः वह फिर प्रजापति के पास लौट कर गया और उनसे कहा कि उन्होंने जो ज्ञान उसे प्रदान किया वह अन्तिम ज्ञान नहीं हो सकता, जहाँ तक स्वप्न-गत चेतना कष्ट और भय की भावनाओं से प्रभावनीय जान पड़ती है। वास्तविक आत्मा न कष्ट का अनुभव करती है और न भय का। प्रजापति ने देखा कि इन्द्र श्रेष्ठतर ज्ञान का अधिकारी शिष्य है। अतः उन्होंने उससे एक वार और वत्तीस वर्ष तक तपस्या करने को कहा, जिसके उपरान्त उन्होंने उसे दूसरा ज्ञानोपदेश दिया, किन्तु वह भी चरम ज्ञान नहीं था। उन्होंने कहा कि आत्मा का सत्य स्वरूप सुषुप्ति-गत चेतना से एक रूप है, जिसमें पूर्ण-शान्ति और पूर्ण-स्वस्थता होती है। इन्द्र प्रजापति के इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर चला गया। किन्तु देवताओं के यहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसको यह सन्देह हुआ कि आत्मा की सत्य प्रकृति सुषुप्ति-गत चेतना से भी एक रूप नहीं ठहराई जा सकती, इसका स्पष्ट कारण यह है कि सुषुप्ति-गत चेतना में हमें न अपना ज्ञान होता है और न वाह्य पदार्थों का। वस्तुतः हम सुषुप्ति-गत चेतना की अवस्था में मानो लकड़ी के लठ्ठों के समान हैं। उस समय हमें न अपना ज्ञान होता है और न वाह्य-जगत् का। प्रजापति के सिखाये हुये ज्ञान में इस बड़ी कठिनाई का अनुभव कर वह फिर लौट कर प्रजापति के पास गया और उनसे कहा कि वह उनके दिये हुये इस ज्ञान से सन्तुष्ट न हो सका कि आत्मा सुषुप्ति-गत चेतना है, क्योंकि, उसने कहा, कि उस अवस्था में हमें न आत्मचेतना ही होती है, और न वाह्य-जगत् का ज्ञान, और ऐसा प्रतीत होता है मानो उस अवस्था में आत्मा का पूर्ण नाश हो जाता है। इन्द्र ने कहा कि इसे चरम ज्ञान नहीं कहा जा सकता। प्रजापति ने देखा कि अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा इन्द्र श्रेष्ठतम ज्ञान का अधिकारी वन गया है। इस वार अस्तु, प्रतापति ने इन्द्र से अन्तिम वार पांच वर्ष तक तपस्या करने को कहा। इन्द्र ने पाँच वर्ष तक तपस्या की और इस प्रकार एक सौ एक वर्ष का तप पूर्ण किया। निश्चित अवधि के उपरान्त वह पूर्ण विनम्रता के साथ प्रजापति के पास गया और उनसे परम-

ज्ञान की अन्तर्दृष्टि प्रदान करने की प्रार्थना की। प्रजापति ने कहा कि "निस्संदेह इन्द्र, यह शरीर मृत्यु द्वारा विनश्य है; किन्तु यह शाश्वत आत्मा का बाह्यावरण मात्र है। जब आत्मा शरीर में आवद्ध होती है, तभी वह सुख और दुःख का अनुभव कर सकती है। एक वार शरीर से मुक्त होजाने पर फिर आत्मा के लिये किसी सुख दुःख की सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार वायु, मेघ, विद्युत, घन-गर्जन अदेह हैं, और स्वर्गीय आकाश से उठते हैं और अपने ही रूप में प्रकट होते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी इस नश्वर शरीर से उठती है, चरम-ज्योति तक पहुँचती है और तव अपने स्वरूप में प्रकट होती है। वह सम्प्रसाद आत्मा, जो अपने स्वरूप में प्रकट होती है, परम पुरुष है।" यहाँ पर परम सत्य की सत्य प्रकृति आत्मानुभूति है, इसकी ओर संकेत है। जो अपने से अपने को देखता है, जो परम-ज्ञान के प्रकाश में अपने को आत्म-रूप देखता है, उसी को परम सत्य मानना चाहिये। अतः छान्दोग्योपनिषद् के अनुकूल परम सत्य वह कल्पना-गम्य स्वयं-साक्षी, समाधि स्थिति है, जिसमें आत्मा को अपने अतिरिक्त और किसी की चेतना नहीं होती (मूल० ११)। इस कथा का भाव महान् है। चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के विश्लेषण द्वारा छान्दोग्योपनिषद्-कार ने यह लक्ष्य किया है कि केवल शारीरिक चेतना को ही परम सत्य समझ लेना भूल है। और न स्वप्नगत चेतना अथवा सुषुप्ति-गत चेतना परम सत्य है। आत्मा की प्रकृति विशुद्ध आत्मानुभूति है; जो कान्ट के "मैं आतमरूप हूँ (Ich bin Ich) की समानस्थिति है। जो परम आत्मा को शारीरिक चेतना से एक रूप मानते हैं वे भौतिकवादी हैं; जो इसे स्वप्नगत चेतना से एक रूप मानते हैं वे भौतिक वादियों से कुछ ऊँचे अवश्य हैं, पर वे भ्रान्ति-वश आत्मा को, जैसा कि आधुनिक थियोसोफिस्टों का मत है, तेजःपुरुष मानते हैं। दूसरी ओर जो आत्मा को सुषुप्तिगत चेतना से एक रूप समझते हैं, वे भी इसकी प्रकृति को समझने में भूल करते हैं, क्योंकि वस्तुतः इस अवस्था में हमें न आत्मा की चेतना होती है और न वाह्य जगत् की। वास्तविक आत्मा स्वसंवेद्य, स्वयं-प्रकाशी, केवल आत्म-चिन्तन-शील, अरिस्टोटिल की परम कल्पना पुरुष, तथा स्वयं चिरसाक्षी है।

१४. आत्मा की सत्ता का तत्त्ववाद-मूलक प्रमाण

यहाँ तक हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार छान्दोग्योपनिषद्-कार आत्मानुभूति के परम सत्य होने की कल्पना तक पहुँचता है। हम यह भी देख चुके हैं कि उपनिषद्-कार सामान्यतः ईश्वर को विशुद्ध आत्म-चेतना से एक-रूप समझते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्-कार हमें इस परम सत्य के कुछ लक्षण

प्रदान करता है, जो हमें उसके विवेचन को प्रायः सत्य का तत्ववाद-मूलक निरुपण मानने में सहायता देते हैं। उसका कथन है कि "ब्रह्म सत्य है, चैतन्य है, अनन्त है" (मूल० १२—क)। ब्रह्म के इस चैतन्य के साथ एकीकरण में हम एक वार फिर आत्मा की वास्तविक प्रकृति को पूर्ण प्रकाश में आया हुआ देखते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्-कार के लिये सत्ता का अर्थ चैतन्य है। इसी भाव की आवृत्ति ऐतरेयोपनिषद् में हुई है, जहाँ उपनिषद्-कार "स्वर्ग के देवता और पृथ्वी के प्राणियों, चाहे वे अंडज, जारुज, स्वेदज, उद्भिज, कोई चर, अचर, नभचर प्रत्येक वस्तु को अपनी दृष्टि में आत्म-चेतना बतलाता है। आत्म-चेतना उनका मूल है। आत्म-चेतना विश्व का नेत्र है। आत्म-चेतना ही ब्रह्म है (मूल० १२—ख)। यहाँ पर हम निश्चित रूप से तत्ववाद-मूलक विवेचना पाते हैं कि परम सत्य को आत्म-चेतना से एक रूप समझना चाहिये। इस प्रकार सत्य-समीक्षा की सभी पद्धतियों आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक के निरीक्षण से हम देखते हैं कि उपनिषद्-कार आत्म-चेतना के सुदृढ़ आधार पर सत्य की स्थापना करना चाहते हैं। आत्म-चेतना उनके लिये शाश्वत सत्य है। ईश्वर उनके लिये ईश्वर नहीं है, जब तक कि वह आत्म-चेतना से एक रूप नहीं है। सत्ता उनके लिये सत्ता नहीं है, यदि उसका अर्थ आत्म-चेतना नहीं है। सत्य-सत्य नहीं है, यदि वह अपने समस्त विधान में विशुद्ध आत्म-चेतना के चिह्नों की अभिव्यक्ति न करे। अस्तु, उपनिषद्-कारों के लिये आत्म-चेतना सत्ता का चरम अधिष्ठान है।

ई--आत्म-चेतना का महत्त्व

१५. आत्म-चेतना के प्रज्ञात्मक और तात्त्विक महत्त्व की रहस्यात्मक महत्त्व से तुलना

एक महान् प्रश्न, जो अब उपनिषदीय साधक के सामने उपस्थित होता है, यह है कि यदि आत्मचेतना परम सत्य है तो हमारे लिये उसकी अनुभूति किस प्रकार सम्भव है ? क्या केवल प्रज्ञा इस परम सत्य के दर्शन कराने में पर्याप्त है, अथवा प्रज्ञा से भी परे कोई और प्रक्रिया है जो आत्म-चेतना के दिव्य प्रासाद में हमारा प्रवेश कराने की शक्ति है ? उपनिषदों का उत्तर यह है कि केवल प्रज्ञा हमें आत्म-चेतना की अनुभूति प्रदान करने में समर्थ नहीं। विशुद्ध आत्म-चेतना केवल एक रहस्यात्मक अनुभूति की अवस्था में ही प्राप्त की जा सकती है। यहाँ हम यह विचार करने के लिये नहीं ठहरेंगे कि दिव्य

रहस्यात्मक-शक्ति, जिसे प्रतिभा कह सकते हैं, निखिल तत्व-ज्ञान प्रसवनी प्रज्ञा-शक्ति से श्रेष्ठतर है अथवा सांगतिक है अथवा प्रज्ञा-शक्ति के अन्तर्गत उसका अन्तर्भाव हो जाता है। यह एक विशाल समस्या उपस्थित करती है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ की क्षेत्रपरिधि के अन्तर्गत नहीं। अस्तु,हम इसका कुछ संक्षिप्त निरुपण "रहस्यवाद का दिग्दर्शन" नामक अपने अन्तिम अध्याय में करेंगे, जहाँ हम यह विचार करेंगे कि रहस्यात्मक अनुभूति के द्वारा आत्म-चेतना का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होता है। वहाँ हमारा उत्तर स्पष्टरूप से अतीन्द्रिय तथा प्रज्ञातीत होगा। प्रतिभा, जैसा हम देखेंगे, ऐन्द्रिक ज्ञान अथवा प्रज्ञात्मक ज्ञान से श्रेष्ठतर है। इस स्थान पर हमारा सम्बन्ध विशुद्ध आत्म-चेतना के केवल दार्शनिक पक्ष से है, जिसे हम प्रज्ञात्मक अथवा तात्विक दोनों विभिन्न दृष्टियों से देख सकते हैं। पहले हम यह विचार करेंगे कि उपनिषदों के अनुकूल आत्म-चेतना का प्रज्ञात्मक पक्ष क्या है, और फिर रहस्यात्मक पक्ष को अगले अध्याय के लिये छोड़कर, आत्म-चेतना के पूर्णतात्विक महत्व के निरुपण से इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

१६. आत्म-चेतना का ज्ञान-पक्ष

उपनिषदों के विविध अवतरणों में यह बतलाया गया है कि ज्ञानशास्त्र की दृष्टि से 'ज्ञान' के विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में हम आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते। पश्चिमीय दर्शन के पाठकों को विदित होगा कि जर्मन कान्ट भी ईश्वरमय तथा आत्मामय सत्य को पारिभाषिक दृष्टि से अज्ञेय मानता था। उसका कथन था कि ये श्रद्धा के विषय हैं। उपनिषदों का उत्तर यह है कि यह सत्य है कि ईश्वर और आत्मा अज्ञेय हैं, किन्तु वे केवल श्रद्धा के विषय नहीं; वे रहस्यानुभूति के विषय हैं। पुनः उपनिषद् आत्मा को अज्ञेय-वादियों के अर्थ में अज्ञेय नहीं समझतीं, उदाहरण के लिये उस अर्थ में जिस अर्थ में स्पेन्सर (Spencer) ने इसका ग्रहण किया है; वरन् उनके लिये दार्शनिक विनम्रता की दृष्टि से आत्मा अज्ञेय है।

(क) उपनिषद्-कारों का मत है कि आत्मा अपने मूल स्वरूप से अज्ञेय है। "उसके पूर्णरूप का निरुपण करने में असमर्थ होने के कारण हमारे मन और वाणी जिससे लौट आते हैं, वही परम सत्य है," यह तैत्तिरीयो-पनिषद् का कथन है। केनोपनिषद् का मत है कि "जो नेत्र, दृष्टि, वाणी, और मन से अगम्य है, उसके स्वरूप और प्रकृति की हम इससे अधिक और क्या कल्पना कर सकते हैं कि वह ज्ञात और अज्ञात से परे है।" उपनिषद्-कार

रोमन तत्व-वेत्ता ऑगस्टस (Augustus) की भाँति कहता है कि जो यह समझता है कि वह जानता है, वह वस्तुतः नहीं जानता; और जो यह समझता है कि वह नहीं जानता वह वस्तुतः जानता है।[1] कठोपनिषद् उसी स्वर में कहती है कि "आत्मा प्रथम तो मनुष्य की श्रवण शक्ति के लिये गम्य नहीं, किन्तु बहुत से उसे सुन लेने के उपरान्त भी उसे जानने में असमर्थ हैं। यदि कहीं मिल भी सके तो ऐसा मनुष्य दुर्लभ है, जो आत्मा के विषय में कुछ कह सकने में समर्थ हो, ऐसा मनुष्य भी वस्तुतः दुर्लभ है, जो गुरु के निर्देशानुकूल उसको ग्रहण कर सके" (मूल० १३—क)। इस प्रकार इन समस्त अवतरणों में हम देखते हैं कि किस प्रकार आत्मा अपने मूल स्वरूप में अज्ञेय मानी गई है।

(ख) अस्तु, आत्मा की अज्ञेयता के विषय का एक और भी पक्ष है। आत्मा अज्ञेय है, क्योंकि वह निखिल सृष्ट पदार्थों की सनातन ज्ञाता है। उपनिषद् अनेक स्थानों पर यही प्रश्न करती है कि सनातन ज्ञाता किस प्रकार ज्ञान का विषय हो सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि "आत्मा महान् सत्ता है, जो समस्त अज्ञेय विषयों को जानती है; जो स्वयं ज्ञाता है, उसे कौन जान सकता है?" बृहदारण्यकोपनिषद् के अनेक अवतरणों में हम याज्ञवल्क्य ऋषि की बड़ी साहसिक कल्पनायें पाते हैं। "जिसके द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान सम्पादित किया जाता है, वह स्वयं कैसे जाना जा सकता है। ज्ञाता को जान सकना असम्भव है।" "हमारे लिये दृष्टा को देख सकना, श्रोता को श्रवण कर सकना, मन्ता को मनन कर सकना, उसे जान सकना जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु जानी जाती है, किस प्रकार सम्भव हो सकता है?" "आत्मा अदृश्य होते हुये भी सनातन दृष्टा है; अश्रव्य होते हुये भी सनातन श्रोता है; वह अविचार्य होते हुये भी एक मात्र विचारक है; अज्ञात होते हुये भी सनातन ज्ञाता है; उससे परे कोई दृष्टा नहीं; उससे परे कोई श्रोता नहीं; उससे परे कोई मन्ता नहीं; उससे परे कोई ज्ञाता नहीं" (मूल० १३—ख)। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा की अज्ञेयता के प्रश्न का एक और पक्ष भी है कि वह अज्ञेय है, क्योंकि वह सनातन ज्ञाता है; और अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

(ग) किन्तु यह प्रसंग एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है। आत्मा निखिल सृष्ट पदार्थों का सनातन ज्ञाता है, यह स्वीकार कर लेने पर भी, तथा यह स्वीकार कर लेने पर भी कि उससे परे उसका और कोई ज्ञाता नहीं

1. Cognoscendo ignoraniot ignorando cognosci.

है, क्या ज्ञाता को अपने आपको जान सकना सम्भव होगा ? यह सूक्ष्म प्रश्न याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् के एक अन्य अवतरण में उठाया है और यहाँ फिर हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य इस प्रश्न पर कितना तीव्र सुन्दर प्रकाश डालते हैं। उनका कथन है कि ज्ञाता के लिये अपने आपको जान सकना सम्भव है। वस्तुतः आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-चेतना ही सत्ता का अन्तिम अधिष्ठान है। आत्मा अपने लिये ज्ञान का विषय हो सकती है। याज्ञवल्क्य के दर्शन के अनुकूल यदि आत्मज्ञान सम्भव नहीं तो सब कुछ असम्भव है। आत्म-ज्ञान सत्ता का चरमसत्य है। हम देखते हैं कि यहाँ याज्ञवल्क्य कितनी दृढ़ता के के साथ आत्म-निरीक्षण और आत्मज्ञान को चरम अनुभव-जन्य सत्य मानते हैं। जब कान्ट (Kant) और कौंटा (Comte) आत्म-निरीक्षण को असम्भव बतलाते हैं; तो हम उनके सिद्धान्तों की नग्न निराधारता को देखते हैं। आत्म-निरीक्षण आत्म-चेतना के तात्त्विक सत्य की सांगतिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। आत्म-ज्ञान आत्म-निरीक्षण द्वारा ही सम्भव है। आत्मा में आत्म-विश्लेषण की अपूर्व शक्ति है। ज्ञान के ऐन्द्रिक साधन आत्मा के साथ लागू नहीं होते। आत्मा अपने को ज्ञाता और ज्ञेय में विभाजित कर सकती है। यह आश्चर्य-जनक है कि कान्ट ने किस "मैं 'अहम्' हूँ" (Ich bin Ich) के परम-श्रेष्ठ तात्विक उपादान होने का समर्थन करते हुये भी, जिसे वह अतीन्द्रिय, मौलिक तथा विविध ऐन्द्रिक संस्कारों का समन्वय मानता था, उसकी सांगतिक मनोवैज्ञानिक प्रकिया आत्म-निरीक्षण का निषेध किया। याज्ञवल्क्य का उत्तर यह है कि आत्म-ज्ञान सम्भव है; सम्भव ही नहीं, वरन् केवल सत्य है। याज्ञवल्क्य से राजा जनक ने पूछा कि मनुष्य की ज्योति क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने पहले उत्तर दिया कि "मनुष्य की ज्योति सूर्य है। यह सूर्य के ही कारण है कि मनुष्य बैठने, विचारने, कार्य करने और लौटने की शक्ति रखता है।" राजा जनक ने कहा "जब सूर्य छिप जाता है, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर किया कि "तब मनुष्य की ज्योति चंद्रमा है; क्योंकि चन्द्रमा की ज्योति के कारण ही मनुष्य बैठ सकता है, विचार सकता है तथा लौट सकता है।" राजा जनक ने कहा कि "जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों अस्त हो जाते हैं, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा कि "निश्चय ही तब मनुष्य की ज्योति अग्नि है क्योंकि अग्नि के प्रकाश के कारण ही मनुष्य बैठ सकता है, विचर सकता है, काम कर सकता हैं और लौट सकता है।" जनक ने कहा कि "जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है और अग्नि बुझ जाती है, तब मनुष्य की ज्योति क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा कि "अब आप मुझे गहनतम प्रश्न की ओर ले

जा रहे हैं। जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है, जब अग्नि बुझ जाती है, तब आत्मा ही एक मात्र ज्योति है" (मूल० १३—ग)। यहाँ पर याज्ञवल्क्य उसी का समर्थन कर रहे हैं जिसे अरिस्टोटिल ने 'थियोरिया' (Theoria) अथवा आत्म-चिन्तन की प्रक्रिया कहा है, जिसमें रहस्यमय रूप से आत्मा ही स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है।

१७. आत्म-चेतना का तात्त्विक पक्ष

हम उपनिषदों में विशुद्ध आत्म-चेतना की कल्पना का प्रज्ञात्मक महत्व देख चुके हैं। हम देख चुके हैं कि आत्मा अपने मूल रूप में तथा ज्ञान का विषय न हो सकने के कारण अज्ञेय मानी गई है। हम यह भी देख चुके हैं कि वह आत्म-विश्लेषण द्वारा अपने को ज्ञाता और ज्ञेय दोनों बना सकती है। अब हमारे लिये आत्म-चेतना की कल्पना के तात्त्विक महत्व का विवेचन शेष रह जाता है। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार समस्त दार्शनिक विचार-क्षेत्र तत्व-ज्ञानियों के विरोधों के कारण टुकड़े-टुकड़े हो गया है। कुछ आत्मा को ब्रह्म से एकान्त भिन्न मानते थे, कुछ उसे ब्रह्म का अन्त मानते थे, कुछ आत्मा और ब्रह्म को एकान्त अभिन्न मानते थे। ये क्रमशः द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत तीन प्रधान तात्विक सम्प्रदायों की मूल स्थितियाँ हैं। समस्त विचार-जगत् के इतिहास में किसी देश ने सम्भवतः भारत के जितना कठोर और काल-व्यापी दार्शनिक विरोध न देखा होगा। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस कठिनाई से बाहर निकलने का कोई मार्ग है? यह किस प्रकार हो सका कि इन भिन्न-भिन्न तात्विक सम्प्रदायों में से प्रत्येक उन्हीं उपनिषदों की व्याख्या अपने तत्व-सिद्धान्तों के पक्ष में करता है? क्या हम यह नहीं कहेंगे कि उपनिषद् भाष्यकारों से श्रेष्ठ हैं? क्या उपनिषदों में कोई सामान्य तात्विक सिद्धान्त नहीं, जिसका इन सम्प्रदायों ने एक पक्ष-भर देखा है? क्या उस सर्वश्रेष्ठ भारतीय तत्ववेत्ता शंकर का यह कथन कि सम्प्रदायों में परस्पर विरोध हो सकता है, किन्तु दर्शन सम्प्रदायों से परे है, व्यर्थ समझना चाहिये? क्या हम इन भिन्न विरोधी सम्प्रदायों के सन्धि-विधान की कोई परम कुंजिका नहीं खोज सकते? हमें समस्त साम्प्रदायिक व्याख्याओं को भुलाकर निर्विकार अन्तःकरण से उपनिषदों के ही निकट जाना चाहिये। हमें अपने मन को एक कोरी अलिखित पाटी (Tabula rasa) के समान स्वच्छ और निर्मल बनाना चाहिये, जिस पर साम्प्रदायिक रुढ़ियों का कोई भी विघातक चिह्न न हो, और हम देखेंगे कि उन दार्शनिक विरोधों की भ्रामक भूलभूलैयों से बाहर निकलने का भी

मार्ग है। यह सत्य है कि यदि किसी प्रकार सम्भव है तो इन भिन्न सम्प्रदायों का सन्धि-विधान केवल रहस्यवाद द्वारा हो सकता है। केवल रहस्यवाद में ही प्रत्येक सिद्धान्त अपने निश्चित स्थान और धरातल पर आ सकता है। किन्तु मूल उपनिषदों के निकट पहुँचकर उनके मन्त्रों को दार्शनिक विकास क्रमानुकूल, श्रेणी-बद्ध व्यवस्थित करके इस प्रश्न के दार्शनिक दृष्टि से निरीक्षण द्वारा, अन्त में विरोधी पक्षों के अन्तर्गत सन्धि-विधान के मार्ग का अवलोकन युक्ति-संगत जान पड़ता है।

१८. आत्मानुभव की सोपान

हम उपनिषदों में विकसित आध्यात्मिक विविध स्थितियों को दार्शनिक व्याख्या द्वारा पाँच विकास-शील सिद्धान्तों की श्रेणी में रख सकते हैं। हम उन्हें पाँच ऊर्ध्व-गामी सोपानों की आध्यात्मिक-सोपान-पंक्ति मान सकते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुकूल आध्यात्मिक अनुभव की प्रथम सोपान आत्मज्ञान अथवा अपने को आत्मा से भिन्न मानकर रहस्यात्मक विधि द्वारा आत्मा के दिव्य तेज का अनुभव है (मूल० १४—क)। अब दूसरी सोपान आती है। वृहदारण्यकोपनिषद् एक अन्य अवतरण में हमें बतलाती है कि हमारे अन्तस् में अपने को "मैं" कहने वाले पुरुष को यावदनुभूत आत्मा से अभिन्न मानना चाहिये। हमें यह अनुभव करना चाहिये कि हम स्वयं आत्मा ही हैं। हम शारीरिक, ऐन्द्रिक, प्रज्ञात्मक अथवा भावात्मक कोश नहीं हैं। अपने मूल रूप में हम विशुद्ध आत्मा से अभिन्न हैं। यह दूसरी सोपान है (मूल० १४—ख)। आध्यात्मिक अनुभव की तीसरी सोपान पर वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुकूल हमें यह अनुभव करना चाहिये कि हमारी आत्मानुभूत आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। ईशोपनिषद् के शान्ति मन्त्र में तथा उसकी सहयोगिनी अन्य उपनिषदों में, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि आत्मा को ब्रह्म ही मानना चाहिये, आत्मा का स्वरूप भी ब्रह्म की भाँति अनन्त है, आत्मा ब्रह्म से ही अपनी सत्ता ग्रहण करती है, ब्रह्म की अनन्तता में से आत्मा की अनन्तता घटा देने पर भी शेष अनन्त ही होता है; वहाँ आत्मा और ब्रह्म, जीवात्मा और विश्वात्मा की तद्रूपता की घोषणा की गई है। इस प्रकार वह शान्ति-मन्त्र अनन्त पर अनन्त का ढ़ेर लगाता जाता है और गणित के प्रमेय का आधार ग्रहण कर यह बतलाता है कि मानो ब्रह्म के पूर्ण में से पूर्ण आत्मा अथवा अनन्त में से अनन्त घटा देने पर शेष पूर्ण अथवा अनन्त ही रहता है। इस विधान का अन्तर्भाव यह है कि हमें यह समझना चाहिये कि आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। यह

तीसरी सोपान है (मूल० १४–ग)। अब चौथी सोपान आती है। यदि दूसरी सोपान के अनुकूल हमारे अन्तस् में "मैं" कहने वाला पुरुष आत्मा है और यदि तीसरे विधान के अनुकूल यह आत्मा ब्रह्म से तद्रूप है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यदि "मैं" आत्मा है, और आत्मा ब्रह्म है, तो तर्क-संगति से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "मैं" ब्रह्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् के एक अवतरण में निश्चित रूप से इसका प्रतिपादन किया गया है, जहाँ हमें बतलाया गया है कि हमें "अहम्" को ब्रह्म से अभिन्न समझना चाहिये। इसी सिद्धान्त के एक दूसरे पक्ष छान्दोग्योपनिषद् में प्रकाश डाला गया है, जहाँ "त्वम्" भी ब्रह्म से विनिर्गत होने के कारण उससे अभिन्न माना गया है। यह चौथी सोपान है (मूल० १४–घ)। यदि अब 'अहम्' ब्रह्म है और यदि 'त्वम्' भी समान रूप से ब्रह्म है, अर्थात् दूसरे शब्दों में उद्देश्य और विधेय, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ब्रह्म हैं, तो इससे वही परिणाम निकलता है कि प्रत्येक वस्तु जो हम संसार में देखते हैं—मन और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा, समान रूप से ब्रह्म है। जो कुछ हमारे ज्ञान की परिधि के अन्तर्गत है, तथा हम जो कुछ हैं, दोनों समान रूप से ब्रह्म की पूर्णता के उपादान हैं। छान्दोग्योपनिषद् के अनुकूल वस्तुतः ब्रह्म ही 'सर्वस्व' है—सर्वं खल्विदं ब्रह्मः (मूल० १४–ङ)। यह दार्शनिक सोपान पंक्ति तत्वज्ञान की सोपानों द्वारा इतने उच्च आध्यात्मिक शिखर पर ले जाती है। यह पूर्ण अद्वैत की स्थिति है। यह अद्वैत की स्थिति प्रज्ञा-गम्य है, अथवा रहस्यानुभूति-गम्य है, इसका निर्णय इस पर निर्भर है कि हमारी प्रकृति की नियति इस आध्यात्मिक यात्रा-पथ पर केवल प्रकाश-वाहक होना अथवा आत्म-ज्ञानी होना है। हमारे लिए दूसरे विकल्प को ग्रहण करना श्रेयस्कर है। यह हमारे अन्तिम अध्याय "रहस्यवाद का दिग्दर्शन" से स्पष्ट हो जायगा।

६

नीति-शास्त्र

१. वेदान्त, नीति और रहस्यवाद

पिछले अध्याय में उपनिषदों की केन्द्रीय तात्विक स्थिति के विवेचन के बाद तथा यह संलक्षित कर देने के बाद कि वह स्थिति प्रज्ञा-पथ की अपेक्षा रहस्यवाद के मार्ग से अधिक निकट है, उपनिषदों के नीति-विषयक प्रश्नों का समीक्षण अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि यह एक ओर उनके वेदान्त तथा दूसरी ओर उनके रहस्यवाद से सम्बद्ध है। वेदान्त और नीति के सम्बन्ध का प्रश्न अत्यन्त प्राचीनकाल से बड़ा ही विवादास्पद प्रश्न रहा है। और न नीति और रहस्यवाद के सम्बन्ध का प्रश्न ही कुछ कम महत्वपूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार यह निश्चित करना कठिन है कि मनुष्य के सर्वांगीण मानसिक विकास की विवेचना में वेदान्त और नीति दोनों में किसे प्रथम स्थान मिलना चाहिये, उसी प्रकार यह निश्चित करना भी उतना ही कठिन है कि मनुष्य के मानसिक विकास में नीति और रहस्य-वाद दोनों में किसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। यदि हम मनुष्य के सर्वांगीण मानसिक विकास के पूर्ण क्षेत्र पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य की परम मानसिक उन्नति के लिये प्रज्ञात्मक तत्व को नैतिक तत्व से और नैतिक तत्व को रहस्यात्मक तत्व से पृथक् करना एकान्त असम्भव है। प्रज्ञा बिना किसी नैतिक आधार के बुद्धि-वैदग्ध्य के कुशलतम रूपों में पतित हो सकती है और एक नीति-हीन रहस्यवादी, यदि ऐसा व्यक्ति सम्भव है, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में कलंक रूप केवल एक भयंकर जीव होगा। और पुनः जिस प्रकार नीति पूर्णतः तर्क-संगत होने के लिये दृढ़तापूर्वक बुद्धि से सम्बद्ध होनी चाहिये उसी प्रकार नीति को अपने परिपूर्ण पर्यवसान के लिये अध्यात्म-प्रवण होना चाहिये, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य और अन्तिम

ध्येय है। संक्षेपतः वेदान्त, नीति और रहस्यवाद मनुष्य के परम आध्यात्मिक विकास के पक्ष में इसी प्रकार पृथक्-पृथक् नहीं किये जा सकते, जिस प्रकार उसके परम मानसिक विकास के लिये बुद्धि, संकल्प और भावना को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। अस्तु, उनकी वेदान्तिक स्थिति तथा चरम रहस्यात्मक अनुभूति की संयोजक शृङ्खला की दृष्टि से उपनिषदों के नीति-विषयक प्रश्न पर विचार करने के लिये कुछ देर ठहर जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

२. अध्याय की रूप-रेखा

यह विचार करना बड़ा मनोरंजक है कि उस समय जब कि अन्य देशों में नैतिक चिन्तन अपने अबोध शैशव में ही खेल रहा था, उपनिषदों में हम प्रायः सभी महत्वपूर्ण नैतिक प्रश्नों का यथेष्ट विवेचन पाते हैं। कुछ प्रश्नों के विवेचनों से तो आज के नीति-शास्त्र के विद्वान् भी लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि उपनिषद्-कारों के वे विवेचन आत्मानुभव के शाश्वत् सत्यों पर अव-लम्बित हैं। यह सत्य है कि उपनिषदों में हमें नैतिक आदर्शवाद से पृथक् नीति-प्रामाण्यवाद का अधिक परिपूर्ण विवेचन नहीं मिलता; क्योंकि जहाँ नैतिक आदर्शवाद में मानव-जीवन के मोटे-मोटे प्रश्नों का विवेचन करना है, वहाँ नीति-प्रामाण्यवाद की समीक्षा के लिये अपेक्षाकृत सूक्ष्म विचार की आव-श्यकता है। प्रस्तुत अध्याय के विकास पथ में हम पहले उपनिषदों में प्राप्य नैतिक प्रामाण्यवाद के प्रारम्भिक तत्वों का विवेचन करेंगे और इन सिद्धान्तों की सीमाओं पर विचार करने के बाद हम नैतिक आदर्श के सिद्धान्तों की समीक्षा की ओर बढ़ेंगे। नैतिक आदर्श के सिद्धान्तों में कम से कम दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—आनन्दवाद और अध्यात्मवाद। इन सिद्धान्तों पर विचार करने के बाद हम आगे चलकर उपनिषदों की व्यावहारिक नीति का विवेचन करेंगे और इस प्रकार सत्य गुण का विशेष ध्यान रखते हुये, भिन्न-भिन्न उपनिषदों में परिगणित गुण-सूचियों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करेंगे। यह असन्दिग्ध सत्य है कि नीति के व्यावहारिक पक्ष के विवेचन में उपनिषद्-काल से उत्तर-उपनिषदीय युग अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ वेदान्तिक पक्ष हल्का हो जाने के कारण व्यावहारिक आचार-पक्ष प्रबल हो गया। फिर उपनिषदों में संकल्प-स्वातन्त्र्य के प्रश्न के संक्षिप्त विवेचन के बाद हम उपनिषदीय ऋषियों और स्टोइक (Stoic) तथा ईसाई सन्तों (Saints) के अन्तर पर प्रकाश डालते हुये, उपनिषदीय ऋषि के आदर्श के संक्षिप्त चित्रण के साथ इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

अ--नीति-प्रामाण्यवाद

३. परायत्तवाद

उपनिषदों में नीति-प्रामाण्यवाद के सिद्धान्तों की ओर आते हुये, हमें प्रारम्भ में ही यह ध्यान रखना चाहिये कि मनुष्य के शैशव की भाँति जाति के शैशव में भी परायत्तवाद नैतिक आचार का प्रथम नियामक सिद्धान्त रहा है। ऐसी अवस्था में दूसरों के आचार का प्रसंग ही प्रमाण रहता है। हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ नैतिक अवस्था वाले हमारे नैतिक आचार के नियामक रहते हैं। अरिस्टोटिल का यह विचार अकारण नहीं था कि जब अज्ञान के कारण मनुष्य अपने लिये नैतिक पथ का निर्णय करने में समर्थ न हो तो उसे संस्कृत आचार वाले मनुष्य की सम्मति को नैतिक प्रमाण मानना चाहिये। तैत्तिरीयोपनिषद् में एक प्रसिद्ध अवतरण है जिसमें एक शिष्य को यह उपदेश दिया गया है कि "उसे अपने धर्म-गुरु के केवल सदाचरणों का अनुकरण करना चाहिये, और भी अधिक कल्याण के लिये उसे अपने गुरु से श्रेष्ठ आचरण वालों के सत्कर्मों का अनुशीलन करना चाहिये, यदि कभी उसे किसी विशेष धर्म अथवा आचार की निकटतम प्रकृति की जिज्ञासा हो तो उसे केवल एक सिद्धान्त का पालन करना चाहिये कि "दक्ष, विचारशील, सौम्य तथा धर्मनिष्ठ ब्राह्मण उस स्थिति में किस प्रकार का आचरण करते हैं (मूल० १)।" इस अवतरण में स्पष्ट-रूप से यह सिद्धान्त अभिप्रेत है कि हमें सर्वदा अपने आचरण का निर्माण उन्हीं के आचरण के आदर्श पर करना चाहिये जो हमसे श्रेष्ठ हैं तथा अपने आदर्श द्वारा हमें आचारनियम प्रदान करने की स्थिति में हैं। लोकमत अथवा राष्ट्रमत परायत्तवाद के प्रकृति-निरुपण के लिये अनिश्चित उपादान हैं। लोक तथा राष्ट्र के लिये हमारे लिये एक सामान्य नैतिक आचार सिद्धान्त प्रदान करना सर्वदा सम्भव नहीं। दूसरे यदि हम तनिक गम्भीर दृष्टि से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि लोकमत और राष्ट्रमत स्वयं महापुरुषों के आचार-सिद्धान्तों पर अवलम्बित होते हैं। लोक और राष्ट्र की भाँति नीति-जगत् में भी एक प्रकार का अल्पजनसत्तात्मक राज्य-तन्त्र है। और तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार नैतिक राज्य-तन्त्र का प्रमाण ही हमारे लिये आचार का आदर्श होना चाहिये।

४. ईश्वरायत्तवाद

ईश्वरायत्तता भी एक प्रकार की परायत्तता ही है क्योंकि समुचित

नैतिक दृष्टिकोण से 'ईश्वर' भी 'पर' ही है। किन्तु ईश्वरायत्तता को परायत्तता से पृथक् मानना ही अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि ईश्वरीय नियम की कोटि मानवीय-नियम से भिन्न है। जब तक नैतिक आचार से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक परिस्थिति विशेष में ईश्वर की इच्छा को जान सकना सम्भव न हो, जब तक कम से कम ईश्वरीय इच्छा के सामान्य नियमों को समझ सकना सम्भव न हो—यदि हम इनको आत्मा के आदेश से एक रूप न समझें, जो हमारे हृदय में सन्निहित दिव्य अन्तर्दीप है—तब तक विविध धर्मों के विषय में अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानकर अथवा अन्य धर्मों के स्थान पर विस्तृत रूप से ईश्वरीय नियम का निरुपण अधिक सम्भव प्रतीत नहीं होता। किन्तु जिन समाजों में एक पृथक् सत्ता के रूप में ईश्वरीय भय का एक अस्फुट संस्कार है, उनमें अन्ततः ईश्वरीय कहलाने वाली नियति डेमॉक्लीज़ (Democles) की तलवार की भाँति नैतिक कार्य के कर्त्ता के ऊपर लटकती रहती है, और ईश्वरीय प्रेम के स्थान पर ईश्वरीय भय नैतिक जीवन का नियन्ता बन जाता है। इसी स्थिति को लक्ष्य करके कठोपनिषद्-कार ने कहा था कि "ईश्वर हमारे शीश पर गरजने वाला महाभयंकर वज्र है, जिसे जानने पर ही मनुष्य अमर हो सकता है; क्योंकि क्या यह उसके भय के कारण नहीं है कि आग जलती है, सूर्य प्रकाशित होता है, देवेन्द्र, वायु और पाँचवीं मृत्यु अपने-अपने व्यापारों में संलग्न हैं?" इसी भाव का एक अवतरण तैत्तिरीयोपनिषद् में भी है, जो थोड़े से परिवर्तन के साथ कठोपनिषद् के ही अवतरण की आवृत्ति कर देता है (मूल० २)। ईश्वरीय नियम के पक्ष में सब कुछ कह चुकने के बाद नैतिक कर्म की अन्तः प्रकृति का विचारपूर्ण विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो सकता है कि आत्मा-प्रेरित नियम के अतिरिक्त और किसी का नियम मानव-धर्म की नैतिक कोटि का पर्याप्त प्रमाण नहीं माना जा सकता।

५. स्वायत्तता

इस प्रकार नीतिकार स्वायत्तता की कल्पना तक पहुँच सके जो नैतिक आचार का वास्तविक नियम है। हमारे नैतिक आचरण के लिये लोक, राष्ट्र और ईश्वर कोई भी मूल-नियम प्रदान नहीं कर सकता। इसका उद्भव पूर्णतः हमारे अन्तःकरण से होना चाहिये। हम यह नहीं कह सकते कि उपनिषद्-कारों ने इस नैतिक नियम पर विचार किया था, जब तक हम छान्दोग्योपनिषद् के उस अवतरण को न देखें, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि मन को ही चरम सत्य मानकर उसी का चिन्तन करना चाहिये (मूल० ३-क)। अथवा

उसी उपनिषद् के एक दूसरे अवतरण तक न आजायँ, जहाँ हमें मन को वस्तुतः आत्मा तथा परम सत्य मानने का आदेश दिया गया है। हिन्दू नीति-शास्त्र के एक आधुनिक विद्वान का मत है कि इन अवतरणों में अन्तःप्रेरणा-वाद (Intuitionism) अभिप्रेत है। यह सरलता पूर्वक समझा जा सकता है कि, क्योंकि यहाँ मन को परम सत्य से एक रूप माना गया है, आत्मा को नहीं, जिसका उल्लेख मन से पृथक् किया गया है, हम यही कह सकते हैं कि कि उक्त अवतरण में स्वायत्तता-मूलक श्रेष्ठ अन्तःप्रेरणावाद के स्थान पर गौण अन्तःप्रेरणावाद ही अभिप्रेत है। यूरोपियन नीतियों में भी ऐसे उदाह-रणों का अभाव नहीं है जहाँ सौन्दर्य भावना मूलक (Aesthetic) अथवा सहानुभूति-मूलक (Sympathetic) अन्तः प्रेरणावाद ने स्वायत्ता-मूलक श्रेष्ट तर अन्तःप्रेरणावाद का पथ प्रशस्त किया है। हिन्दू नीति शास्त्र में भगवद्-गीता के समय तक स्वायत्तता की प्रकृति का महत्व स्पष्ट रूप से नहीं समझा गया था तथा अपनी समस्त कान्टीय (Kantian) स्पष्टता के साथ एकान्त आदेशात्मक कर्तव्य (Categorical imperative of duty) का दृढ़ता-पूर्वक प्रतिपादन नहीं हुआ था। अस्तु, सामान्यतया हम उपनिषदीय नीति-शास्त्र को नैतिक आचार के आधार-भूत सिद्धान्त स्वायत्तवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से अभाव पूर्ण पाते हैं।

आ-नैतिक आदर्शवाद

६. सुखविरोधवाद

नैतिक आदर्श के सिद्धान्तों के विवेचन तक आने पर ही हम उपनिषद्-कारों की प्रतिभा को पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित पाते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि नैतिक आदर्श के सिद्धान्तों का निरुपण इतना सूक्ष्म कार्य नहीं जितना कि नीति-प्रामाण्यवाद के सिद्धान्तों का निरूपण, जो अपनी प्रकृति से ही बहुत सूक्ष्म है। उपनिषद् वाङ्मय में जिस प्रकार तत्वज्ञान के विषय में अनेक सिद्धान्त हैं, जिन्हें हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, उसी प्रकार नैतिक आदर्श के विषय में भी अनेक सिद्धान्त हैं। प्रथमतः हम कठोपनिषद्-कार द्वारा प्रति-पादित एक पूर्णतः सुखविरोधवाद का सिद्धान्त देखते हैं। वहाँ हमें बतलाया गया कि "लोक में दो मार्ग हैं—एक श्रेयस-मार्ग, दूसरा प्रेयस मार्ग, ये दोनों विभिन्न मार्ग मनुष्य को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते रहते हैं। इनमें से हमें श्रेयस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जो श्रेयस मार्ग का

अनुसरण करता है, उसे अन्त में अपनी लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त होती है, तथा जो प्रेयस मार्ग का अनुसरण करता है वह अपने उद्दिष्ट ध्येय को खो देता है। जब श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, तो, यदि वह विचार-शील होता है, वह अपने चतुर्दिक देखकर उनमें से एक को चुनता है। बुद्धिमान मनुष्य प्रेयस मार्ग के सामने श्रेयस मार्ग को चुनता है तथा मूर्ख श्रेयस के सामने प्रेयस को चुनता है" (मूल० ४-क)। कठोपनिषद् के इन दो श्लोकों में हम उपनिषदीय युग में भी अनुभूत श्रेय और प्रेय के विरोध की सम्यक् अभिव्यक्ति पाते हैं। यह कौन न कहेगा कि मनुष्य को अपनी-अपनी ओर खींचते हुये श्रेय और प्रेय की कठोपनिषदीय कल्पना हमें ज़ेनोफ़न (Xenophon) में हर्क्यूलीज़ (Hercules) के निर्णय की कथा का स्मरण दिलाती है। प्रेय और सुकृति अपने विविध सम्मोहनों के साथ दो कुमारियों के रूप में हर्क्यूलीज़ के सामने उपस्थित हुये; और हर्क्यूलीज़ ने उनमें से सुकृति को चुन लिया। जो स्थिति हर्क्यूलीज़ की है वही नचिकेतस की भी है। यद्यपि यम नचिकेतस को सुख और वैभव के जीवन का उपहार देकर उसे विचलित करना चाहता है, किन्तु नचिकेतस यम के द्वारा प्रसारित जाल में नहीं फँसना चाहता (मूल० ४–ख), और वहाँ वह यह प्रमाणित कर देता है कि वह सामान्य पुरुषों की भाँति नहीं है, जो विलास और वैभव के पथ को हृदय से स्वीकार कर लेते हैं और अन्त में भ्रान्ति-भंग होने पर अपने चयन के प्रमाद का अनुभव करते हैं। नचिकेतस दृढ़ सुख निरपेक्षवादी है, अतः सुखमय जीवन का मोह उसे उसके सिद्धान्त से विचलित नहीं कर सकता।

७. निराशावाद

यह सम्भाव्य है कि यह सुखनिरपेक्षवाद पतित होकर परम निराशावाद के स्वरूप में परिणत हो गया। कुछ उपनिषदों के साथ यही होता है। कठोपनिषद् एक नैराश्यपूर्ण स्वर में हमसे पूछती है: "एक बार अजर और अमर जीवन के शाश्वत् आनन्द का अनुभव कर लेने के बाद कौन क्षय-शील मनुष्य सौन्दर्य और वासना (प्रेम) के क्षणिक सुखों के चिन्तन में आनन्द पा सकेगा?" यही प्रायः शौपेनहावर (Schopenhauer) का आदर्श है, जो यह कहता था कि "मनुष्य के लिये सबसे अच्छी बात तो यही हो सकती थी कि वह यहाँ जन्म ही नहीं न लेता और उसके बाद दूसरी सर्वोत्तम बात यौवन में ही मरण है।" इसी स्वर में कठोपनिषद् क्षणभर के अमर-जीवन की आनन्दानुभूति के सामने भी ऐन्द्रिक सुख के दीर्घ-जीवन की कामना की निर्भर्त्सना करती है। इस निराशात्मक प्रवृत्ति की सबसे परिस्फुट

अभिव्यक्ति मैत्री उपनिषद् में हुई है, जहाँ लोक-जीवन के व्यापक दुःख की ओर हमारा ध्यान दिलाते हुये तथा समस्त वस्तु-जगत की क्षणिकता की अत्यन्त काव्य-मय अभिव्यंजना करते हुये, जीवन को चिरन्तन दुःख का मूल बतलाया गया है। वृहद्रथ पूछता है "वासनाओं की तृप्ति से क्या लाभ है, इस निःसार और दुर्गन्ध-मय जीवन में, जो विण्मूत्र, वात, पित्त, कफ, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मा, अश्रु आदि दूषित पदार्थों का समीकरण मात्र है? इस शरीर की वासनाओं की तृप्ति से क्या लाभ है? जो काम, क्रोध, लोभ, भय, विपाद, ईर्ष्या, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, क्षुधा, तृषा, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि से पीड़ित है? वस्तुतः यह संसार केवल क्षय-शील है। मक्खियों और कीड़ों को देखो, वृक्ष और वनस्पतियों को देखो, जिनका जन्म केवल नाश के ही लिये होता है। इनसे ही क्या, महासागर सूख जाते हैं, महीधर खस जाते हैं, ध्रुव अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं। वायु तन्तु विशृंखल हो जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है और देवता भी अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं (मूल० ५-ख)। ऐसी स्थिति का चिन्तन करते हुये ही वृहद्रथ शाकायन से शरण की अभ्यर्थना करता है "जैसे कोई एक जलहीन कूप से मेंढ़क की रक्षा करे।" वृहद्रथ की यह नैराश्य प्रवृत्ति नचिकेतस की सुख निरपेक्ष वृत्ति के तर्क-संगत परिणाम का अतिरेक मात्र है।

८. संन्यास, सत्याग्रह और शान्तिवाद

निराशावाद से ही निकटतः सम्बद्धित संन्यास और योगाभ्यास है। जब तक मनुष्य-जीवन के प्रति अपनी अभिरुचि के क्षय का अनुभव नहीं करता तब तक उसे संन्यास वृत्ति की शरण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब उसका हृदय 'शाश्वत्' की ओर आकर्षित होने लगता है तभी उसे संन्यस्त जीवन की इच्छा होती है। वृहदारण्यकोपनिषद् में हमें यह बतलाया गया है कि इसी प्रकार प्राचीन तत्व-ज्ञानी इस बात का अनुभव करने लगते थे कि उनके लिये वैभव, कीर्ति और सन्तान से कोई प्रयोजन नहीं। उनका प्रश्न होता था कि "हमें सन्तान से क्या करना है, यदि वह हमें शाश्वत् के समीप नहीं लाती?" इसी प्रकार वे सन्तान, कीर्ति और वैभव की कामना छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लेते थे (मूल० ६-क)। कौषीतकी उपनिषद् और भी आगे बढ़ जाती है और एक विलक्षण साम्य-तर्क द्वारा सत्याग्रह का प्रतिपादन करती है। "जिस प्रकार प्राण, जो ब्रह्म से तद्रूप है, मन द्वारा उसके एक सन्देश-दूत की भाँति, नेत्र द्वारा उसके संरक्षक की भाँति, श्रवण द्वारा उसके संवाद-दाता की भाँति, वाणी द्वारा उसकी परिवेष्ट्री की भाँति, परिसेवित है,

और जिस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ प्राण को अपने कार्यों का उपहार देती हैं, यद्यपि वह उनकी याचना नहीं करता, उसी प्रकार ये समस्त पुरुष उस मनुष्य के लिए उपहार लायेंगे, जो इस रहस्य को पहचानता है, चाहे वह उनकी याचना न करे। उसके लिये जीवन का नियम अयाचकता होना चाहिये। जब वह भिक्षा के लिये किसी गाँव में जाता है, और कुछ नहीं पाता, तो उसे यह व्रत करके बैठ जाना चाहिये कि वह किसी वस्तु में से भी, जो उसे भेंट की जायगी, भाग नहीं लेगा, तो वही लोग जिन्होंने उसे पहले मनाकर दिया गया था, उसके पास आयेंगे और सु-भाषण करेंगे—क्योंकि प्रायः उस मनुष्य के साथ जो भिक्षा की अपेक्षा नहीं करता यही होता है—और उसके लिए भेंट लायेंगे तथा और भेंट लाने को कहेंगे" (मूल० ६—ख)। कौषीतकी उपनिषद् का यह अवतरण संन्यासी के लिये अयाचक वृत्ति का आदेश देता है और इस बात का दृढ़ता-पूर्वक विश्वास दिलाता है कि जब वह भिक्षा बन्द कर देगा तो वस्तुयें उसके पास अपने आप आयेंगी। बृहदारण्यकोपनिषद् हमें संन्यस्त जीवन के और भी लक्षण बतलाती है कि "ब्राह्मण को ज्ञान से पूर्ण होकर बालकवत् सरल जीवन व्यतीत करना चाहिये" (मूल० ७—क)। शान्त जीवन में विश्वास रखते हुये "उसे अधिक नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि अधिक बोलने से शारीरिक श्रान्ति उत्पन्न होती है।"

६. आध्यात्मिक कर्मयोग

कुछ उपनिषदों में प्रतिपादित संन्यस्त जीवन का एक विधेयात्मक अङ्ग भी है। मुण्डकोपनिषद् हमें बतलाती है कि "हमें वस्तुतः शीघ्र ही शब्दों का त्याग कर देना चाहिये और मौन धारण कर लेना चाहिये और अपने को आत्म-ज्ञान में संलग्न करना चाहिये, क्योंकि आत्मा अमरत्व का सेतु है। ॐकार के आधार पर आत्मा का चिन्तन करो, क्योंकि एक इसी मार्ग से तुम्हारे लिये अन्धकार के महासागर से पार जाना सम्भव है। ऋषि लोग उसे ज्ञान के प्रकाश द्वारा देखते हैं, क्योंकि वही शाश्वत् सत्ता अपने को आनन्द के रूपों में अभिव्यक्त करती है" (मूल० ८—क)। अतः हमें स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि हमें बतलाया गया है कि हमें संन्यस्त जीवन व्यतीत करना चाहिये; वह केवल असार और शून्य ऐन्द्रिक जगत् से प्रतिक्रिया-जन्य पराङ्-मुखता तथा निर्वेद है; फिर भी उसके अन्तर्गत आत्मानुभूति का सार हो सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि "इसी, जो आत्म संयम, कर्म-विरक्ति, धीर सहिष्णुता तथा आत्म-संचय का जीवन व्यतीत करता है, वह प्रत्येक वस्तु में वस्तुतः आत्मा का ही स्वरूप देखता है। दुष्कर्म उस पर कोई

प्रभाव नहीं रखते, क्योंकि उसने दुष्कर्म को परास्त कर दिया है। पाप उसे पीड़ित नहीं करता क्योंकि उसने समस्त पापों को भस्म कर दिया है। दोष-मुक्त, पाप-मुक्त, अशुचि-मुक्त, सन्देह-मुक्त होकर वह समुचित रूप से 'ब्राह्मणत्व' का अधिकारी हो जाता है (मूल० ८—ख)। मुण्डकोपनिषद् ने संन्यास के लिये अपेक्षाकृत अधिक विधेयात्मक मत प्रकट किया है कि "वह मनुष्य जो आत्म-प्रकाश की महत्ता में अपने तर्क को छोड़ देता है, आत्मा के साथ क्रीड़ा करता है, आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है, क्योंकि यही उसका कर्म है। वह ब्रह्म-ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो जाता है" (मूल० ८—ग)। यहाँ हमें यह बतलाया गया है कि चाहे प्रत्यक्ष-रूप से ऐसा पुरुष लोक के कोलाहल से दूर शान्तिमय तथा आध्यात्मिक विजनता में एकान्त जीवन व्यतीत करता हो, फिर भी उसके पास क्रीड़ा और आनन्द का एक उपादान शेष रह जाता है—वह आत्मा है। वस्तुतः उसका आत्मागत जीवन एक गम्भीर आध्यात्मिक कर्ममय जीवन है, न कि विविक्त और शान्त-जीवन है, जैसा कि यह अन्य मनुष्यों को प्रतीत हो सकता है।

१०. आधिभौतिक कर्मवाद

इस प्रकार के आध्यात्मिक कर्मवाद के विपरीत एक दूसरा कर्मवाद भी है, केवल जिससे ही लोग सामान्यतः परिचित होते हैं। हम इसे आधि-भौतिक कर्मवाद कह सकते हैं। ईशोपनिषद् हमें यह बतलाती है कि "एक मनुष्य को अपना सौ वर्ष का समस्त जीवन निरन्तर साधना में व्यतीत करना चाहिये (मूल० ९—क)। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि ईशोपनिषद् का यह अवतरण यह बतलाता है कि हमें अपना समस्त जीवन कर्म करने में व्यतीत करना चाहिये, यहाँ के अभिप्रेत कर्म का क्षेत्र यज्ञादि की सीमित परिधि से अधिक नहीं है और यहाँ कर्मों के मध्य में जीवन व्यतीत करते हुये भी कर्मफल से अनासक्ति प्राप्त करने की साधना का स्पष्टरूप से निदर्शन नहीं किया गया है। यह आगे चलकर, जब हम भगवद्गीता के समय में आते हैं, तभी देखते है कि किस प्रकार कर्मों से परिपूर्ण जीवन में भी निष्कामता की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, यदि केवल कर्मासक्ति का एक बार सदा के लिये नाश कर दिया जाय और कर्म के फल के प्रति तनिक भी अनुराग अथवा चिन्तन शेष न रहे। कर्ममय जीवन तथा निष्कर्मता के लक्ष्य के बीच की ये दो कड़ियाँ इशोपनिषद् प्रदान नहीं करती। वह यह संकेत नहीं करती कि कर्म के मध्य में निष्कर्मता की सिद्धि कर्मानुराग के त्याग से तथा कर्मफल की कामना के नाश से प्राप्त हो सकती है। फिर भी यह स्पष्ट है कि ईशोपनिषद्

अन्य उपनिषदों से बहुत कुछ आगे बढ़ जाती है, जब वह कर्ममय जीवन का ज्ञानमय जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करती है। वह हमें बतलाती है कि "जो अज्ञान मार्ग अथवा कर्म मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे अन्धतामिस्र लोक में जाते हैं। उससे भी अधिक अन्धतामिस्र लोक में वे जाते हैं जो ज्ञानमय जीवन में अपने को संलग्न कर देते हैं। ऋषियों ने हमें अत्यन्त प्राचीनकाल से बतलाया है कि ज्ञान हमें एक परिणाम पर पहुँचाता है तो कर्म दूसरे पर। किन्तु एक मात्र वही पुरुष जो ज्ञान और कर्म दोनों की अधिकार-भावनाओं में सामंजस्य स्थापित कर सकता है, कर्म के द्वारा मृत्यु का महासागर पार कर जाता है और ज्ञान के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है" (मूल० ९—ख)। इस प्रकार ईशोपनिषद् ज्ञान और कर्म की अधिकार-भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करती है और हमें बतलाती है कि केवल चिन्तन अथवा केवल कर्म का जीवन दोनों ही सदोष हैं, किन्तु वही पुरुष जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है जो यह जानता है कि दोनों मार्गों का सामंजस्य किस प्रकार करना चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईशोपनिषद्-कार ने किस प्रकार अरिस्टोटिल की ज्ञानमय जीवन की तथा बेकन की कर्ममय जीवन की परवर्ती अधिकार-भावनाओं का सामंजस्य एक भविष्यवाणी के रूप में किया है।

११. सुखैकपुरुषार्थवाद—सुखार्थवाद

जब कर्मवाद का आधिभौतिक पक्ष प्रकाश में आ गया तो उससे एक ऐसे नैतिक आदर्श का सिद्धान्त ग्रहण कर लेना कठिन नहीं है, जो आधिभौतिक श्रेय को समुचित स्थान प्रदान करे। नैतिक श्रेय परम साध्य न माना जाय और लौकिक श्रेय परम साध्य की कल्पना में कम से कम उसके बराबर आ जाय। दूसरी ओर श्वेताश्वतरोपनिषद् का वह श्लोक जो चौथे अध्याय के अन्त में आता है, वैदिक प्रार्थना की आत्मा की प्रतिध्वनि मात्र है, जहाँ लौकिक श्रेय की याचना उसे परम श्रेय की कल्पना में महत्वपूर्ण मानकर की गई है। उपनिषद् का कथन है कि "हमें अपने बच्चों अथवा पुत्रों के वियोग से पीड़ित न करो। हे रुद्र! हमारे बलवान् वीरों को मत मारो, जिससे हम तुम्हें चिरकाल तक आहुति देते रहें" (मूल० १०—क)। जब नैतिक कर्त्ता की दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं होती तो वह जो श्रेय खोजता है वह स्पष्टरूप से बाह्य श्रेय होगा दूसरी ओर जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में होता है, जब आभ्यन्तरिक श्रेय का भी महत्व पहचान लिया जाता है. तो हमें सत्य और नियम दोनों के अनुशीलन का आदेश दिया जाता है, जो सुख के साथ-साथ नैतिक महत्व भी

रखते हैं तथा वैभव के साथ-साथ भौतिक मूल्य भी रखते हैं (मूल० १०-ख)। इसी प्रकार महान् आदर्शवादी तत्वज्ञ याज्ञवल्क्य ने भी जब जनक की सभा में उनसे प्रश्न किया गया कि वे सम्पत्ति और गोधन चाहते थे अथवा विजय और विवाद, तो उन्होंने यही उत्तर दिया था कि वे दोनों चाहते थे : वे गायों को उनके सुवर्णालंकारों सहित चाहते थे तथा जनक की सभा के अन्य तत्वज्ञानियों के साथ विवाद में विजय भी चाहते थे। अपने आचार का जो समाधान याज्ञवल्क्य ने दिया वह यह था कि "उनके पिता ने उन्हें किसी ज्ञानोपदेश के बिना धन लेने का निषेध कर दिया था" (मूल० १०-ग)। यह स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य आधि-भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों श्रेय चाहते थे और अपनी परम आदर्श-मूलक शिक्षा देते हुये भी, यह प्रदर्शित करके वे सम्भवत एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि भौतिक श्रेय के परम श्रेय की कल्पना में महत्वपूर्ण स्थान समझने का मोह एक आदर्शवादी भी पूर्णतः नहीं छोड़ सकता।

१२. आनन्दवाद

तैत्तिरीयोपनिषद्कार एक पद और आगे बढ़ जाता है और वह हमें बतलाता है कि सम्भवतः आधिभौतिक श्रेय और आध्यात्मिक श्रेय में कोई जाति-भेद नहीं है, हम दोनों को सानुपातिक समझ सकते हैं। एक प्रसिद्ध अवतरण में वह हमारे लिए आनन्द की कल्पना का विश्लेषण करता है। आधिभौतिक श्रेय भी उसके लिए 'आनन्द' का ही एक पथ है और आध्या-त्मिक श्रेय उसका परम पर्यवसान। उसके अनुकूल एक ओर आधिभौतिक और दूसरी ओर आध्यात्मिक दोनों श्रेयों को एक दूसरे से सम्बद्ध करने वाला एक ही परिणाम है। उसके अनुकूल इस परिणाम की इकाई क्या है ? हमें बतलाया गया है इस परिणाम की इकाई "एक कुलीन, सुसंस्कृत, सस्फूर्ति, दृढ़, वलिष्ठ, स्थिर बुद्धि, बलिष्ठ तथा विश्व वैभव का स्वामी एक नवयुवक है। इससे सौ गुने आनन्द से परिपूर्ण मनुष्य गन्धर्व का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द देवगन्धक का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द पितृ-आनन्द है, सौ गुना आनन्द जन्म-सिद्ध देवताओं का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द कर्मसिद्ध देवताओं का है, इससे सौ गुना आनन्द सर्वश्रेष्ठ देवताओं का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द इन्द्र का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द बृहस्पति का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द प्रजापति का आनन्द है, इससे सौ गुना आनन्द ब्रह्म का आनन्द है, और प्रत्येक बार हमें बतलाया गया है कि वासना मुक्त ऋषि को ये आनन्द पृथक्-पृथक् तथा उत्तरोत्तर विकसित रूप में प्राप्त होते हैं" (मूल० ११)। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि यहाँ तक एक ओर

आधिभौतिक श्रेय और दूसरी ओर आध्यात्मिक श्रेय दोनों में कोई प्रकार भेद नहीं माना गया है, जब तक कि उपनिषद्-कार ने यह अभिप्राय न रक्खा हो कि आध्यात्मिक आनन्द के सामने आधिभौतिक आनन्द नहीं के बराबर है। किन्तु जिस श्रम-साध्य तर्क-संगति द्वारा एक आधिभौतिक पौराणिक परिणाम की सहायता से वह परमानन्द तक पहुँच गया है, उसे देखते हुए विवेचना का झुकाव इस ओर नहीं दिखाई देता। यह स्मरण रखना भी समान रूप से महत्वपूर्ण है कि ये समस्त विविध आनन्द प्रत्येक बार वासना विमुक्त ऋषि के अविकार माने गये हैं। यदि संक्षेप में अकामता सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, तो यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि परमानन्द को भौतिक आनन्द के परिणामों से तोला जा सकता है। अस्तु, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि आध्यात्मिक आनन्द उसी प्रकार का हो सकता है, जिस प्रकार का भौतिक सुख। दोनों पूर्णतः असानुपातिक हैं, उनमें परिणाम भेद नहीं, वरन् प्रकार भेद है। ब्रह्मज्ञानी ऋषि का आनन्द किसी पुरुष के भौतिक सुख के परिणाम से नहीं नापा जा सकता, चाहे उसका भौतिक जीवन कितना ही उच्चतम परिस्थिति अथवा कितना ही दिव्य क्यों न हो।

१३. आत्मानुभूति

अस्तु, आध्यात्मिक आनन्द का माप भौतिक परिमाणों से नहीं किया जा सकता। आत्मानुभूति का आनन्द निरूपम तथा अतुलनीय है। किन्तु यह कह कर आत्मानुभूति के सिद्धान्त पर अनर्गल आक्षेप करना कि आत्मा पहले ही अनुभूत है, अतः उसकी अनुभूति की कोई आवश्यकता नहीं है, हमें आत्मानुभूति के वास्तविक महत्व का प्रमाद-पूर्ण प्रतिकार प्रतीत होता है। जब कैनन रैशडॉल (Conon Rashdall) यह कहते हैं कि "आत्मा पहले ही अनुभूत है, तो उनका यह कथन परतत्त्व सम्बन्धी तथ्य है। दूसरी ओर जब यह कहा जाता है कि आत्मा अनुभाव्य है तो हमें सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है, जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व में सन्निहित अनात्मा को मोह से क्रमशः छुटकारा पाना है और आत्मा के अपने मूल विशुद्ध तथा दिव्य स्वरूप को प्रकाश में लाना है। आत्मानुभूति के सिद्धान्त में ही नैतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का समावेश होता है। आगे चलकर शीघ्र ही हम इस प्रसंग की ओर लक्ष्य करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपनिषद्-कार आत्मानुभूति का जो अर्थ समझते थे, वह हमारी अन्तरात्मा का उद्भावन और प्रत्यक्ष दर्शन है, न कि मनुष्य की प्रज्ञात्मक, भावात्मक तथा नैतिक आदि विविध अन्तः-

प्रवृत्तियों का प्राणहीन तथा निस्सार अनुभव नहीं, जिसे ब्रेडले (Bradley) तथा अन्य यूरोपीय नीतिवेत्ताओं ने इस प्रयोग का अर्थ समझ रक्खा है। बृहदारण्यकोपनिषद् हमें बतलाती है कि आत्मा जो हमारे बाह्याभ्यन्तर सत्य का समवाय है, वह हमारी कामना के सन्तान, वन आदि भौतिक उपादानों से श्रेष्ठतर उपादान है और होना चाहिए, क्योंकि उपनिषद् हमें बतलाती है कि आत्मा हमारे अस्तित्व का सार सर्वस्व (मूलाधार) होने के कारण हमारे निकटतम है। "यदि कोई मनुष्य यह कहे कि उसके लिए आत्मा से भी प्रियतर प्रेम का एक अन्य उपादान है और दूसरा मनुष्य उससे यह कहे कि यदि ऊपर ईश्वर है तो वह तुम्हारे प्रेमोपादान का नाश कर देगा, तो निस्सन्देह ऐसा ही होगा। अस्तु, हमें केवल आत्मा को ही अपनी कामना का उपादान मानकर उसी का ध्यान करना चाहिए। जो आत्मा की इसी रूप में उपासना करता है, उसकी किसी प्रिय वस्तु का नाश न होगा" (मूल० १२-क)। उसी उपनिषद् के अनुकूल आत्मा को कामना का सर्वोत्तम उपादान मानने का एक और कारण है, क्योंकि जब मनुष्य आत्मा को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये कोई अतृप्त कामना नहीं रह जाती, वह पूर्ण रूप से निःस्पृह हो जाता है (मूल० १२-ख)। किन्तु आत्मानुभूति के उपनिषदीय सिद्धान्त का अभिप्राय आत्मा के परम स्पृहणीय उपादान होने से भी अधिक है? बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के एक संवाद में हमें यह बतलाया गया है कि जब याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों कात्यायनी और मैत्रेयी के बीच अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहते थे, तो मैत्रेयी ने अपने पति की सम्पत्ति का आध्यात्मिक भाग चुना और यह कहा कि, 'यदि मैं समस्त वैभवपूर्ण वसुन्धरा का भी अधिकार प्राप्त करलूँ, तो भी मुझे उससे अमरत्व कभी न मिल सकेगा।" याज्ञवल्क्य ने कहा कि "निस्सन्देह वह जीवन उन लोगों के जीवन के समान होगा, जिन्हें सभी सुविधायें हैं, किन्तु केवल सम्पत्ति के अधिकार से अमरत्व प्राप्ति की कोई आशा नहीं।" इस पर मैत्रेयी ने कहा कि "तो मैं उसका क्या करूँगी, जिससे मुझे अमरत्व न मिल सकेगा?" याज्ञवल्क्य ने कहा कि "प्रिये, तुम मेरी प्रियतमा हो, जो इस प्रकार प्रिय भाषण कर रही हो। आओ मैं तुम्हें आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश दूँगा। पति-पति होने के नाते प्रिय नहीं, किन्तु आत्मा के लिए ही पति प्रिय है, पत्नी-पत्नी होने के नाते प्रिय नहीं, किन्तु वह आत्मा के लिये प्रिय है, सन्तान-सन्तान होने के नाते प्रिय नहीं, किन्तु वह आत्मा के लिये प्रिय है; सम्पत्ति होने के नाते सम्पत्ति प्रिय नहीं, किन्तु वह आत्मा के लिये प्रिय है, कोई भी वस्तु-वस्तु होने के नाते प्रिय नहीं

किन्तु आत्मा के लिये। मैत्रेयी, आत्मा का दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये, क्योंकि दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है" (मूल० १३)। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस अवतरण की व्याख्या स्वार्थपरक नीति के पक्ष में नहीं करनी होगी, जैसा कि कुछ लोगों ने किया है, किन्तु केवल आत्मानुभूति के सिद्धान्त के पक्ष में। हमें यह न समझना होगा कि पति, पत्नी, पुत्र आदि अपने लिये प्रिय हैं, जैसा कि उक्त अवतरण की स्वार्थ-परक व्याख्या का संकेत होगा। अवतरण के अन्त में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्ये।" इस वाक्य में आने वाला आत्मा शब्द पूर्व वाक्यों में भी आत्मा के स्वार्थ-परक अर्थ का निषेध करता है। अतः हमें सम्पूर्ण अवतरण में आत्मा शब्द का अर्थ वास्तविक आत्मा अथवा परम सत्य के रूप में ग्रहण करना होगा और इसी लिये यह समझना होगा कि पति, पत्नी और पुत्र के प्रति हमारा प्रेम आत्मा के प्रति हमारे प्रेम का एक अङ्ग अथवा प्रतिविम्ब मात्र है। वस्तुतः ये समस्त वस्तुयें आत्मा के कारण ही हमें प्रिय है। बृहदारण्यकोपनिषद् हमें ध्यान योग द्वारा इसी आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने का आदेश देती है।

१४. आत्मानुभूति का नैतिक, आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक पक्ष

आत्मानुभूति के नैतिक तथा रहस्यात्मक पक्षों का सर्वोत्तम समन्वय हमें छान्दोग्योपनिषद् के उस अवतरण में मिलता है जहाँ मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करने वाली वस्तु का अन्वेषण प्रारम्भ कर देने के बाद तथा उसका यह उत्तर दे देने के बाद कि आनन्द की कल्पना मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है, क्योंकि हमें वतलाया गया है कि यदि वह कर्म की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव न करता, तो वह कर्म में प्रवृत्त न होता—छान्दोग्योपनिषद्-कार हमें आगे चलकर वतलाता है कि वास्तविक आनन्द वही है जो मनुष्य को अनन्त के दर्शन में प्राप्त होता है; तथा आनन्द के अन्य स्वरूप केवल कहने के लिये आनन्द हैं, उस आनन्द के सामने इनका कुछ भी मूल्य नहीं। अस्तु, उपनिषद्-कार के अनुकूल दो भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द हैं जिन्हें वह 'भूमा' और 'अल्प' कहता है। 'भूमा' आनन्द आत्मा के दर्शन, श्रवण और ध्यान में है, अल्पानन्द आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के दर्शन, श्रवण, और ध्यान में है। 'भूमा' आनन्द शाश्वत् है। अल्पानन्द क्षणिक है।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि "भूमानन्द कहाँ है ?" तो हैराक्लाइटस की रीति से इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि "अपनी महत्ता में और सम्भवतः अपनी महत्ता में भी नहीं !" लोग कहते हैं कि गाय, घोड़े, राज्य, प्रासाद, ये ही महत्ता हैं। उपनिषद्-कार का कथन है कि नहीं ये सब किसी अन्य पर अवलम्बित हैं; किन्तु आत्मा स्वावलम्बी है, जब ऊपर नीचे, आगे पीछे, दायें बायें, सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन होता है और अनन्त प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ से तद्रूप जान पड़ता है, तभी भूमानन्द का अनुभव होता है, जब हमारे अन्तस् में 'अहम्' कहने वाला पुरुष ही ऊपर नीचे, आगे पीछे, दायें बायें, सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है और प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ से एकाकार जान पड़ता है, जब आत्मा ऊपर नीचे, आगे पीछे, दायें बायें, सर्वत्र दृष्टि-गोचर होती है और प्रत्येक सत्तावान् पदार्थ से एक रूप जान पड़ती है, तभी भूमानन्द का अनुभव होता है। जो इस प्रकार अनन्त, अहम्, और आत्मा की त्रितत्त्वात्मक एकता का अनुभव करने लगता है, और 'सोऽहमात्मा' के सत्य का अनुभव करता है, वही परमानन्द का अधिकारी है। जिसे इसका ज्ञान हो जाता है, जो इसी का मनन करता है, इसी का ध्यान करता है, वह वस्तुतः 'स्वराज्य' प्राप्त कर लेता है: वह आत्मा को प्रेम करता है, आत्मा के साथ विहार करता है (मूल० १४)। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के अनुकूल साधक के अनन्य-साधना का चरम-लक्ष्य यह त्रितत्त्वात्मक अद्वैत की अनुभूति ही नैतिक परमार्थ है।

१५. अतिनीतिवाद : पापपुण्यातीतवाद

अस्तु, उपनिषदों में प्रतिपादित नैतिक आदर्श के सिद्धान्त पर भी कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक जान पड़ता है। यह सिद्धान्त "अतीतवाद" है, जो पापपुण्य से परे की अवस्था है तथा यह आध्यात्मिक अद्वैतवाद का नैतिक प्रतिरूप है। किन्तु एक ओर ब्रैडले और नित्शे (Nietsche) के अतीतवाद तथा दूसरी ओर उपनिषदों के अतिनीतिवाद में अन्तर है। नित्शे का अति-नीतिवाद केवल अतिमानुषिक व्यक्तियों के विषय में ही लागू होता है, जो एकान्त शक्ति के अधिकारी होने के कारण नीति और अनीति का प्रतिरोध कर उनसे ऊपर उठ जाता है। ब्रैडले का अतिनीतिवाद केवल ब्रह्म के विषय में लागू होता है, जिसे उसकी एकान्तता के कारण नीति और अनीति से परे समझना चाहिये। इसके विपरीत उपनिषदों का अतिनीतिवाद आत्मा और ब्रह्म दोनों के विषय में लागू होता है और आत्मा के विषय में केवल वहाँ तक, जहाँ तक आत्मा ने अपने में ब्रह्म का अनुभव किया है। कठोपनिषद् का वह

अवतरण हमें यह बतलाता है कि "ब्रह्म धर्म और अधर्म, कृत और अकृत, कर्म और अकर्म, भूत और भविष्य से परे है," छान्दोग्योपनिषद् के उस अवतरण से सम्बन्धित है जो हमें यह बतलाता है कि "अदेह आत्मा प्रिय और अप्रिय से परे है" (मूल० १५–क), और मुण्डकोपनिषद् के इस अवतरण में अपना प्रतिरूप रखता है जो हमें यह बतलाता है कि "जब नैतिक कर्ता एक बार कार्याकार्य विवेकी सर्वशास्ता प्रभु रुक्मवर्ण पुरुष का साक्षात्कार प्राप्त कर निरंजन ब्रह्म से पूर्ण साम्य प्राप्त कर लेता है, समस्त पापपुण्य की कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है, अर्थात् दूसरे शब्दों में सद्गुण, दुर्गुण, सत्, असत् से परे पहुँच जाता है" (मूल० १५–ख)। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि हृदय के अन्त:कोट में निवास करने वाली आत्मा, जो सबकी स्वामिनी तथा शासन कर्त्री है, न सत्कर्मों से महान् होती है और न असत्कर्मों से लघु होती है (मूल० १६–क) तथा जो आत्मा का ध्यान करता है वह स्वयं उसी शक्ति को प्राप्त कर लेता है, जब कि उसकी महत्ता सत्कर्मों से बढ़ती नहीं और असत्कर्मों से घटती नहीं (मूल० १६–ख)। ये अवतरण हमें बतलाते हैं कि नैतिक कर्त्ता पाप-पुण्य से परे पहुँच जाता है किन्तु तभी जब वह आत्मा से साम्य और तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, और उसी सीमा तक जहाँ तक कि उसने आत्मा से साम्य और तादात्म्य प्राप्त किया है, जो स्वयं आध्यात्मिक दृष्टि से पाप-पुण्य से परे है।

इ–व्यावहारिक नीति-शास्त्र

१६. बृहदारण्यकोपनिषद् में सद्गुण

यहाँ तक हमने उपनिषदों में प्रतिपादित नीति प्रामाण्यवाद तथा नैतिक आदर्शवाद का विवेचन किया है। अब हम उपनिषदीय नीति-शास्त्र के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालते हुये भिन्न उपनिषदों में परिगणित तथा संपादित सद्गुणों पर विचार करेंगे। उनमें सबसे पहले हम बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित तीन मूल गुणों का वर्णन करेंगे। हमें बतलाया गया है कि "देवता मनुष्य और असुर सब अपने सामान्य पिता प्रजापति के पास गये और उन्होंने उनसे आत्मावगत ज्ञान का उपदेश देने की विनय की। प्रजापति ने देवताओं के लिये 'द' अक्षर दिया और यह पूछने पर कि क्या वे उसका अर्थ समझ गये, उत्तर पाया कि उन्हें 'दाम्यत' का पालन करना है, जिससे प्रजाप्रति सन्तुष्ट हो गये। मनुष्यों को भी उन्होंने 'द' अक्षर दिया और पूछा कि

क्या वे इसका अर्थ समझ गये, तो उत्तर मिला कि वे समझ गये कि उन्हें 'दान' (दत्त) का पालन करना चाहिये, जिस पर प्रजापति ने सन्तोष प्रकट किया। असुरों को भी प्रजापति ने 'द' अक्षर दिया और उनसे पूछा कि क्या वे इसका आशय समझ गये, तो उत्तर मिला कि वे समझ गये कि उन्हें 'दया' (दयध्वम्) का पालन करना चाहिये, जिस पर प्रजापति को सन्तोष हो गया (मूल० १७-क)। यद्यपि प्रजापति ने विविध जिज्ञासुओं को एक ही उपदेश दिया, किन्तु उन्होंने उनके उपदेश का आशय अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुरूप समझा और उससे उन्होंने अपने लिये समुचित कर्तव्य का ग्रहण कर लिया। उपनिषद्-कार हमें बतलाता है कि "आकाश में मेघ गर्जन के रूप में जो 'द द द' की ध्वनि होती है, उसका अभिप्राय हमारे लिये तीन सद्गुणों—दम, दान, दया—का उपदेश देना है।" यही तीन सात्विक, राजस् और तामस् गुण प्रधान मनुष्यों के लिये क्रमशः त्रिगुणानुरूप तीन प्रधान सद्गुण हैं। जो देवताओं के समान उच्च स्थिति में हैं, उनके लिये वह दिव्यवाणी कहती है कि "दम का साधन करो, नहीं तो अपने गर्व के कारण तुम क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो सकते हो।" जो मनुष्यों की स्थिति में हैं अर्थात् समान रूप से एक ही समाज के सदस्य हैं, उनके लिये वह दिव्यवाणी कहती है कि दानशील बनो और अपने बन्धुओं से प्रेम करो। जो दानवों के समान अपरिमित अनर्थ करने की शक्ति रखते हैं, उनके लिये वह दिव्यवाणी यह कहती है कि "दयावान् बनो, उनके प्रति दयालु बनो, जिनके प्रति अन्यथा तुम निर्दय होते।" इस प्रकार उक्त अवतरणों में हमें यह बतलाया गया है कि दम, दान, दया तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति-प्रधान मनुष्यों के लिये तीन पृथक्-पृथक् प्रमुख गुण हैं।

१७. छान्दोग्योपनिषद् में सदगुण और दुर्गुण

यहाँ तक बृहदारण्यकोपनिषद् का विषय-प्रसंग है। छान्दोग्योपनिषद् में हमें घोर अंगिरस और देवकी पुत्र कृष्ण के संवाद में सद्गुणों की दूसरी ही सूची मिलती है। यह कृष्ण कौन था और घोर अंगिरस द्वारा कृष्ण के प्रति दिये गये ज्ञानोपदेश का आशय क्या हो सकता है, इसके विवेचन का अवसर हमें एक पिछले अध्याय में मिल चुका है। यहाँ हमारा सम्बन्ध उसमें परिगणित सद्गुणों की सूची तथा उनके नैतिक महत्व से है। हमें बतलाया गया है कि मनुष्य के प्रधान सद्गुण, तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य हैं। घोर अंगिरस के अनुकूल ये मनुष्य के प्रधान गुण हैं (मूल०१७-ख)। इन गुणों की गणना के साथ भगवद्गीता के गुणों की सूची का साम्य हम

पहले ही देख चुके हैं (अध्याय १६, श्लोक–१,३)। पुनः कुछ आगे चलकर छान्दोग्योपनिषद् में ही मनुष्य के पाँच प्रधान महापातकों का उल्लेख पाते हैं। हमें बतलाया गया है कि "जो धन की चोरी करता है, सुरापान करता है, गुरु पत्नी के साथ गमन करता है, अथवा ब्राह्मण का वध करता है, वह नरक में जाता है और उसके साथ उसके सहयोगी भी। (मूल० १७-ग)। इस अवतरण में हमें उपनिषदीय ऋषियों द्वारा प्रकल्पित पाँच महापातकों का निर्देश दिया गया है। चोर, मद्यपी, व्यभिचारी, ब्रह्मघाती और उनके सहकारी सब मृत्यु दण्ड के अधिकारी हैं, यह मनु और याज्ञवल्क्य की परवर्ती स्मृतियों के अनुकूल है (अध्याय ३; श्लोक ५–२२७), जहाँ इन्हीं पाँच महापातकों का उल्लेख किया गया है।

१८. तैत्तिरीयोपनिषद् में नीति-बोध

तैत्तिरीयोपनिषद् में नीति-बोध की ओर सब उपनिषदों से अधिक ध्यान दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रकृति सचेतन शिक्षात्मक है। इसमें हमें अनेक सद्गुणों के सम्पादन का उपदेश दिया गया है तथा वेदों का अध्ययन और अध्यापन इसका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। हमें धर्म का आदर करने; सत्य बोलने, तप, संयम और शान्ति की साधना करने, नित्य और नैमित्तिक हवन (यज्ञ) करने, अतिथि सत्कार करने, मनुष्यता का पालन करने तथा प्रजोत्पादन करने का आदेश दिया गया है। हमें तीन प्रधान नीतिकारों के मतों के विषय में भी बतलाया गया है, जिनमें से प्रत्येक एक प्रधान सद्गुण को श्रेष्ठ मानता था। सत्यवचन राथीतर सत्यगुण का उपदेश देते थे, तपोनिष्ठ पौरुषष्टि तपोगुण का उपदेश देते थे, अन्त में नाक मौद्गल्य वेदों के अध्ययन और अध्यापन को सर्वश्रेष्ठ गुण मानते थे, क्योंकि उनका कथन था कि यही सर्वोत्तम तप है (मूल० १८)। दूसरी ओर कुछ आगे चलकर उसी उपनिषद् में हम दीक्षान्त के समय गुरु का शिष्य के प्रति नैतिक ज्ञानोपदेश पाते हैं। जब गुरु के यहाँ रह कर शिष्य का दीक्षा-काल समाप्त हो गया तो गुरु दीक्षान्त उपदेश के रूप में उसे सत्य भाषण करने, धर्म का समादर करने, वेदाध्ययन से विमुख न होने, गुरु दक्षिणा देने के बाद गृहस्थ जीवन व्यतीत करने तथा अविच्छिन्न वंश परम्परा की रक्षा के लिये प्रजोत्पादन करने का उपदेश देते हैं। इसके अतिरिक्त शिष्य को देव और पितृ कार्य से विमुख न होने तथा माता, पिता, गुरु और अतिथि को पितृ-तुल्य मानने का उपदेश दिया गया है। सामान्यतः शिष्य को केवल वही कर्म करने का उपदेश दिया है, जो समाज की दृष्टि से निर्दोष हैं। धर्म-गुरु का कथन है कि "जो अपने से ब्राह्मणत्व में

श्रेष्ठ हैं उन्हें आसन देकर उनका सम्मान करना चाहिये। विकल्प से इस वाक्य का अर्थ यह भी किया गया है कि "ऐसे पुरुषों की उपस्थिति में शिष्य को एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिए।" अन्त में गुरु ने अपने शिष्य को सत्य की विविध अवस्थाओं का ज्ञानोपदेश दिया है। दान श्रद्धा सहित करना चाहिये, न कि अश्रद्धा से, उदारता के साथ, नम्रता के साथ, नीति और सहानुभूति के साथ दान देना चाहिए (मूल० १९)। अस्तु, हम देखते हैं कि किस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद्-कार ने व्यावहारिक जीवन के लिये आवश्यक विविध सद्गुणों की गणना की है।

१९. सत्य : सर्वश्रेष्ठ गुण

उपनिषद्-कारों की दृष्टि में सत्य की सब गुणों की अपेक्षा अधिक महत्व मिला है। इस सद्गुण के उदाहरण विविध उपनिषदों में बिखरे मिलेंगे। जब वायसराय के सिंहासन से प्रमाद दृत अधिकारी यह कहने का साहस करते हैं कि भारतीय शास्त्रों में परमगुण सत्य का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है तो यह नितान्त वाँच्छनीय प्रतीत होता है कि ऐसी साहसिक घोषणा के पूर्व वे उपनिषदों का अध्ययन कर लेते, जहाँ सत्य का परम श्रेष्ठ सद्गुण के रूप में प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसिद्ध अवतरण में हमें बतलाया गया कि जाबाला नाम की एक स्त्री ने यौवनकाल में उच्छृंखल जीवन व्यतीत किया था। जब उसका पुत्र सत्यकाम वयस्क हुआ तो उसने अपनी माता से अपने पिता का नाम पूछा। जाबाला ने उत्तर दिया कि वह केवल इतना बता सकती थी कि वह उसका पुत्र है, वह किस पिता से उत्पन्न हुआ इस विषय में वह अनिश्चित थी। जब सत्यकाम दीक्षा प्राप्त करने के लिये गुरु के पास गया तो गुरु ने पूछा कि वह किस वंश से उत्पन्न है और उसका कौन गोत्र तथा कौन कुल है? सत्यकाम ने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि "मैं यह नहीं जानता कि मैं किस वंश से उत्पन्न हूँ, मैं केवल अपनी माता का नाम जानता हूँ। उसने कहा है कि वह यह नहीं जानती कि मैं किस पिता से उत्पन्न हूँ, क्योंकि यौवन में उसका जीवन बहुत उच्छृंखल रहा था।" गुरु ने सत्यकाम से कहा कि "वत्स, ये शब्द किसी अब्राह्मण के मुख से नहीं निकल सकते। आओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा, क्योंकि तुम सत्य से विचलित नहीं हुये" (मूल० २०)। यह कथा हमें यह बतलाती है कि किस प्रकार एक स्वैरिणी स्त्री का पुत्र भी शुद्ध और अविकल सत्य बोलने के कारण ब्राह्मण पद का अधिकारी हो सकता था। पुनः उसी उपनिषद् में हमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार सत्य में मृत्यु से भी बचा लेने की शक्ति

है, क्योंकि हमें बतलाया गया है कि सत्य ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। जब किसी चोर को हथकड़ी बाँध कर न्यायालय में लाया जाता है तो लोग उसके लिये एक परशु गरम करते हैं। यदि उसने सचमुच चोरी की होती है तो उसने अपने आपको अनृत से आच्छादित किया है, अतः वह परशु को पकड़ता है और जलकर मर जाता है। इसके विपरीत यदि उसने चोरी नहीं की होती है तो वह अपने को सत्य से आच्छादित कर परशु को ग्रहण करता है और तनिक भी नहीं जलता, अतः मुक्त कर दिया जाता है" (मूल० २१)। इस प्रकार लोग दोषी और सच्चे पुरुष की प्राचीनकाल में जाँच करते थे। आधुनिक युग में इस प्रकार की न्याय पद्धति के औचित्य के विषय में कुछ भी कहा जाय, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इस न्याय-पद्धति के मुख्य अभिप्राय के धरातल पर सत्य की शक्ति के प्रति दृढ़ आस्था है। सत्य का आचरण करो और निर्भय रहो। तुम्हारी शक्ति दस पुरुषों की शक्ति के बराबर होगी, यदि तुम्हारा हृदय स्वच्छ है। इसके विपरीत यदि तुम अपने हृदय में असत्य का कलुष छिपाये रहोगे, तो दिन दहाड़े घूमते हुए भी घातक भय तुम्हारे साथ रहेगा। प्रश्नोपनिषद्-गत भारद्वाज के कथन का भी यही आशय है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि यदि कोई मनुष्य असत्य-भाषण करेगा तो वह समूल सूख जायगा। इसीलिये भारद्वाज का कथन है कि असत्य बोलने का साहस न करो (मूल० २२–क)। दूसरी ओर मुण्डकोपनिषद् हमें यह बतलाती है कि संसार में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं, सत्य देवताओं का पथ प्रशस्त करता है, जिसके द्वारा वे ऋषि लोग जिनकी समस्त कामनायें तृप्त हो चुकी हैं परम सत्य के लोक को जाते हैं (मूल० २२–ख)। इस प्रकार एक नैतिक सद्गुण के रूप में सत्यपालन हमें ब्रह्म तक पहुँचने के योग्य बनाता है। अन्त में, सनत्कुमार और नारद के संवाद में जब नारद सत्य की प्रकृति के विषय में अपने गुरु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करने गये तो गुरु ने कहा कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होने पर ही मनुष्य के विषय में यह कहा जा सकता है। ये अन्य सत्य नाम के सत्य हैं (मूल० २२–ग)। यह कथन उस विनोदी पायलेट (Pilate) के स्वर में है, जो यह पूछने के बाद कि सत्य क्या है ?" उत्तर के लिये नहीं ठहरना चाहता। अस्तु, जहाँ पायलेट ने सत्य के प्रति कुछ सन्देह व्यक्त किया वहाँ सनत्कुमार सत्य की एक अपेक्षाकृत विधायक व्याख्या प्रदान करते हैं, जब उन्होंने यह कहा कि सत्य ब्रह्म की प्राप्ति में ही मिल सकता है, जिसे लोग सत्य कहते हैं वह वस्तुतः सत्य नहीं। यह कहने भर का सत्य है। अस्तु, हम देखते हैं कि किस

प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में सत्य को ब्रह्म ज्ञान का चरम नैतिक अनन्वय माना है।

२०. संकल्प-स्वातन्त्र्य

इसके बाद हम संकल्प-स्वातन्त्र्य की समस्या पर आते हैं। यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि नैतिक-दर्शन के विकास में इस प्रश्न के परिपूर्ण विवेचन के लिये एक उच्च स्थिति की आवश्यकता होती है, अतः यह आश्चर्य की बात नहीं यदि उपनिषदों में संकल्प-स्वातन्त्र्य के प्रश्न का अधिक ऊहापोह नहीं पाया जाता। फिर भी उपनिषदों में कुछ ऐसे स्थल मिलेंगे जिनसे उपनिषद्-कारों की इस प्रश्न के विषय में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसके लिये उपनिषद्-कार यथेष्ट श्रेय के अधिकारी हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् हमें बतलाती है कि मनुष्य, काम, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है: जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे; जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे, जैसे उसके कर्म होंगे वैसे ही फल वह अपने लिये प्राप्त करेगा" (मूल० २३)। यहाँ पर काम, संकल्प और कर्म तथा कर्म-फल के सम्बन्ध का बड़ा कुशल विवेचन है। नैतिक (आत्मा के) मनोविज्ञान के लिये उपनिषद्-कारों की यह महत्वपूर्ण देन है। पुनः कौषीतकी उपनिषद् में ईश्वरायत्तवाद प्रतिपादन किया गया है, जहाँ तक कि हमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य ईश्वर के हाथ की कठपुतली मात्र है, जो यदि मनुष्य की उन्नति चाहता है तो उससे सत्कर्म कराता है, यदि उसका पतन चाहता है तो उससे पापकर्म कराता है (मूल० २४—क)। यहाँ मनुष्य की स्वतन्त्रता का निश्चित-रूप से निषेध किया गया है और हमें बतलाया गया कि जिसे नीति-शास्त्र स्वतन्त्रता समझता है, वह मनुष्य का किंचित् भी अधिकार नहीं। दूसरी ओर छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि यद्यपि वास्तविक स्वतन्त्रता आत्मानुभूति से पहले मनुष्य का अधिकार नहीं हो सकती, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि उस आत्मानुभूति के बाद मनुष्य का अधिकार हो जाती है। अपनी तुच्छ सफलता के प्रमाद में अपने को समस्त दृश्य-जगत् का स्वामी समझता है, उसका विश्वास रहता है कि वह किसी भी स्थिति का, जिसमें वह पहुँच जाय, स्वामी हो सकता है और वह प्रकृति को किसी समय भी अपनी प्रबल इच्छा के अनुकूल कार्य करने को बाध्य कर सकता है। किन्तु, जीवन की घटनायें नित्य इस बात को प्रमाणित करती हैं कि ये दुराशायें मात्र हैं। यदि छोटे-छोटे कार्यों में मनुष्य की थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता स्वीकार करली जाय, तो भी वह शब्द के परिपूर्ण

अर्थ में स्वतन्त्र नहीं। कारावास के वन्दी की भाँति वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। किन्तु वह भोजन-पान भर के लिये स्वतन्त्र है, विचरण के लिये नहीं। डोरी में बँधे हुये पक्षी की भाँति वह डोरी की लम्बाई से निर्दिष्ट क्षेत्र की सीमित परिधि में ही उड़ सकता है, उससे आगे के लिये वह परतन्त्र है। उसी प्रकार मनुष्य भी इस प्रकार की निर्मूल कल्पनायें कर सकता है कि वह जो चाहे वह करने के लिये स्वतन्त्र है, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता डोरी में बँधे हुये पक्षी की स्वतन्त्रता से अधिक नहीं। छान्दोग्योपनिषद् हमें बतलाती है कि हमारे लिए समस्त लोकों में स्वतन्त्रता आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मिल सकती है, किन्तु यदि हमने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो हमारे लिये तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं (मूल० २४–ख)। वही उपनिषद् तनिक आगे चलकर हमें फिर बतलाती है कि हम आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर कोई भी वस्तु जो चाहें प्राप्त कर सकते हैं तथा इस प्रकार वह प्रकृति के ऊपर मनुष्य के संकल्प के प्रभाव को प्रमाणित करती है, जिसका उद्गम आत्मज्ञान है (मूल० २४–ग)। अन्त में, यद्यपि उपनिषदों में नैतिक संकल्प के पूर्वगामी उद्देश्य विरोध का विवेचन नहीं किया गया है। फिर भी मुण्डकोपनिषद् में एक अवतरण है जो हमें यह बतलाता है कि कामना-नदी पुण्य-पाप के दो कूलों के बीच में प्रवाहित है, किन्तु अपने संकल्प के प्रभाव से हमें इसको पुण्य के अनुकूल बहने को बाध्य करना चाहिये (मूल० २५)। यद्यपि मुण्डकोपनिषद् का यह अवतरण कुछ विलम्बित है, किन्तु संकल्प-स्वातन्त्र्य की समस्या के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर यह जो प्रकाश डालता है, वह महत्वपूर्ण है।

२१. आदर्श ऋषि

उपनिषदीय ऋषि का आदर्श क्या है? प्रस्तुत अध्याय की विवेचन-प्रगति के प्रसंग से यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपनिषद्-कारों ने नैतिक मूल्यों को प्रायः नियमित रूप से आध्यात्मिक मूल्यों से सम्बन्धित कर दिया है। जिस प्रकार बिना वास्तविक नैतिक आधार के अवलम्ब के कोई अध्यात्म स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार नीति का भी पर्यवसान रहस्यवाद में ही है। उपनिषदों में ऐसा कोई नैतिक-कर्ता मात्र नहीं हैं, जिसका नैतिक आचार रहस्यवाद में परिपूर्णता प्राप्त नहीं करता। अस्तु, उपनिषदीय ऋषि एक ओर स्टोइक सन्त (Stoic Saint) से भिन्न है, जो ब्रह्म की रहस्यात्मक अनुभूति के स्थान पर प्रज्ञा-परक चिन्तन से सम्बद्ध नैतिक परिपूर्णता के चरम-विन्दु का प्रतीक मात्र है। दूसरी ओर वह ईसाई महात्माओं से भिन्न

है, जो इसमें सन्देह नहीं कि आचार की त्रिविध नीति-श्रद्धा, आशा, प्रेम का पालन करता है, किन्तु जो अपनी आध्यात्मिक परिपूर्णता की आशाओं को एक अपर सत्ता ईसा में केन्द्रित कर देता है, अपने में नहीं। उपनिषदीय ऋषि प्रत्येक मनुष्य के लिये उसके चरित्र, आस्था और अध्यवसाय के अनुकूल थोड़ी बहुत रहस्यात्मक अनुभूति की सम्भावना में विश्वास रखता है। वह सब में आत्मा को ही देखता है और केवल आत्मा को ही देखता है। ईशोपनिषद् हमें बतलाती है कि" उस मनुष्य के लिए जिसके लिये ये समस्त वस्तुयें आत्मा ही हो जाती हैं कौन-सा शोक, कौन-सा मोह शेष रह जाता है, जब वह इन समस्त वस्तुओं में एक ही आत्म-तत्व की एकता देखता है ?" (मूल० २६-क)। उसने वासना के आकाशवत् सूक्ष्म आवरण को, जो उसे अब तक अज्ञानान्धकार और निराशा से घेरे परिवेष्टित किये रहा, चीर-चीर कर, वह दुःख और शोक की सीमा पर पहुँच गया (मूल० २६-ख)। उसकी समस्त वासनाओं का अन्त हो गया क्योंकि वह परम वासना आत्मानुभूति को प्राप्त कर चुका (मूल० २६-ग)। जिस प्रकार जल-विन्दु कमल-पत्र पर ठहर नहीं पाते, उसी प्रकार वासनाहीन पुरुष अलिप्त रहता है (मूल० २६-घ)। उसके लिए किसी प्रायश्चित की भावना शेष नहीं रह जाती। वह अपने मन में कभी यह नहीं सोचता कि उसने पुण्यकर्म क्यों नहीं किये अथवा उसने पापकर्म ही क्यों किये (मूल० २६-ङ)। उसने सत्य के स्वरूप को पहचान लिया है और इसीलिए इन द्विविधाओं की पहुँच से बाहर पहुँच गया है (मूल० २६-च)। यदि कोई उसके प्रति कुछ अनहित करना चाहता है अथवा उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना चाहता है, तो उसकी आशायें छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, जिस प्रकार एक अभेद्य शिला के प्रत्याघात से कोई भी वस्तु खण्ड-खण्ड हो सकती है, क्योंकि वस्तुतः ऋषि एक अभेद्य शिला है (मूल० २७)। उसने शाश्वत् शान्ति प्राप्त करली है, क्योंकि जैसा कि उपनिषद् का प्रवचन है, उसने परमेश्वर का 'संग्रह' कर लिया है (मूल० २८-क)। योग साधन में ब्रह्म-चिन्तन के द्वारा मन और बुद्धि के सहित उसकी समस्त इन्द्रियाँ स्थिर और निश्चल हो गई हैं (मूल० २८-ख), और आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेने के कारण उसने शाश्वत आनन्द की प्राप्ति करली है (मूल० २८-ग)। यह परम आध्यात्मिक परिपूर्णता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है और किस प्रकार नीति का पर्यवसान रहस्यवाद में होता है, यह हमारे अगले अध्याय का प्रतिपाद्य विषय होगा।

७

रहस्यवाद

१. दर्शन और रहस्यवाद

एक पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार उपनिषद्-कार अद्वैत आत्मा की कल्पना तक पहुँचे हैं, जो प्रकृति-जगत् और मनो-जगत् में समान रूप से व्याप्त है, जिससे संसार अपनी सत्ता ग्रहण करता है, जिसमें जगत् की स्थिति है और जिसमें अन्त में लोक का निलय हो जाता है। हम देख चुके हैं कि आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना ही उपनिषदीय दर्शन का परम पुनीत तत्व है। आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना विविध विरोधी धर्म सम्प्रदायों के विद्वेष-मूलक भिन्न-भिन्न पक्षों का संयोजक सेतु है। आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना ही सत्य के विविध विधानों को परम सत्य के स्वरूप-निरुपण के पथ पर समुचित स्थान प्रदान करती है। हमने उस अध्याय में यह भी संकेत किया था कि उपनिषदों में आत्मानुभूति प्राप्त करने के कुछ व्यावहारिक साधन भी बतलाये गये हैं। सत्य की प्रज्ञात्मक व्याख्या के विधान से वे सन्तुष्ट नहीं, किन्तु उसकी प्राप्ति के साधनों का भी निर्देश करती है। यह सत्य है कि आत्मानुभूति की समस्या की प्रकृति के अनुकूल उपनिषद्-कारों से इसकी एक सचेतन और विशद व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती, वे केवल संकेत मात्र से आत्मानुभूति के पथ का दिग्दर्शन करते हैं। वे इसे भली प्रकार जानते थे कि शब्दों द्वारा आत्म-साक्षात्कार के अपूर्व अनुभव का वर्णन, चाहे वह कितना ही परिपूर्ण क्यों न हो, सत्य को नहीं पा सकता, जहाँ तक कोई अप्रत्यक्ष, बुद्धिगत अथवा संवाद-ज्ञान प्रत्यक्ष स्वानुभूत ज्ञान को नहीं पहुँच सकता। एक अनुभव की अभिव्यक्ति और उसके आनन्दोभोग में उतना ही अन्तर है जितना कि एक वस्तु के ज्ञान और अनुभव में है। अस्तु, परमार्थ

के जिज्ञासुओं के अन्यथा अन्धकारमय आध्यात्मिक पथ को दीपस्तम्भों के रूप में आलोकित कर उनके लिये मार्ग-निर्देश करने के लिये आत्म-साक्षात्कार के अनुभवों को स्वयं किसी प्रच्छन्न रूप में व्यक्त होना पड़ता है। इस प्रकार हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों में आत्म-साक्षात्कार के रहस्यात्मक निर्देश पाते हैं, जो गुदड़ी के लालों की भाँति प्रज्ञात्मक आवरणों में छिपे हुये है, तथा जिनकी अमूल्यता को कोई पारखी ही समझ सकता है।

२. अपरा और परा विद्या

उपनिषद्-कार इस बात का पूर्ण-रूप से अनुभव करते हैं कि बौद्धिक साधना किसी परिमाण में भी हमें सत्य के साक्षात्कार में समर्थ नहीं बना सकती। वे अपरा और परा विद्या में वही अन्तर करते हैं जो ग्रीक दार्शनिक अनुमान (Daxa) और सत्य (Episteme) में करते हैं। मुण्डकोपनिषद् हमें बतलाती है कि संसार में दो प्रकार की विद्यायें संपाद्य है—अपरा और परा। अपरा विद्या वेद, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि शास्त्रों का ज्ञान है। परा विद्या वह है जिसके द्वारा केवल अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है (मूल० १–क)। ज्ञान और अनुभव के मार्ग का वही भेद विशेष नारद और सनत्कुमार के संवाद से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है, जहाँ नारद शिष्य रूप से सनत्कुमार के पास आत्म-ज्ञान सम्पादन के लिये जाता है। यह पूछने पर कि अब तक उसके ज्ञान की कौन-कौन शाखायें सीखली हैं, नारद ने सनत्कुमार को उत्तर दिया कि "मैंने समस्त वेद, इतिहास, पुराण, पितृ-शास्त्र, गणितशास्त्र, शकुन-शास्त्र, काल-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, देव-विद्या, भूत-विद्या, ब्रह्मविद्या, अस्त्रविद्या, मन्त्रविद्या, नक्षत्रविद्या, ललित-कला, आदि सब का अध्ययन किया है। किन्तु मुझे यही दुःख है कि इतना ज्ञान भी उसे शोक-सागर के पार न उतार सका। मैंने विविध मन्त्रों का अध्ययन किया है पर आत्मा को नहीं पहचाना। मैंने अब तक अपने गुरुतुल्य वन्दनीय पुरुषों से यही सुना है कि वही इस शोक-सागर के पार जा सकता है, जो इसे आत्मा के सेतु द्वारा पार कर सकता है। क्या आप मुझे इस अज्ञान और शोक के सागर को पार करने में समर्थ बनायेंगे (मूल० १–ख)।" यह अवतरण अपरा और परा विद्या के अन्तर को स्पष्ट प्रकाश में लाता है और आत्मज्ञान को इतना उच्च स्थान देता है कि समस्त बुद्धिगत ज्ञान इसके सामने शब्द-कला मात्र अथवा असफल श्रम-साधना प्रतीत होता है। अन्त में, उपनिषद्-कारों का आत्म-साक्षात्कार की समस्या के प्रति व्यावहारिक दृष्टि-कोण केनोपनिषद् में व्यक्त हुआ है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि, यदि

केवल आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, तो जीवन का परम-लक्ष्य मनुष्य अपने भौतिक जीवन में ही प्राप्त कर सकता है; क्योंकि यदि शरीर के जीवित रहने तक आत्म-ज्ञान प्राप्त न हुआ, तो मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता कि मृत्यु के उपरान्त उसके लिये क्या-क्या यातनायें भविष्य के अन्तर्पट में छिपी होंगी (मूल० २–क)। इसी भाव का समर्थन तनिक अन्तर के साथ कठोपनिषद् में किया गया है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि जब तक मनुष्य अपने शरीर के रहते आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक उसे पुनर्जन्म की शृङ्खलाओं में बार-बार जीवन-धारण करना पड़ेगा (मूल० २–ख)।

३. आत्म-ज्ञान का अधिकार

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि शरीर के रहते जीवन-काल में ही आत्मानुभूति प्राप्त की जा सकती है तो लोग अपने जीवन में आत्मा का अनुभव क्यों नहीं कर पाते; यदि कुछ लोग भी आत्मानुभूति को प्राप्त कर सकते हैं, तो उस ज्ञान-सम्पादन के अधिकार-गुण क्या हैं? आध्यात्मिक जीवन के अधिकार-गुणों के प्रसंगों से उपनिषदीय वाङ्मय भरा पड़ा है। आत्म-ज्ञान के साधक के लिये पहला आवश्यक गुण कठोपनिषद् के अनुकूल अन्तर्मुखी दृष्टि है: "ईश्वर ने हमारी इन्द्रियों की प्रकृति बहिर्मुखी बनाई है। यही कारण है कि मनुष्य अपने अन्तस् की ओर देखने की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक देखता है। अमरत्व की कामना का साधक विरला ही ज्ञानी पुरुष अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाता है" (मूल० ३–क)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इन्द्रियों की इसी बहिर्मुखी वृत्ति पर जोर दिया गया है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि जीवात्मा इस नवद्वार-युक्त शरीर-कोट में बन्दी है। उसकी वृत्ति प्रतिक्षण इस कारागार से बाहर उड़ जाने का प्रयत्न करती है (मूल० ३–ख)। धनुष (दण्ड) को दूसरी सीमा तक झुकाने के लिये आध्यात्मिक साधक को यह आवश्यक जान पड़ता है कि प्रारम्भ में वह अपने को बाह्य-जगत् से खींच ले, जिससे वह पूर्णतः अन्तदर्शन प्राप्त कर सके। यह अन्तर्मुखी वृत्ति की स्थिति है। अन्तर्मुखी वृत्ति के बाद अगली सीढ़ी आत्म-शुद्धि है। कठोपनिषद् हमें बतलाती है कि जब तक मनुष्य दुष्कर्मों का पूर्णतः निरोध नहीं कर देता, जब तक वह पूर्ण रूप से शान्त और स्वस्थ नहीं है, तब तक, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, केवल बुद्धि के बल पर आत्मानुभव प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं (मूल० ४–क)। मुण्डकोपनिषद् सत्य और तप, सम्यक् ज्ञान और अखण्ड ब्रह्मचर्य को आत्मा के विकास की पूर्ण-स्थिति मानती है

(मूल० ४–ख) । कठोपनिषद् आत्मानुभूति के अप्रज्ञात्मक पक्ष को, प्रज्ञातीत के अर्थ में, प्रकाश में लाती है, जब वह यह घोषणा करती है कि केवल, प्रवचन, मेधा, अथवा बहुश्रुति से आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता (मूल० ४–ग) । ईशावास्योपनिषद् एक बड़े प्रसिद्ध अवतरण में कठोपनिषद् के ही मत का समर्थन करती है, जब वह हमें यह बतलाती है कि ज्ञान अज्ञान से भी अधिक आपत्तिजनक है, क्योंकि जो अज्ञान-पथ का अनुशीलन करते हैं, वे अन्धतामिस्र लोकों में जाते हैं, किन्तु जो अपने ज्ञान का गर्व करते हैं वे उनसे भी अधिक अन्धतामिस्र लोकों में जाते हैं (मूल० ४–घ) । मुण्डकोपनिषद् यह संकेत करती है कि वह मनुष्य आत्मानुभव को प्राप्त नहीं कर सकता, जो कठोर आध्यात्यिक जीवन व्यतीत करने की क्षमता नहीं रखता और न वह मनुष्य जिसका जीवन अनर्थ-संचय मात्र है (मूल० ४–ङ) । वही उपनिषद् आत्मानुभूति के जीवन के और भी लक्षण बतलाती है । "जब तक मनुष्य उन समस्त लोकों से पूर्ण निर्वेद का भाव ग्रहण नहीं कर लेता, जिनमें वह अपने कर्म-फल के कारण आता है और जब तक वह पूर्णतः यह विश्वास नहीं कर लेता कि वह लोक जो कर्मों की परिधि से परे है, कर्मों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, चाहे वे कितने ही पुण्य-कर्म हो," दूसरे शब्दों में, जब तक वह आत्मानुभूति के जीवन को कर्ममय जीवन से एकान्त श्रेष्ठ नहीं मानता, तब तक उसे आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है, जिसे खोजने के लिये उसे नम्र-भाव से, समित्पाणि होकर अपने आत्म-सिद्ध गुरु के पास जाना चाहिये (मूल० ४–च) । इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मानुभूति के उपनिषद् अन्तर्मुखी वृत्ति, लोक-निर्वेद, आत्मशुद्धि, नम्रता, शान्ति, सत्य, तप, अन्तर्दृष्टि, सम्यक् ज्ञान, बल, कर्मनिष्ठा, के जीवन का समर्थन करती है । जब तक इस स्थिति को प्राप्त न करले तब तक आध्यात्मिक जीवन के साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिये ।

४. गुरु-दीक्षा की आवश्यकता

नैतिक सद्गुणों के पूर्णतया सम्पादन के बाद एक योग्य गुरु से दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है । उपनिषदों में गुरु दीक्षा की आवश्यकता पर समय-समय पर जोर दिया गया है । छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम केवल औरों की सम्मतियाँ प्रदर्शित कर रहा है, जब वह अपने गुरु से यह कहता है कि अब तक उसने गुरु-तुल्य वन्दनीय पुरुषों से यही सुना है कि जब तक गुरु-द्वारा आत्म-साक्षात्कार की दीक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता (मूल० ५–क) । आध्या-

त्मिक ज्ञान के प्रवाह के उच्चतर धरातल से निम्नतर धरातल की ओर नैसर्गिक अवतरण में विश्वास के साथ कठोपनिषद् हमें बतलाती है कि "यदि धर्म गुरु वास्तव में उच्चकोटि का आत्म-ज्ञानी न हो तो आध्यात्मिक-ज्ञान की प्राप्ति कठिन होगी, और पुनः जब, यदि दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु से नहीं ली जाती जिसने आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर लिया है, तो उस सूक्ष्म मार्ग के ज्ञान की कोई आशा नहीं की जा सकती, जो तर्क और विवाद की शक्ति से परे है। तर्क-कूटों में हमें अपनी बुद्धि का अपव्यय नहीं करना चाहिये, क्योंकि बिना दूसरे के द्वारा दीक्षा प्राप्त किये हम आत्म-ज्ञान की प्राप्ति की आशा कैसे कर सकते हैं?" (मूल० ५–ख)। एक दूसरे अवतरण में वही उपनिषद् कहती है कि "उठो, जागो और अपने से श्रेष्ठ पुरुषों से ज्ञान सीखो, क्योंकि आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलना इतना ही कठिन है, जितना कि तलवार की धार पर चलना। कवियों ने इसे दुर्गम पथ ठीक ही कहा है (मूल० ५–ग)।" इन तथा अन्य अवतरणों से यह स्पष्ट है कि आत्म-ज्ञान मनुष्य को केवल अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से नहीं मिल सकता, क्योंकि हमें बतलाया गया है कि ज्ञान इतना सूक्ष्म तथा रहस्य-मय है कि कोई भी अपने वैयक्तिक प्रयासों से इसकी प्राप्ति की आशा नहीं कर सकता। दूसरे यह आवश्यक है कि गुरु जिसके पास हम विद्या सीखने जायँ, वह ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव अवश्य कर चुका हो। क्योंकि जब तक गुरु ने इस तादात्म्य का अनुभव न किया होगा, जब तक, दूसरे शब्दों में, वह एक एकत्व के अनुभव के उच्च शिखर पर स्थित न होगा, तब तक उसका दिया हुआ ज्ञान उसके शिष्य में सफल नहीं हो सकता। आत्म-ज्ञान सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता के विषय में प्रायः सन्देह प्रकट किये गये हैं। यह कहा जाता है कि पुस्तकों की सहायता से ज्ञान प्राप्त क्यों नहीं कर सकते? ऐसी शंकायें उपस्थित करने वालों को यह स्मरण करना चाहिये कि प्लेटो ने पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान और गुरु के श्रीमुख से प्राप्त ज्ञान के तुलनात्मक मूल्य के विषय में क्या कहा था? पहला नितान्त निर्जीव है और दूसरा गुरु के परिपूर्ण विकसित जीवन का निष्कर्ष है। यह जगत् में सम्भाव्य समस्त अन्तर है। क्योंकि पुस्तकें परमार्थ के पथ की कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकतीं, किन्तु सद्गुरु, जिसने उस पथ पर विचरण किया है, अपने उत्साही शिष्य को आध्यात्मिक पूर्णता की सोपान-पंक्ति पर एक-एक पद करके धीरे-धीरे सम्हाल कर ले जा सकता है।

५. अन्ध-गान्धार का दृष्टान्त

एक सद्गुरु अपने शिष्य को किस प्रकार अध्यात्म-मार्ग पर ले जाता है, इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला एक बड़ा मनोरंजक दृष्टान्त छान्दोग्योपनिषद् में है। वहाँ हमें बतलाया गया है। कथा इस प्रकार है कि गान्धार देश के एक पुरुष को कुछ डाकूओं ने आँखें बाँध कर एक एकान्त तथा घोर अरण्य में ले जाकर, उसे यथेच्छ विचरने को छोड़ दिया। जब वह अपने देश जाने के लिये सहायता और पथ-निर्देश के लिये करुण चीत्कार कर रहा था, एक मनुष्य जो अकस्मात् वहाँ से निकला बोला, "उस दिशा में जाओ, उस दिशा में गान्धार देश है।" अपनी बुद्धि का यथाशक्ति उपयोग करता हुआ, वह एक गाँव से दूसरे गाँव का मार्ग पूछता हुआ बड़े कष्ट से अपने घर लौट कर आया (मूल० ६)। यह अन्ध-गान्धार का दृष्टान्त आध्यात्मिक ज्ञान से उतना ही परिपूर्ण है जितना कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' (Republic) का गुफा का दृष्टान्त। यह एक विशद रूप में आत्मा के मूल अज्ञान-अन्धकार से लेकर उसके ज्ञानालोक तक की समस्त प्रक्रिया को स्पष्ट कर देता है। हमारा वास्तविक देश तो ब्रह्म-लोक है, वहाँ से वासनाओं के डाकू नश्वर वस्तुओं के प्रति हमारी अनुरक्ति से हमारी आँखें बाँध कर हमें अज्ञान के इस घोर अरण्य में ले आये हैं। यहाँ हम सहायता के लिये करुण चीत्कार करते हैं, जिससे हमें प्रकाश मिल सके और जो हमें ब्रह्मलोक तक पहुँचा दे। अकस्मात् हमें अध्यात्मगुरु मिल जाता है, सम्भवतः हमारे पूर्व-जन्मों के सुकृतों के प्रतिफल रूप। सद्गुरु हमें हमारे स्वदेश के पथ का बोध कराता है, तब अपनी शक्तियों का यथासाध्य उपयोग करते हुये, हम अध्यात्म-पथ पर क्रमशः पद-पद बढ़ते जाते हैं, जब तक कि हम ब्रह्म-लोक में नहीं पहुँच जाते, जो हमारा मूल स्थान है।

६. ज्ञानोपदेश के निर्बन्ध

साधक शिष्य को अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा देने के पूर्व गुरु को कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। मुण्डकोपनिषद् हमें बतलाती है कि जब तक शिष्य ऐसा कठोर कार्य पूर्ण न कर ले जैसे कि अपने शिर पर अग्नि वहन करना, तब तक गुरु को उसे अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिये (मूल० ७—क)। इस अवतरण का जो ऐसी कठोर चेतावनी देता है, यह भी अभिप्राय निकाला गया है कि किसी मनुष्य को अध्यात्म पथ पर प्रवेश करने का अधिकार नहीं है, जब तक वह मुण्डित नहीं है। इसका अभिप्राय

यह है कि संन्यासी ही अध्यात्म-ज्ञान का योग्य साधक हो सकता है। संन्यास-आश्रम की किसी प्रकार अवज्ञा करना हमारा अभिप्राय नहीं है, किन्तु हम यह कह सकते हैं कि उपनिषदों के अवतरण सदा संन्यास को ही अध्यात्म-ज्ञान का एकमात्र साधन नहीं मानते। छान्दोग्योपनिषद् का कथन है कि "अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा ज्येष्ठ पुत्र को अथवा उस शिष्य को ही देनी चाहिये, जिसने गुरु के साथ बहुत दिन तक जीवन व्यतीत किया है, किसी अन्य को नहीं। समुद्रवलयामेखलित समस्त वसुन्धरा-व्यापी कोष से भी अध्यात्म-ज्ञान का मूल्य कहीं अधिक है" (मूल० ७–ख)। श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक अवतरण जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और जो उपनिषदीय वाङ्मय में प्रथम बार 'भक्ति' शब्द प्रयोग करता है, हमें बतलाता है कि जब तक शिष्य की गुरु और ईश्वर में पूर्ण 'भक्ति' नहीं हो, तब तक उसको आध्यात्मिक रहस्य नहीं खोलना चाहिये (मूल० ७–ग)। अस्तु, हम देखते हैं कि किस प्रकार सद्गुरु को अध्यात्म-ज्ञान के उपदेश में सतर्क होना चाहिये। आगे चलकर उसी 'भक्ति' शब्द को लेकर भगवद्गीता हमें बतलाती है (अध्याय १८, श्लोक ६७) कि उसको अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिये जिसने दीर्घ तप द्वारा अपने को उसके योग्य नहीं बना लिया है तथा जिसकी गुरु और ईश्वर में पूर्ण भक्ति नहीं है, अथवा जिसके हृदय में आध्यात्मिक-ज्ञान के प्रति तिरस्कार की भावना है।

७. प्रणव-ध्यान : आत्मज्ञान का साधन

सद्गुरु शिष्य को ध्यान का जो प्रत्यक्ष साधन बतलाता है वह उपनिषदों में एक मत से ॐकार बतलाया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ॐकार को ध्यान का परम-साधन ही नहीं बतलाया गया है, वरन् ॐकार ध्यान का परम साध्य है। भारतीय दर्शन में ॐकार का वही स्थान है, जो ईसाई दर्शन में 'लॉगॉस' (Logos) का। उपनिषदों में ॐकार के द्वारा ध्यान के प्रभाव के महत्व का उल्लेख बार-बार किया गया है। "समस्त वेद जिस अक्षर की घोषणा करते हैं, जो समस्त तपों का साध्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए लोग ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। वह अक्षर, तुम्हें बतलाता हूँ, संक्षेप में 'ॐ' है। ॐ परब्रह्म है। ॐ परम अक्षर है। ॐ परम आश्रय है" (मूल० ८–क)। इन शब्दों के द्वारा कठोपनिषद् ध्यान के साधन और साध्य को एक रूप कर देती है। सारांश में ॐ आध्यात्मिक जीवन के साधन और साध्य का प्रतीक है। छान्दोग्योपनिषद् यह घोषणा करती है कि समस्त श्रुति इस ॐकार के आधार पर इसी प्रकार अनुस्यूत है जिस प्रकार एक वृक्ष की

शाखा पर पल्लवदल (मूल० ८-ख)। मुण्डकोपनिषद् एक बड़ी सुन्दर उपमा की सहायता से हमें बतलाती है कि "हमें अपने हाथ में उपनिषदों का धनुष लेना चाहिये और उस पर उपासना-निशित आत्मा का वाण रखना चाहिये। फिर उसे एकाग्र चित्त से चढ़ाकर अक्षर ब्रह्म के लक्ष्य का वेधन करना चाहिये। यह रहस्यात्मक प्रतीक प्रणव धनुष है, आत्मा वाण है और ब्रह्म वेध्य लक्ष्य है। हमें अविचल ध्यान से इसका वेधन करना चाहिये, जिससे वाण लक्ष्य-मय हो जाय" (मूल० ९)। यहाँ हमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार वाण की शिरा को तीक्ष्ण बनाने के लिए उपासना की आवश्यकता है। किस प्रकार केन्द्रित एकाग्रता और अविचल प्रयास आत्म-वाण द्वारा ब्रह्म लक्ष्य के वेधन के लिए अपेक्षित है और अन्त में, किस प्रकार वाण लक्ष्य-मय हो जाना चाहिये जिससे उसकी कोई पृथक् सत्ता ही न रहे। यदि एकत्व के जीवन की अभिव्यक्ति किसी रूपक द्वारा हो सकती है—और यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त शाब्दिक अभिव्यंजनायें वास्तविक अनुभव से अधूरी बैठती हैं—तो मुण्डकोपनिषद् द्वारा आविष्कृत वाण और लक्ष्य के रूपक को एक उत्तम रूपक मानना चाहिये, क्योंकि यह जीवात्मा और परमात्मा के ऐसे तादात्म्य की भावना को, जिसमें जीवात्मा के पृथक् व्यक्तित्व का एकांत लोप हो जाय, यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति कर देता है। आगे चलकर ॐकार केवल व्यक्तिगत श्रेय ही नहीं रखता, वरन् विश्व-श्रेय का सम्पादक है। यह ध्यान का केवल व्यक्तिगत साधन नहीं है, वरन् हमें बतलाया गया है कि स्वयं सूर्य भी प्रणव-गान करता हुआ विश्व की प्रदक्षिणा करता है (मूल० १०)। अन्त में प्रश्नोपनिषद् प्रणव-ध्यान के नैतिक श्रेय पर प्रकाश डाला गया है, जहाँ सत्यकाम अपने गुरु से पूछता है कि मृत्यु पर्यन्त निरन्तर प्रणव-ध्यान करते रहने से मनुष्य की क्या गति होती है और उसे यह उत्तर मिलता है कि "जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रणव-ध्यान करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त होता है और अपने जप की शक्ति से परमलोक को जाता है, जहाँ उस 'पुरुष' के दर्शन करता है, जो शरीर की सचेतन प्राण-शक्ति है, और जो समस्त जीवभूतों से परम श्रेष्ठ है (मूल० ११)।

८. माण्डूक्योपनिषद् में प्रणव-प्रशस्ति

माण्डूक्योपनिषद् में भी प्रणव की विशेष प्रशंसा की गई है और उसे अधिक आध्यात्मिक महत्व दिया गया है। हमें बतलाया गया है कि इसमें केवल तीन मात्रायें—अ,उ,म् ही नहीं हैं, वरन् इसमें एक चौथा मात्रा-हीन

भाग भी है। ॐ के इन चार भागों के करने की चेष्टा में माण्डूक्योपनिषद्-कार का स्पष्ट उद्देश्य ॐकार के चार भागों को एक ओर चेतना की अवस्थाओं के और दूसरी ओर आत्मा के प्रकारों के साँगतिक वनाना है। ॐ को सूक्ष्म रूप से चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और आत्मा के विविध प्रकारों का प्रतीक माना गया है। अस्तु, एक ओर यह जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरीयावस्था का प्रतीक है। दूसरी ओर यह विविध प्रकार की आत्माओं—वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और आत्मा का प्रतीक है। ॐकार का अमात्रिक भाग मन की तुरीयावस्था का साँगतिक है तथा तत्वज्ञान की चतुर्थ कोटि आत्मा का भी। वैश्वानर स्थूल पदार्थों का उपभोग करने वाली है, और तैजस् सूक्ष्म पदार्थों का। प्राज्ञ को दर्शन के ईश्वर के समान बतलाया गया है जो 'सबका प्रभु, सर्वज्ञ, सर्वान्तिर्यामी नियन्ता, भूतमात्र की उत्पत्ति और निलय का कारण है। इन सबसे पृथक् आत्मा है, जो माण्डूक्यो-पनिषद् के मत से दर्शन के ब्रह्म के वरावर है। यह न अन्तःप्रज्ञ है, न वहिःप्रज्ञ है, और न उभयप्रज्ञ है, यह न प्रज्ञानघन है और न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य है। यह एकात्म प्रत्यय-सार है। यह विश्व के निखिल प्रसार का निषेध करता है और शान्त, शिव तथा अद्वितीय है (मूल० १२—क)। इसके अंगों की मानसिक तथा तात्विक सांगतिकता का आध्यात्मिक महत्व, चेतना की अन्य अवस्थाओं को पार करने तथा उनकी सांगतिक आत्माओं का निषेध करने के वाद तुरीयावस्था में इसका ध्यान करने से आत्मा के साक्षात्कार में मिलने वाली सहायता में है। हम माण्डूक्योपनिषद् से अधिक प्रणव-ध्यान का महत्व तथा इसका इतना आध्यात्मिक मूल्य अन्यत्र नहीं पाते।

९. योगाभ्यास

उपनिषदों का उद्देश्य एक व्यावहारिक उद्देश्य है। हम उपनिषदों में योग-साधन द्वारा साक्षात् ब्रह्म-प्राप्ति के व्यावहारिक प्रयोगों के संकेत विखरे हुए पाते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में हमें बतलाया गया है कि हमें अपने शरीर को नीचे की अरणी समझना चाहिये और प्रणव-ध्यान को ऊपर की अरणी, और दोनों अरणियों के परस्पर संघर्ष से अपने में गुप्तरूप से सन्निहित ईश्वर रूपी अग्नि को प्रमन्यन द्वारा प्रकट करना चाहिए (मूल० १३—क)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलने वाली आध्यात्मिक प्रमन्थन की प्रक्रिया में नीचे और ऊपर की अरणियों के रूप में शरीर और प्रणव का प्रसंग ध्यान रखने योग्य है, क्योंकि यह हमें कठोपनिषद् के एक अन्य अवतरण की ठीक-ठीक व्याख्या करने में

सहायक होता है। जिस प्रकार एक गर्भिणी स्त्री के गर्भ में स्थित भ्रूण की भाँति अग्नि दोनों अरणियों के बीच में सुरक्षित रूप से संस्थित है और जिस प्रकार लोग उस उद्देश्य से अहरह आहुतियों द्वारा उसकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यास में भी शरीर और प्रणव रूपी दो अरणियों के बीच में—जैसी कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रसंग में हम इस वाक्य की व्याख्या करते हैं—वह आत्मिक अग्नि (ब्रह्माग्नि) अन्तर्निहित है जिसकी उपासना हमें अहरह जाग्रत रह कर तथा अपनी मनोवृत्ति की आहुति देकर करनी है (मूल० १३–ख)। कठोपनिषद् के इस अवतरण की व्याख्या एक और प्रकार से की जा सकती है, क्योंकि (जैसाकि) हम उसी उपनिषद् में कुछ आगे चलकर यह देखते हैं कि योग प्रक्रिया की दो अरणियाँ प्राण और अपान दोनों वायुओं को भी मान सकते हैं और इन दोनों के बीच में वह दिव्य रूप ईश्वर संस्थित है, जिसकी समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं (मूल० १४-क)। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार दोनों अरणियों को शरीर और प्रणव मानने के स्थान पर हम उन्हें प्राण और अपान वायुओं के अर्थ में भी ग्रहण कर सकते हैं, जिनके बीच में दिव्य-रूप आत्मा विराजमान है। माण्डूक्योपनिषद् में भी इसका प्रसंग अभावनीय नहीं, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि मन आत्म-शुद्धि के लिए प्राण पर अवलम्बित है और प्राणायाम के द्वारा पहले मन-शुद्ध हो जाने पर ही आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है।

१०. श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग-मीमांसा

श्वेताश्वतरोपनिषद् की योग-मीमांसा अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय में हमें योगाभ्यास और उसके फल का शास्त्रीय तथा व्यवस्थित विवेचन मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह हमें उपनिषदीय-युग के उस काल में ले जाती है जबकि योग-सिद्धान्त परवर्ती दर्शन में पूर्णरूप से संगठित हो चुका था। हमें बतलाया गया है कि "हमें अपने शरीर के तीनों उन्नत भागों को एक सरल रेखा में रखना चाहिए और अपने मन को इन्द्रियों सहित हृदय में सन्निहित करके हमें ब्रह्म का एकाग्र ध्यान करना चाहिये और ब्रह्मरूपी नाव से आत्म-विकास के प्रतिरोध के समस्त प्रवाहों को पार करना चाहिए। प्राण-निरोध करके तथा कर्मों को नियमित करके हमें अपने प्राण को नासिक मार्ग से बाहर निकाल देना चाहिए, जब वह श्वास-क्रिया के कारण पूर्ण श्रान्त हो जाय, तब हमें अपने मन को संयमित करना चाहिये जो बड़े उच्छृंखल घोड़ों वाले रथ के समान है। हमें योग साधन के लिए एक समतल

तथा शुद्ध भूमि पर बैठना चाहिये, जो कंकड़, अग्नि, और रेत से रहित हो और कोलाहल तथा सरोवरों से दूर हो। हमारे योग-साधन का स्थान मन के लिये आनन्ददायक हो और आँख के लिए कष्ट-दायक न हो। योग-साधन के लिए पर्वत-कन्दरा के किसी प्रशान्त स्थान की प्रयोजना उत्तम है (मूल० १५–क)। श्वेताश्वतरोपनिषद् भी हमारे सामने योगाभ्यास द्वारा प्राप्य शारीरिक चमत्कारों का रहस्य खोलती है। "जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाला योग का पंचांग-प्रभाव पूर्ण रूप से परिस्फुट प्रक्रिया का स्वरूप धारण कर लेता है तो योग-साधक को रोग, जरा, मृत्यु आदि सबका भय दूर हो जाता है, क्योंकि उसका शरीर योगाग्नि से परिप्रोत हो जाता है। उसका शरीर बहुत हलका हो जाता है; वह पूर्ण आरोग्य तथा वासना-मुक्त हो जाता है, उसका वर्ण उज्ज्वल और कान्तिमान हो जाता है और स्वर बड़ा मधुर हो जाता है, उसके शरीर से सुगन्ध निकलने लगती, उसका मूत्र-पुरीस अल्प होता है। इन्हीं चिह्नों से योग-साधक को यह निर्णय करना चाहिये कि उसका अभ्यास पूर्णता की ओर बढ़ रहा है (मूल० १५–ख)। योगाभ्यास की आध्यात्मिक परिस्थितियों का विवेचन, जो हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलता है, हम इसी अध्याय में कुछ आगे चलकर करेंगे। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल योगाभ्यास के विविध अंगों तथा उनके शारीरिक प्रभावों के सांग निरुपण से है।

११. ब्रह्म-प्राप्ति की अन्तर्वृत्ति

योग-साधन का लक्ष्य स्पष्ट रूप से ब्रह्म-प्राप्ति है। किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार की प्रकृति के विवेचन के पूर्व हमें एक अन्य प्रश्न पर विचार करना है—साधक किस अन्तर्वृत्ति द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है? यह कोई इन्द्रिय है, अथवा बुद्धि है अथवा कोई अतीन्द्रिय तथा प्रज्ञातीत आत्म-प्रेरणा की अन्तर्वृत्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् हमें बतलाती है कि ब्रह्म का स्वरूप हमारे दृष्टिक्षेत्र की परिधि के अन्तर्गत नहीं है। "दृष्टि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करने में कभी कोई मनुष्य समर्थ न हो सका है और न किसी के लिये हृदय, कल्पना अथवा मन के द्वारा उसका साक्षात्कार सम्भव है। जो इस सनातन शिव सत्य को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं (मूल० १६–क)। परवर्ती शास्त्रकारों ने इस अवतरण की व्याख्या दूसरे ही ढंग से की है। उनका कथन है कि चाहे ईश्वर के 'स्वरूप' का साक्षात्कार हमारे लिए सम्भव न हो, फिर भी हृदय, कल्पना, अथवा मन द्वारा उसकी

अनुभूति प्राप्त कर लेना हमारे लिए सम्भव है ।" यह ठीक है कि व्याकरण की दृष्टि से उक्त अवतरण की इस व्याख्या में भी कोई दोष नहीं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कठोपनिषद् का वह श्लोक जो इसके आगे ही आता है यह स्पष्ट कर देता है कि ब्रह्म की अनुभूति की प्राप्ति वाणी, मन अथवा दृष्टि से सम्भव नहीं। केवल उन्हीं के लिए, जो यह जानते हैं कि 'ब्रह्म है,'—केवल उन्हीं के लिए, अन्य किसी के लिये नहीं—ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है" (मूल० १६–ख) । यहाँ हमें यह बतलाया गया है कि मन द्वारा ब्रह्म की अनुभूति असम्भव है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कठोपनिषद् के पूर्व श्लोक के दूसरे चरण में निषेधात्मक क्रिया विशेषण को 'समझना' चाहिए, जिसका अभिप्राय उस स्थिति में यह होगा कि हम मन के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति कभी प्राप्त नहीं कर सकते। कठोपनिषद् के पिछले श्लोक में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि ब्रह्म-साक्षात्कार का स्वरूप वही है, जो एक 'वस्तु' अथवा 'घटना' के प्रत्यक्ष दर्शन का है। इसके विषय में किसी शंका के लिये स्थान नहीं है। उसके विषय में कोई तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता। इस विषय में कोई विचार भी सम्भव नहीं। यदि तुम केवल इतना जानते हो कि 'ब्रह्म है' तभी तुम 'ब्रह्म' का साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हो। पूर्वापर के सूक्ष्म विवेचन से उसके स्वरूप के तार्किक विश्लेषण अथवा किसी कल्पनात्मक अथवा प्रज्ञात्मक समीक्षा से 'घटना' के मूल्य में कोई क्षति नहीं आ सकती। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि न इन्द्रियाँ और न मन हमें ब्रह्म-साक्षात्कार में समर्थ बना सकता है। किन्तु एक और प्रश्न उठता है—यदि ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव भी है, तो क्या मनुष्य के पास कोई ऐसी अन्तर्वृत्ति है जिसके द्वारा वह ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। इस प्रश्न का उत्तर कठोपनिषद् का एक अन्य श्लोक देता है। "यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृतरूप से सन्निहित है, वह सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं, केवल सूक्ष्मदर्शी ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं" (मूल० १६–ग)। यह सूक्ष्म बुद्धि भी हमें ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकती है अथवा नहीं इस विषय में भी मतभेद है। भगवद्गीता के एक अवतरण में (अध्याय ६, श्लोक–२१) हमें बतलाया गया है कि जिस प्रकार ब्रह्म समस्त इन्द्रियों और मन से परे है, उसी प्रकार वह बुद्धि से भी परे है। किन्तु जब शब्द ब्रह्म-साक्षात्कार की अन्तःप्रवृत्ति के स्वरूप का यथार्थ निदर्शन करने में असफल रहते हैं, तो सुविधा के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द—बुद्धि अथवा अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह लीजिये—आविष्कृत कर लेना और उसे ब्रह्म

साक्षात्कार का उत्तरदायी बनाना उपयुक्त है। किन्तु उपनिषद् एक और लहर लेती है और ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रश्न को मनोवैज्ञानिक नहीं, वरन् नैतिक दृष्टिकोण से देखती है। अस्तु, मुण्डकोपनिषद् हमें बतलाती है कि "जब ज्ञान-प्रसाद से मनुष्य का समस्त नैतिक व्यक्तित्व स्वच्छ और शुद्ध हो जाता है, तभी वह चिन्तन द्वारा निष्कल ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह न दृष्टि से, न वाणी से, न किसी अन्य इन्द्रिय से, न तप से, न कर्म से प्राप्त हो सकता है" (मूल० १७–क)। कठोपनिषद् के उस अन्य अवतरण का भी यही आशय है जो हमें यह बतलाता है कि" जब शरीर समस्त कलमषों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है तभी मनुष्य ब्रह्म की महत्ता का अनुभव कर सकता है" (मूल० १७–ख)। उक्त अवतरण में हम "धातु : प्रसाद" के स्थान पर "धातु-प्रसाद" इस पाठ को अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि हमारे विचार से धातृ अथवा विधाता की कल्पना उक्त अवतरण में एकान्त असंगत है और केवल बरबस ठूँसी जा सकती है; शरीर शुद्धि का अर्थ नितान्त स्वाभाविक तथा सुसंगत है।

१२. ईश्वर की सर्व-व्यापकता

कठोपनिषद् के उक्त अवतरण की भाँति उपनिषदों में स्थान-स्थान पर हमें यह बतलाया गया है कि साधक ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। उसी उपनिषद् का एक अन्य अवतरण हमें बतलाता है कि "हमें साहस के साथ अपने शरीर से आत्मा का ग्रहण करना चाहिये, जिस प्रकार हम एक दूर्वादल को उसके मूल से बाहर निकाल लेते हैं। जब आत्मा इस प्रकार उद्भावित हो जाती है, तो मनुष्य को समझना चाहिये कि वह तेजोमय शाश्वत ब्रह्म है" (मूल० १८–क)। अबल शरीर से आत्मा के पृथक् ग्रहण की प्रक्रिया में शरीर में आत्मा की पूर्ण व्यापकता का भाव आमिश्रित है। आत्मा और शरीर का वही सम्बन्ध है, जो गेहूँ और उसके छिलके का है। गेहूँ को भूसे से पृथक् करना है, चाहे थोड़े समय तक वह उसे ढके रहे। "जिस प्रकार एक क्षुरा पेटिका में रक्खा जाता है अथवा एक पक्षी अपने नीड़ में बन्दी होता है, उसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा भी शरीर में आनख व्याप्त है" (मूल० १८–ख)। इसी प्रकार कौषीतकी उपनिषद् आत्मा की सर्व-व्यापकता की घोषणा करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् हमें बतलाती है कि जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में परिव्याप्त है" (मूल० १८–ग)। श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक अन्य अवतरण हमें बतलाता है कि "जिस प्रकार घी के

ऊपर एक अत्यन्त सूक्ष्म झिल्ली होती है, उसी प्रकार सर्व-भूत-व्यापी ब्रह्म भी समस्त विश्व को परिवेष्टित किये हुये है, जिसके मात्र ज्ञान से मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है" (मूल० १८–घ)। ब्रह्म की इस सर्वव्यापकता के उपदेश का सारांश यह है कि यदि मनुष्य समुचित रीति से प्रयत्न करे तो वह अपने अन्तस् में ही ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

१३. आत्मानुभूति के प्रकार

अपने अन्तस् में ही ब्रह्म-प्राप्ति की सम्भावना ही आत्म-शुद्धि और आत्म-चिन्तन की दीर्घ प्रक्रिया द्वारा साधक के ब्रह्मान्वेषण की प्रेरक है। आध्यात्मिक पथ पर साधक को प्राप्त होने वाले दिव्य-रूप और दिव्य-नादों के प्रसंगों का उपनिषदों में अभाव नहीं है, यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि वे परिपूर्ण अनुभव हैं। उपनिषदों में सामान्यतः चार प्रकार के आत्मानुभव बिखरे हुये दिखाई देते हैं, जिनका सम्बन्ध साधक को ध्यान-प्रक्रिया में अनुभव होने वाले वर्णों, नादों और प्रकाशों से है। इन विविध अनुभवों को एक दूसरे से पृथक् बिना किये ही हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों से इनकी ओर निर्देश करेंगे। श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय में साधक द्वारा अपने परमार्थ-पथ के प्रथम चरण पर ही अनुभव होने वाले भिन्न-भिन्न आकारों और प्रकाशों का प्रामाणिक प्रसंग मिलता है। हमें बतलाया गया है कि नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा आदि ऐसे ही स्वरूपों का अनुभव करते हैं (मूल० १९–क)। बृहदारण्यकोपनिषद् का एक प्राचीन अवतरण हमें प्रायः उसी स्वर में बतलाता है कि परमार्थ-पथ पर कुछ बढ़े हुये साधक को "केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्नि-शिखा, रक्तोत्पल, विद्युत् के आकस्मिक आलोक आदि ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं। यही अग्रगामी साधक के वैभव हैं" (मूल० १९–ख)। साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदीय साधकों को नाद की अपेक्षा रूप और तेज के अनुभव अधिक होते थे। उपनिषदों में नादात्मक अनुभवों के प्रसंग थोड़े ही हैं, और उनकी भी विशद उपपत्ति नहीं दी गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् में, जैसा कि मैत्री उपनिषद् में भी है, हमें बतलाया गया है कि पर-मार्थ-साधक कुछ आभ्यन्तरिक नादों का अनुभव करता है, जिनका सम्बन्ध उन उपनिषद्-कारों ने शरीर के अन्तर्गत संचालित होने वाली पचन-प्रक्रिया से कर दिया है। हमें बतलाया गया है कि "नाद मनुष्य की पचन-प्रक्रिया का परिणाम है, जिसे मनुष्य कान मूँदने मात्र से सुन सकता है और अन्त में

जब मनुष्य मरता है तो वह कोई शब्द नहीं सुन सकता" (मूल० २०-क)। ऐसे ही स्वर में छान्दोग्योपनिषद् हमें बतलाती है कि अन्तर्यामी सत्य-रूप आत्मा की सत्ता का निर्देश केवल कान मूँदने तथा वृषभ के डाँकने के शब्द अथवा मेघ-गर्जन अथवा अग्नि के घोर के समान नाद सुनने से प्राप्त हो सकता है (मूल० २०-ख)। आध्यात्मिक अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि केवल कान मूँदने से ही हमें वह अनाहत नाद सुनाई नहीं पड़ता, वरन् हम कान खुले होने पर भी इसे सुन सकते हैं और अन्त में यह कि एक बधिर पुरुष भी जो चाहे और कोई शब्द सुनने में समर्थ न हो, इस नाद को सुन सकता है। फिर हम इस अनाहत नाद को शरीर की प्रचन-क्रिया का परिणाम नहीं कह सकते। यह सत्य है कि अनाहत नाद किसी सीमा तक शारीरिक स्थितियों पर निर्भर है, किन्तु उसे शारीरिक स्थितियों का परिणाम कहना घोड़े के आगे गाड़ी लगा देने के समान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि उपनिषदों में परमार्थ-साधक को सुनाई देने वाले शब्दों का निश्चित प्रसंग है, किन्तु उपनिषद्-कार उनके यथार्थ-रूप से स्पष्ट उल्लेख तथा उनके स्वरूप का यथातथ्य निरुपण न कर सके। इसके विपरीत प्रकाश-रूपों के वर्णन में उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुई है। मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि अत्यन्त देदीप्यमान सुवर्ण-मण्डल पर निष्कल और शुभ्र ब्रह्म विराजमान है, जो समस्त तेजों का भी तेज है तथा जिसकी अनुभूति आत्म-ज्ञानी को ही हो सकती है" (मूल० २१-क)। छान्दोग्योपनिषद् हमें बतलाती है कि "संसार का सेतु पार कर लेने के बाद चाहे वह मनुष्य अन्धा ही क्यों न हो, वह अन्धा नहीं रहता; बेधने पर भी उसे कष्ट नहीं होता, इस सेतु को पार कर लेने के बाद रात्रि भी चिरन्तन दिवस की भाँति प्रकाशित हो जाती है, क्योंकि आत्म-साधक की दृष्टि के सामने एक बार और अकस्मात् सदा के लिये आलोकित हो जाता है" (मूल० २१-ख)। छान्दोग्योपनिषद् का एक अन्य अवतरण हमें बतलाता है कि ऐसे परमार्थ-साधक के सामने न सूर्यास्त है, न सूर्योदय है। उपनिषद्-कार का कथन है कि "यदि केवल यह सत्य हो कि ईश्वर के साथ मेरा सम्बन्ध न टूटे। मेरी इच्छा है कि कभी ईश्वर से मेरा विरोध न हो, जब तक न कोई सूर्यास्त होता है और सूर्योदय, तो उस आत्म-प्रकाशित आत्मा के सामने चिरन्तन दिवस रहता है" (मूल० २१-ग)। अन्त में इसी भाव की पुनरावृत्ति एक बार श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुई है, जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि जब आत्मज्ञानी के सामने, न दिन होता है और न रात होती है, न सत् होता है और न असत् तब उसके सामने केवल ब्रह्म होता है।" और इसी प्रकार ईश्वर की सर्व-

व्यापकता में सबका लय हो जाने के कारण ब्रह्म का दिन और रात, सत् और असत् से परे होना प्रमाणित करती है (मूल० २१-घ)।

१४. आत्मानुभूति का चरम

तेज और नादों के अनुभव, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है, यद्यपि वे परिपूर्ण अनुभूति के अग्रदूत कहे जा सकते हैं, तो भी वे आत्मानुभूति के चरम विन्दु नहीं। मुण्डकोपनिषद् का एक बहुत प्रसिद्ध अवतरण हमें बतलाता है कि "आत्मा की रुचि जिसके अनुकूल होती है उसके अतिरिक्त अन्य कोई आत्मानुभूति की प्राप्ति नहीं कर सकता। ऐसे ही पुरुष के सामने आत्मा अपने मूल स्वरूप को व्यक्त करती है (मूल० २२-क)। यही ईश्वरानुग्रह अथवा पुष्टि का सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर के पूर्ण साक्षात्कार के लिए ईश्वर के अनुग्रह के विना केवल मानवीय प्रयास सदा आदर्श से ओछे रहेंगे। जब आत्मा ही साधक को अपना परम वैभव दिखलाने का विचार करती है, तभी वह उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। तभी छान्दोग्योपनिषद् का सूर्य पर दिखाई देने वाले सुवर्णश्मश्रु, सुवर्णकेश, तथा आनख सुवर्ण तेज युक्त हिरण्मय पुरुष का ईशोपनिषद् के ऋषि की भाँति हमारी अन्तरात्मा से तादात्म्य हो सकता है (मूल० २२-ख)। तभी जीवात्मा परमात्मा से एक रूप हो सकती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् हमें बतलाती है कि "जिस प्रकार एक दर्पण, जो पूर्णरूप से स्वच्छ किया जा चुका है, निर्मल तथा उज्ज्वल प्रतिविम्व ग्रहण करने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार साधक योगी भी अपने को आत्मानुभव की सीमा पर देखता है और अपने प्रयासों के उद्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। पुनः जिस प्रकार वह प्रदीप की सहायता से किसी वस्तु को देख सकता है, उसी प्रकार आत्मा की सहायता से ब्रह्म का दर्शन कर सकता है, जो अज, ध्रुव तथा सर्वतत्वातीत है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के उक्त अवतरण में अभिप्रेत आत्म-स्वरूप की कल्पना मैत्री ऋषि के उपदेश से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है, जिन्होंने अपने शिष्य को "उपनिषदों का परम रहस्य सिखा दिया था, जब उन्होंने यह कहा था कि आत्मानुभूति की चरम सीमा पर योगी अपने अन्तस् से विस्फुरित होने वाले परम-तेज के प्रवाह में आत्म-स्वरूप का दर्शन करता है, जो वस्तुतः अमृत और अभय आत्मा का साक्षात्कार है (मूल० २२-ग)।

१५. आत्मा के विरोधों का समाधान

उपनिषदों में ऐसे अवतरण प्रचुरता से पाये जाते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष

अनुभूत आत्मा के विरोधी गुणों का समाधान करने की चेष्टा की गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् हमें यह बतलाती है कि "आत्मा न स्त्री है, न पुरुष, और न नपुंसक : जो कोई भी शरीर वह धारण करती है, उसी शरीर में वह निवास करती है" (मूल० २३–क)। ईशोपनिषद् हमें बतलाती है कि "आत्मा चल है और अचल भी; वह दूर भी है और निकट भी; वह समस्त वस्तुओं के अन्तर्गत भी है और बहिर्गत भी।" कठोपनिषद् का एक साहसिक योगी पूछता है—आत्मा के अतिरिक्त उसका अनुभव और कौन कर सकता है जो आनन्द का उपभोग करते हुये भी नहीं करती, जो बैठक के आसन में ही चलती तथा शयन की मुद्रा में सर्वत्र विचरण करती है?" मुण्डकोपनिषद् में आत्मा की असीम महत्ता और अत्यन्त सूक्ष्मता का समाधान करने की चेष्टा की गई है: "अचिन्त्यरूप आत्मा महान् तथा दिव्य है, फिर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह दूर से भी दूर है, फिर भी अत्यन्त निकट है, क्योंकि अन्तःकरण की गुहा में निहित है।" इसी प्रकार कठोपनिषद् एक प्रायः उद्धृत अवतरण में हमें बतलाती है, आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है और हमारे हृदय के अन्तर्देश में निहित है। दूसरी ओर श्वेताश्वतरोपनिषद् और कठोपनिषद् में ऐसे अवतरणों का अभाव नहीं है, जहाँ आत्मा को अंगुष्ठ-मात्र आकार का तथा सूर्य के समान आलोकमय बतलाया गया है, अथवा सुई की नोक के समान सूक्ष्म तथा बाल की नोक के शतांश के बराबर सूक्ष्म बतलाया गया है (मूल० २३–ख)। यह कहने का अभिप्राय क्या हो सकता है कि आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, चल भी है और अचल भी, दूर भी है और निकट भी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है तथा महान् से भी महान् है, अथवा अंगुष्ठमात्र है, इसे आत्मज्ञानी ही जानते होंगे। हम, जो बाह्य निरीक्षण के आदी हैं, इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि आत्मा की अनन्त-रूपता और अनन्त-महत्ता के ये विरोधाभास कैसे सुलझाये जा सकते हैं।

१६. आत्मानुभूति के प्रभाव फल

आत्मानुभूति से सिद्ध योगी के ऊपर जो मानसिक तथा अन्य प्रभाव होते हैं, उनका विवेचन उपनिषदों में अनेक स्थानों पर किया गया है। "जो आत्मा के साथ अपने एकत्व को पहचानता है और यह अनुभव कर लेता है कि वह आत्मा है—ऐसे पुरुष को किसी कार्य-ज्वर में क्यों प्रवेश करना चाहिये? उसकी इच्छायें पूर्ण हो चुकी हैं और उसका लक्ष्य प्राप्त हो गया (मूल० २४-क)। यह यही कहने के समान है कि जब पूर्ण योगी में आत्मा

के साथ तद्रूपता शरीर के साथ एकरूपता का स्थान लें लेती है, तो शारीरिक सुख की समस्त वासनाओं का शीघ्र लोप हो जाता है। पुनः "उसके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सन्देह छिन्न हो जाते हैं, उसके कर्म-फलों का नाश हो जाता है, जब वह परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है" (मूल० २४–ख)। निस्सन्देह जो अब तक उसके मन को उद्विग्न रखते थे और वे कर्म जिनके फलस्वरूप उसे दुःख भोगने पड़ते थे, तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं और हम पूर्ण योगी को उसके एक प्रधान लक्षण से पहचान सकते हैं कि उसे समाधान करने के लिये कोई संशय शेष नहीं रह जाता। जब वह एक बार सदा के लिए सत्य का निश्चित रूप से अविकार प्राप्त कर लेता है, तब उसके लिये और कौनसा संशय रह सकता है? तीसरे, मुण्डकोपनिषद् में हम आत्मानुभूति के पहले योगी की अक्षमता और आत्मानुभूति के बाद उसकी शक्ति का महान् अन्तर देखते हैं। "यद्यपि अब तक जीवात्मा परमात्मा के साथ एक ही वृक्ष पर रहती रही, वह अब तक मोहासक्त थी तथा पूर्ण अक्षमता के कारण दुखी थी; किन्तु जब वह एक बार सर्व शक्तिमान ब्रह्म से एकरूप हो गई तो उसका शोक तत्क्षण दूर हो गया और वह ब्रह्म की निःस्सीम शक्ति की भागिनी होगई" (मूल० २४–ग)। तैत्तिरीयोपनिषद् में में उस असीम आनन्द का प्रामाणिक वर्णन मिलता है जिसका अनुभवसिद्ध योगी को ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद होता है। एक पिछले अध्याय में हमें आनन्द मीमांसा के प्रसंग में इसके वर्णन का अवसर मिल चुका है। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् प्रायः एक शृङ्गारिक रहस्यवाद के स्वर में हमें बतलाती है कि ईश्वर-साक्षात्कार की एक मात्र उपमा-निश्चय ही एक अपूर्ण तथा एक देशीय उपमा—जो हमें संसार में मिल सकती है, वह अपनी प्रियतमा पत्नी के समागम से प्राप्त होने वाला आनन्द है। "जिस प्रकार मनुष्य को अपनी प्रियतमा पत्नी के परिरम्भण के बाद अन्तर्बाह्य की किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा के परिरम्भण के बाद समस्त बाह्याभ्यन्तर वस्तुओं को भूल जाती है, क्योंकि उसने वह लक्ष्य पा लिया जिसके अन्तर्गत समस्त लक्ष्यों का समाहार है। वस्तुतः ब्रह्म की प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता" (मूल० २४–घ)। हम नहीं कह सकते कि यह उपमा कहाँ तक युक्ति-संगत है। किन्तु अन्त में, ऐसा प्रतीत होता है कि केवल कोटि का अन्तर होने के अतिरिक्त दोनों आनन्दों में, जिनकी तुलना बृहदारण्यकोपनिषद् ने की है, एक प्रकार-भेद भी है; अथवा दूसरे आनन्द के सामने पहला आनन्द इतना तुच्छ है कि उनमें उतना ही साम्य है जितना दीपक की ज्योति और सूर्य के प्रकाश में है।

पुनः, ऐसी समस्त शृङ्गारिक उपमाओं में एक यह दोष होता है कि ऐन्द्रिक सुखों में प्रवृत्त रहने वाले लोग यह निर्मूल कल्पना कर सकते हैं कि वे कम से कम इस प्रकार निःस्सीम परमानन्द के किसी न किसी अंश का अनुभव अवश्य कर रहे हैं। हमारी सम्मति में आत्मा और परमात्मा के सम्वन्ध का किसी प्रकार भी पत्नी और पति के सम्बन्ध के साथ साम्य स्थापित करना मूर्खता है। तथा पति और पत्नि के सम्बन्ध के साथ उसका साम्य तो और भी अधिक मूर्खता है, जैसा कि कुछ आध्यात्मिक प्रतीत होने वाले उपदेशों में किया जाता है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा के समाधिगत सम्बन्ध की कोई उपमा नहीं हो सकती। अस्तु, अपने विवेचन की ओर लौट कर, पाँचवे तैत्तिरीयोपनिषद् में हमें वतलाया गया है कि "ब्रह्मानन्द की अनुभूति का पहला प्रभाव यह होता है कि योगी एक वार सदा के लिये भय की भावनाओं से मुक्त हो जाता है। एक प्रकार की वृत्ति दूसरे प्रकार की वृत्ति का नाश कर देती है। और आनन्द का भाव अन्य समस्त वृत्तियों का नाश कर देता है। ऐसा सिद्ध योगी किस का भय करे और किस लिये,जब कि वह सर्वत्र और सब काल अनन्त आनन्द का अनुभव करता है ?" तैत्तिरीयोपनिषद् का कथन है कि "वह निर्भय हो जाता है क्योंकि वह अदेह, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय तथा सबके निरालम्ब, आश्रय ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है (मूल० २४–ङ)।" अन्त में, हमें बतलाया गया है कि 'यदि योगी को किसी लक्ष्य की पूर्ति की आवश्यकता भी पड़े, तो उसे आत्म की सेवा में उपस्थित होना चाहिये और नितान्त निरहंकार भाव से अपनी इच्छा की पूर्ति की प्रार्थना करनी चाहिये, तो तत्क्षण ही उसकी वह इच्छा पूर्ण होगी, जिसके लिये उसने आत्मा से प्रार्थना की है" (मूल० २५–क)। छान्दोयोपनिषद् का कथन है कि "आत्मा निष्पाप, अजर, अमर, अभय, क्षुत्पिपासा रहित तथा सत्य-संकल्प है। इसी आत्मा की खोज करनी चाहिये; इसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो आत्मा के अन्वेषण द्वारा उसके इस स्वरूप का अनुभव कर लेता है, उसे समस्त लोकों की प्राप्ति हो जाती है और उसकी समस्त वासनाओं की तृप्ति हो जाती है"। (मूल० २५–ख)। मुण्डकोपनिषद् भी हमें बतलाती है कि "मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है और वह चाहे जिस लोक की प्राप्ति कर सकता है, यदि वह केवल आत्म-ज्ञानी योगी की सेवा तथा उपासना करता रहे" (मूल० २५–ग)। सारांश में, इस प्रकार हम देखते हैं कि योगी पर आत्मानुभूति का तात्कालिक प्रभाव, शारीरिक उद्वेगों का पूर्ण उपशम,

समस्त संशयों का समाधान, अनन्त शक्ति की प्राप्ति, अपरिमित आनन्द का उपभोग, सम्पूर्ण भय का नाश, तथा प्रत्येक वांञ्छित फल की प्राप्ति है।

१७. परमानन्द

उपनिषदों में हमारे लिये कुछ आत्म-ज्ञानियों के स्वागत भाषण सुरक्षित हैं, जिनमें आत्मानुभूति के परमानन्द का सार है। जब मुण्डकोपनिषद्-कार को शाश्वत ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया, तो उसके हृदय में परमानन्द का उद्रेक होने लगा, जब उसने देखा कि "उसके सामने ब्रह्म है, उसके पीछे ब्रह्म है, उसके दायें ब्रह्म है, उसके बायें ब्रह्म है, उसके नीचे ब्रह्म है, उसके ऊपर ब्रह्म है," और वह लाइब्नीज़ के (Leibnitz) के इस उद्गार में फूट पड़ा कि "यह समस्त सम्भाव्य लोकों में सर्वोत्तम है" (मूल० २६)। वह इस संसार में जन्म लेने के लिए अपने को भाग्यशाली समझने लगा, क्योंकि क्या यह उसके भूमण्डल पर प्रकट होने के कारण नहीं था कि वह समुचित साधनों के अवलम्ब से क्रमशः एक-एक सोपान बढ़कर इस स्थिति तक पहुँच सका कि जिधर दृष्टि डालता है उधर ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं? बृहदारण्यकोपनिषद् के वामदेव ऋषि को ज्ञात हुआ कि "जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म को स्वानुभूति प्राप्त हुई, तब उसे जान पड़ा कि वस्तुतः सब कुछ वही था, उसी प्रकार देवताओं, मनुष्यों और ऋषियों में जो कोई आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेता है, वह वस्तुतः सर्व-मय हो जाता है और इस प्रकार उस ऋषि के मुख से, जिसके लिये अनन्त अतीत शाश्वत वर्तमान के समान था, यह उद्गार निकल पड़ा कि "यह वही था, जो मनु के रूप में हुआ था और उसी ने सूर्य को प्रकाश प्रदान किया था" (मूल० २७)। महाराष्ट्रीय सन्त तुकाराम की भाँति जिन्होंने अर्वाचीन युग में यह उद्गार प्रकट किया था कि प्राचीनकाल में जब शुक आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये पार्वत्य प्रदेश में गये थे, तो वह उस समय उनकी समाधि के महान् वृत्त को देखने के लिये, यदि इस शरीर से नहीं, तो आत्म-रूप में अवश्य उपस्थित थे। छान्दोग्योपनिषद् का योगी यह घोषणा करता है कि जिस प्रकार एक अश्व अपने अयाल गिरा देता है, उसी प्रकार वह अपने समस्त पापों से मुक्त हो चुका है, तथा जिस प्रकार राहु-ग्रस्त होने के उपरान्त चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण छटा के सहित उदय हो जाता है, उसी प्रकार उसने अपने शारीरिक बन्धन से मुक्त होकर आत्मा के रूप में शाश्वत जीवन प्राप्त कर लिया है (मूल०

२८)। पुनः तैत्तिरीयोपनिषद् में त्रिशंकु के उद्गार भी अपनी उदात्त भावनाओं के लिये स्मरणीय हैं। जब त्रिशंकु को आत्म-साक्षात्कार हो गया, तो वे हमें बतलाते हैं कि, वे ऐसा अनुभव करने लगे कि मानो वे "वृक्ष के संचालक हैं।" यह कौनसा वृक्ष है, जिसकी ओर त्रिशंकु का संकेत है ? यह शरीर रूपी वृक्ष हो सकता है अथवा यह संसार-रूपी वृक्ष भी हो सकता है। उपनिषद्-कारों तथा परवर्ती शास्त्रकारों ने शरीर और संसार की वृक्ष से प्रायः उपमा दी है। वस्तुतः त्रिशंकु आगे चलकर बतलाते हैं कि उनकी कीर्ति पर्वत-पृष्ठ की भाँति हो गई, जो यही कहने के समान है कि जब उन्हें आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो गया तो उन्हें आत्मा के उत्तुंग शिखर से प्रत्येक वस्तु इतनी तुच्छ ज्ञात होने लगी कि वे अपने को प्रत्येक वस्तु के शिखर के ऊपर अनुभव करने लगे। त्रिशंकु आगे चलकर हमें बतलाते हैं कि "वह उद्गम जिससे उनका जन्म हुआ है, परम पवित्रता है। क्या इसका लक्ष्य दिव्य-जीवन की ओर नहीं हो सकता, जिससे अखिल विश्व की सत्ता का उद्भव होता है। पुनः, त्रिशंकु हमें बतलाते हैं कि वह मानो "सूर्य में विराजमान अमर पुरुष" थे, जो ईशावास्योपनिषद् के अनुकूल जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का अभिव्यंजक है। और भी आगे त्रिशंकु का कथन है कि वे अपने को "अपरिमित निधि" समझते थे; सम्भवतः इसका संकेत आत्मानुभव की अपरिमित निधि की ओर हो, जिसे वे प्राप्त कर चुके थे। अन्त में, वे हमें बतलाते हैं कि वे वस्तुतः ज्ञानी अमर और अक्षय पुरुष हैं, और इस प्रकार ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर देते हैं (मूल० २६)। अन्त में, वह महायोगी जिसका समाधि के उपरान्त उद्वेलित हुआ उद्गार हमारे लिये तैत्तिरीयोपनिषद् में सुरक्षित है, हमें एक अवतरण में, जो उपनिषदीय तथा परवर्ती वाङ्मय में अपने उदात्त भावोद्रेक के लिये अपूर्व है, हमें बतलाता है कि जब वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा आनन्दमय आत्मा का अतिक्रमण कर उनसे परे पहुँच गया तो वह मात्र आत्म-सत्ता की भावना के एकान्त में परम शान्ति में संस्थित होकर विश्व-व्यापक एकत्व का स्वर्गीय संगीत गा-उठा "कितना आश्चर्य है, कितना आश्चर्य है, कितना आश्चर्य है। मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्न भोक्ता हूँ, मैं अन्न भोक्ता हूँ, मैं अन्न भोक्ता हूँ। मैं उनके एकत्व का विधायक हूँ, मैं उनके एकत्व का विधायक हूँ, मैं उनके एकत्व का विधायक हूँ।" ये जो उद्गार तात्विक दृष्टि से यही अर्थ रखते हैं कि वही जड़ पदार्थ है, वही चैतन्य है और वही दोनों को सम्बद्ध करने वाली अन्तः शृंखला है, तथा ज्ञान-शास्त्र की दृष्टि से यह अर्थ रखते हैं कि वही ज्ञाता, और ज्ञेय तथा समस्त ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

है—यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह श्रेणी है जहाँ पहुँच कर एक आधुनिक आदर्शवादी तत्व-वेत्ता के अनुकूल युद्धभूमि, योद्धा और युद्ध का अन्तर मिट जाता है। उस एकत्व के स्वर्गीय संगीत का परम मींड, जिन शब्दों में हुआ है, वे अन्य देशों के इसी प्रकार के आध्यात्मिक उद्गारों का स्मरण दिलाते हैं, "मैं धर्म का प्रथम पुत्र हूँ, मैं देवताओं से भी ज्येष्ठ हूँ, मैं अमरत्व का नाभि-केन्द्र हूँ; वह जो मुझे आत्म-समर्पण करता है, मुझे प्राप्त कर लेता है, मैं सूर्य के आलोक के समान दिव्यालोक से अखिल विश्व को परिवेष्टित किये हूँ" (मूल० ३०)।

मूल १

१ (क) तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पंथाः सुकृतस्य लोके ॥

मुं० I. 2. 1.

(ख) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अंधेनैव नीयमानाः यथांधाः ॥ अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्चवन्ते ॥ इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयन्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

मुं० I. 2. 7–11.

२ (क) प्राणाय स्वाहा। व्यानाय। अपनाय। समानाय। उदानाय। स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथांगारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् ।........। यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वान अग्निहोत्रं जुहोति। तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चंडालायोच्छिष्ठं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यात्।

छां. V. 19–24.

(ख) अथातः सांयमनं प्रातर्दनमांतरमग्निहोत्रमित्याचक्षते यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति यांवद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणो जुहोत्येतेऽनन्तेऽमृते आहुतीर्जाग्रच्च स्वपंश्च संततमव्यवच्छिन्नं

जुहोत्यथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो भवन्त्येतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुः ।

कौ. II. 5.

३ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदश्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ।

बृ. II. 4. 10.

४ (क) तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥

श्वे. VI. 21.

(ख) अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । उर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशंकोर्वेदानुवचमम् ॥

तै. I. 10.

५ (क) अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

ई. 10.

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

के. I. 3.

(ख) एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ।

छां. VI. 4. 5.

६ सो (मृत्युः)ऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति । स मनसा वाचं मिथुनं समभवत् ।...........। स तया वाचा तेन आत्मना इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच ऋचो यजूंषि सामानि छंदांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् ।

बृ. I. 2. 4–5.

७ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

क. I. 3. 1.

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

मु. III. 1. 1.

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगां अजोन्यः ॥

श्वे. VI. 5.

८ पृथिव्यंतरिक्षं द्यौर्दिशोऽवांतरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चंद्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुःश्रोतं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पांक्तं वा इदं सर्वं पांक्तेनैव पांक्तं स्पृणोतीति।

तै. I. 7.

स एष पांक्तो यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पांक्तमिदं सर्वं यदिदं किंच।

बृ. I. 4. 17.

९ (क) तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

श्वे. I. 4.

(ख) पंचस्रोतोंबुं पंचयोन्युग्रवक्रां पंचप्राणोर्मिं पंचबुध्यादिमूलाम्।
पंचवर्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पंचपर्वामधीमः ॥

श्वे. I. 5.

१० (क) उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते। .... अशनायापिपासे मे सोम्य

विजानीहीति । यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नाम अप एव तदशितं नयन्ते ।........ यत्रैतत्पुरुषः पिपासती नाम तेज एव तत्पीतं नयते ।

छां. VI. 8. 1–3.

(ख) स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ।

वृ. II. 5. 18.

(ग) अकारः प्रथमा मात्रा आप्तेरादिमत्त्वाद्वा । ....उकारो द्वितीया मात्रा उत्कर्षादुभयत्वाद्वा ।....मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा ।

मां. 9–11.

११ अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति । कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गंधर्वलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु गंधर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेतिचन्द्रलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतद्रिलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गी मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ।

वृ. III. 6. 1.

१२ (क) असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः । तस्य ये प्रांचो रश्मयस्ता एवास्यप्राच्यो मधुनाड्य ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः । ....अथ एऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ।....

अथ येऽस्य प्रत्यंचो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्य: सामान्येव मधुकृत: सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आप: ।.... अथ येऽस्योदंचो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वांगीरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आप: ।.... अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आप: ।.... अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोक: । न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति । न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ।

छां. III. 1–11.

(ख) एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतव: संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्य: स्यंदन्ते श्वेतेभ्य: पर्वतेभ्य: प्रतीच्योऽन्या: ।

बृ. III. 8. 9.

(ग) अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदंतस्तदन्वेष्टव्यम् । तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतराकाश: किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचंद्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ।

छां. VIII. 1. 1. 3.

(घ) यो वै भूमा तत्सुखं....यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा.......स एव अधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणत: स उत्तरत: स एवेदं सर्वमिति । अथातोऽहंकारादेश:....। अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति

स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मामिथुन आत्मानंदः स स्वराड् भवति ।।

छां. VII. 23.–25.

१३ (क) पुरुषो वाव यज्ञः । तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनम् । .... । अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनम् ।.... । अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम् । एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतेरयः स किं म एतदुपतपसि योहमनेन न प्रेष्यामीति । स ह षोडशं वर्षशतं अजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ।

छां. III. 16.

(ख) षोडशकलः सोम्य पुरुषः । पंचदशाहनि माशीः । काममपः पिव । अपोमयः प्राणो न पिवतो विच्छेत्स्यत इति ।

छां. VI. 7–1.

१४ ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् एकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपं अत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवता क्षत्राणि इंद्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युः ईशान इति । स नैव व्यभवत् स विशमसृजत वसवो रुद्रा आदित्याः विश्वेदेवाः मरुत इति । स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणं, इयं वै पूषा, इयं हीदं सर्वं पुष्यति । स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मम् । तदेतद्ब्रह्म, क्षत्रं, विट्, शूद्रः देवेषु । अग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु, क्षत्रियेण क्षत्रियो, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः ।

बृ. I. 4. 11–15.

१५ (क) वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवतासिनमनुशास्ति....आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः ।

तै. I. 11. 1.

(ख) त्रयो धर्मस्कंधाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयो, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो अत्यंतमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ।

छां. II. 23. 1.

१६ यथा काश्यो वा वदहा वा उग्रपुत्रः उज्ज्यं धनुरविज्यं कृत्वा द्वौ वाणवन्तौ सपत्नौ अतिव्याधिनौ हस्ते कृत्वा उपोत्तिष्ठेद् एममेवाह त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यां मुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति ।

बृ. III. 8. 2.

१७ (क) तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति । तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियम धस्ताद् उपास्ते राजसूये....सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैव अंततः उपनिश्रयति ।

बृ. I. 4. 11.

(ख) यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति, तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति ।

छाँ. V. 3. 7.

(ग) स (आरुणिः) होवाच प्रतिज्ञातो म एप वरो यां तु कुमारस्यांते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति । स (जैवलिः) होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति । स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिदानस्य मा नो भवान् वहोरनंतस्यापर्यंतस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ।

बृ. VI. 2. 5–7.

(घ) स (आरुणिः) ह समित्पाणिः चित्रं गार्ग्यायणि प्रतिचक्रमे उपायानीति । तं होवाच ब्रह्मार्होऽसि गौतम यो मां उपागाः । एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति ।

कौ. I. 1.

१८ स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं (गार्ग्यं) पाणावादाय उत्तस्थौ ।

बृ. II. 1. 15.

अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस । सोऽयमुशीनरेषु संवसन्, मत्स्येषु, कुरुपंचालेषु, काशीविदेहेष्विति : स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति । तं होवाचाजातशत्रुः सहस्र

दध्मस्त एतस्यां वाचि। स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। °चंद्रमसि °विद्युति °स्तनयित्नौ °वायौ °आकाशे °अग्नौ °अप्सु °आदर्शे °छायायां °प्रतिशुत्कायां °शब्दे °शरीरे °दक्षिणेऽक्षिणि °सव्येऽक्षिणि। तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास। तं होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु बालाका ३ इति एतावदिति होवाच बालाकिः। तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तन्मन्ये यत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति।

कौ. IV.1-19.

१९ (क) याज्ञवल्क्य, यो नो भगवन् अभयं वेदयसे, नमस्तेऽस्तु, इमे विदेहा, अयमहमस्मि।

बृ. IV.2.4.

(ख) बृहद्रथो वै नाम राजा विराज्ये पुत्रं विधापयित्वेदशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमुदीक्षमाण उर्ध्ववाहुस्तिष्ठति। अन्ते सहस्राहस्य अन्तिकमाजगाम अग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवान् शाकायन्यः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्वोवाच। भगवन्नाहमात्मवित्। त्वं तत्वविद् शुश्रुमो वयम्। स त्वं नो ब्रूहीति। शिरसास्य चरणावभिमृशमानो राजेमां गाथां जगाद। ....अन्धोदपानस्थो भेक इवादमस्मिन्संसारे, भगवंस्त्वं नो गतिः त्वं नो गतिः।

मै. I. 1–7.

२० कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञातं सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

मुं. I. 1. 3.

२१ अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते॥ एतद्वै तत्॥........॥ य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिम्माणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ एतद्वै तत्॥

क. II. 5. 4–8.

२२ तान् ह तैः श्लोकैः पप्रच्छ । यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः । त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यंदि, त्वच उत्पटः । तस्मात्तद् आतृण्णात्प्रैति, रसो वृक्षादि वाहतात् ।। मांसान्यस्य शकराणि, किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् । अस्थीन्यंतरतो दारूणि, मज्जा मज्जोपमा कृता ।। यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ।।

बृ. III. 9. 28.

२३ एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति मुखं ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत् संदहत्येवं हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ।

बृ. V. 14. 8.

सूत्र २

१ (क) तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

छां. III. 14. 1.

(ख) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।

तै. III. 1.

(ग) किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।

श्वे. I. 1.

२ (क) आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम् प्रजापतिर्देवान् । ते देवाः सत्यमेवोपासते ।

बृ. V. 5. 1.

(ख) तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति । स इत्येकमक्षरम् । तीत्येकमक्षरम् । यमित्येकमक्षरम् । प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम् । मध्यतोऽनृतम् । तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति ।

बृ. V. 5. 1.

३ वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥१॥ यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥२॥

छां. IV. 3. 1-2.

४ (क) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

क. II. 5.

(ख) एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूल मन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूल मन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥

छां. VI. 8. 4.

५ (क) अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो हि एव एभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्।

छां. I. 9. 1.

(ख) आकाशो वाव तेजसो भूयान्। आकाशे वै सूर्या चन्द्रमसावुभौ। विद्युन्नक्षत्राण्यग्निः आकाशेनाह्वयति....आकाशे जायते। आकाश-मभिजायते। आकाशमुपास्स्वेति।

छां. VII. 12. 1.

६ असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयम-कुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

तै. II. 7.

७ नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत। आत्मन्वी स्यामिति। सोर्चन् अचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त।....। तद्यदपां शर आसीत्सम–हन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततताग्निः।

बृ. I. 2. 1-2.

८ आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। तत्समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत्। तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी। तत्सुवर्णं सा द्यौः। यज्जरायु ते पर्वताः। यदुल्वं स मेघो नीहारः। या धमनयस्ता नद्यः। यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः। अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः। तं जायमानं घोषा उलूलवो अनूदतिष्ठन्।

छां. III. 19. 1-3.

९ अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति। दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम्। स एष कोशो वसुधानः तस्मिन्विश्वमिदं श्रितम्॥

छां. III. 15. 1.

१० (क) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं। तद्ध एक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्य

एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत....। ता आपः....अन्नमसृजन्त ।

छां. VI. 2. 1-4.

(ख) सेयं देवतैक्षत हन्त अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । तासां त्रिवृत एकैकां करवाणीति ।

छां. VI. 3. 2-3.

(ग) यदग्ने रोहितं रूपं तेजसतद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य अपागाग्नदेरग्नित्वं, वाचारंभणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम् । यदादित्यस्य० यच्चंद्रमसो० यद्विद्युतो० ।

छां. VI. 4. 1-4.

११ (क) कतमा सा देवतेति । प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतनि प्राणमेवाभिसंविशंति, प्राणमभ्युज्जिहते ।

छां. I. 11. 5.

(ख) अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृक्त इति ।

छां. IV. 3-3.

(ग) तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।

छां. IV. 3. 4.

१२ (क) अथ वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम् ।

छां. VII. 15. 1.

(ख) प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः । तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं, चक्षुर्गोप्तृ, श्रोत्रं संश्रावयितृ, वाक्परिवेष्ट्री । तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति ।

कौ. II. 1.

१३ (क) अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरेऽहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति । ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति

तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति । सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकर्त मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यंतश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् । चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त मज्जीवितुमिति यथांधा अपश्यन्तः, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः । श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त मज्जीवितुमिति यथा वधिरा अश्रृण्वन्तः प्राणंतः प्राणेन वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् । मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त मज्जीवितुमिति यथा वाला अमनसः, प्राणन्तः प्राणेन वदन्तोवाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः । अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति । अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति । अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति । न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ।।

छां: V. 1. 6-15.

(ख) भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति । तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदंति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः । तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः । सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति । एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।....। या

ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या चमनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ।

प्र. II. 1-12.

१४ आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः ।....। अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति । जीवति वागपेतो मुकान्हि पश्यामो, जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् हि पश्यामो, जीवति श्रोत्रापेतो वधिरान्हि पश्यामो, जीवति मनोऽपेतो वालान्हि पश्यामः । यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्कामतः ।.... यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशा विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवाः, देवेभ्यो लोकाः ।....तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो, नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः । स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनंदोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्भवति, नो एवासाधुना कनीयान् ।

कौ. III. 2-9.

१५ (क) भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति । तस्मै स होवाच । प्रजाकामो वै प्रजापतिः । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेतौ मे वहुधा प्रजाः करिष्य इति । आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमाः ....संवत्सरो वै प्रजापतिः तस्य अयने दक्षिणं चोत्तरं च....एष ह वै रयिः यः पितृयानः .... मासो वै प्रजापतिः तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणः .... अहोरात्रो वे प्रजापतिः तस्य अहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिर्हि ।

प्र. I. 3-13.

(ख) सोऽकामयत वहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चा निरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतंच ।

तै. II. 6.

१६ आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः....। सोहमस्मीति अग्रे व्याहरत् । ततोऽहं नामाभवत् तस्मादप्येतर्हि आमंत्रितो अहमयमित्येकाग्र

उक्त्वा अथ अन्यन्नाम प्रब्रूते....। सोऽबिभेत् । तस्मादेकाकी बिभेति । स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति तस्मान्नु बिभेमीति तत एव अस्य भयं वीयाय....द्वितीयाद्वै भयं भवति । स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत्....। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्.... । सा हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवति, हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवत् वृषभ इतरस्तां समेवाभवत्....। वडवा इतराभवत् अश्ववृष इतरो । गर्दभी इतरा गर्दभ इतरस्तां समेवाभवत्....। अजायन्त एवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यः, तत्सर्वमसृजत । बृ. I. 4. 1-4.

१७ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति । स इमांल्लोकानसृजत अंभो, मरीचीः, मरं, आपः....। स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथांडं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्य कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य औषधि वनस्पतयो, हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चंद्रमा, नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः । तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत्....। तं (आत्मानं) अशनापिपासेऽब्रूतां अभिप्रजानीहीति । तेऽब्रवीदेतास्वेव वां देवतासु आभजामि, एतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्या एव अस्यां अशनापिपासे भवतः ।। स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्नमेभ्यः सृजा इति ।....स ईक्षत कथं नु इदं मदृते स्यादिति । स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति....। स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वाः । तदेतन्नांदनम् । तस्य त्रय आवसथाः त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति । स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् । इदं आदर्शमिती३ । तस्मादिदंद्रो नाम....तमिदंद्रं संतं इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः । परोक्षप्रिया इव हि देवाः । ऐ. I. 1-3.

१८ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी ।

तै. II. 1.

१९ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सवाह्याभ्यंतरो ह्यजः अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेंद्रियाणि च स्वं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।....तस्माच्च देवा वहुधा संप्रसूताः साध्याः मनुष्याः पशवो वयांसि । प्राणापानो व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ।।....अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यंदन्ते सिंधवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनेष भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा ।।

मु. II. 1. 2-9.

२० (क) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिंत्यम् । संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख- दुःखहेतोः ।।

श्वे. I. 2.

(ख) येनावृतं नित्यमिद हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्व विद्यः ।

श्वे. VI. 2.

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वं विद्यः ।

श्वे. VI. 16.

अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि ।

तै. III. 10. 6.

(ग) यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः ।

श्वे. V. 5.

(घ) तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।

श्वे. VI. 2.

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः ।

श्वे. VI. 11.

(ङ) आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोपि दृष्टः ।

श्वे. VI. 1.

(च) ऐको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमांल्लोकान् ईशत ईशानीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

श्वे. III. 2.

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

श्वे. VI. 1.

(छ) स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।

श्वे. VI. 9.

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।

श्वे. VI. 12.

मूल ३

१ (क) अन्नमयं हि सोम्य मनः ।

छां. VI. 5. 4.

(ख) अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः ।

छां. VI. 5. 1.

(ग) दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पिर्भवति एवमेव खलु सोम्य अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ।

छां. VI. 6. 1–2

२ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलंभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । तस्मै (नारदाय) मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ।

छां. VII. 26. 2.

३ (क) तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ।

छां. I. 3. 3.

(ख) अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्नापानंस्तानि करोति ।

छां. I. 3. 5.

(ग) अथातः सांयमनं प्रातर्दनं आंतरमग्निहोत्रमित्याचक्षते । यावद्वै पुरुषो भाषते, न तावत् प्राणितुं शक्नोति, प्राणं तदा वाचि जुहोति । यावद्वै पुरुषः प्राणिति, न तावद् भाषितुं शक्नोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति । एते अनन्ते अमृते आहुतीर्जाग्रच्च स्वपंश्च सन्ततं जुहोति । अथ या अन्या आहुतयः अंतवत्त्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवंति, तद्ध स्मैतत् पूर्वे विद्वांसोऽग्नि होत्रं न जुहवांचकुः ।

कौ. II. 5.

४ (क) यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरं अंतरं कुरुते अथ तस्य भय भवति ।

तै. II. 7.

(ख) सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेति यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीतितत एवास्य भयं वीवाय द्वितियाद्वै भयं भवति ।

बृ. I. 4. 2.

५ तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि । समकल्पेतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पंत आपश्चतेजश्च....स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ।

छां. VII. 4. 2.

६ (क) चित्तं वाव संकल्पाद् भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयते ।....। तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुः । .... । अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषंते । चित्तं ह्येवैषामेकायनं, चित्तमात्मा, चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ।

छां. VII. 5. 1.

(ख) मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, कामः संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ।

मै. VI. 30.

७ संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा जुतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामः वशः सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवंति ।

ऐ. III. 2.

८ (क) एष ब्रह्मा, एष इन्द्रः ....इमानि च पंच महाभूतानि....अंड जानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वा, गावः, पुरुषा, हस्तिनो, यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च, यच्च स्थावरं, सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं । प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा । प्रज्ञानं ब्रह्म ।

ऐ. III. 3.

(ख) द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासावादित्यः असौ वा आदित्यो बहिरात्मा, अंतरात्मा प्राणोऽतो बहिरात्मक्या गत्याऽन्तरात्मनोऽनुमीयते गतिरित्येवं ह्याह । अथ यः कश्चिद्विद्वानपहत-

पाप्माऽक्षाध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठआवृत्तचक्षुः सोऽन्तरात्मक्या गत्या बहिरात्मनोऽनुमीयते गतिरित्येवं ह्याह ।

मै. VI. 1.

९ (क) यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युता वृक्णः कस्मान् मूलात्प्ररोहति ।।

बृ. III. 9. 28.

(ख) श्वेकेतुर्हारुणेयः पंचालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमार अनु त्वा अशिषत् पिता इति । अनु हि भगव इति । वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयंतीति, न भगव इति । वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त इति, न वेत्थ भगव इति । पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना इति, न भगव इति । वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यंत इति, न भगव इति । अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथाः यो हीमानि न विद्यात्कथं सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति ।

छां. V. 3. 1. 4.

(ग) येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्या-मनुषिष्टस्त्वयाहं वराणमेष वरस्तृतीयः ।। देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सरिति मा सृजैनम् ।। देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् । ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छंदतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनिया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः । श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्स-र्वेन्द्रियाणां जरयंति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेवं तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।। अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीयन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् । अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।। यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।

क I. 1. 20–29.

१० तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपीरपत्य श्रान्तस्ँहत्य पक्षी संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुषः एतस्मा अन्ताय धावति

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ।

बृ. IV. 3. 19.

११ (क) यथ गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिस्तेजोमण्डले एकीभवंति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरंत्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवती । तेन तर्हेष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति स्वपितीत्याचक्षते ।

प्र. IV. 2.

(ख) स यदा तेजसाभिभूतो भवति अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति ।

प्र. IV. 6.

(ग) तद्यत्रैतत्सुप्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति ।

छां. VIII. 6. 3.

(घ) अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठंते ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते, स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानंदस्य गत्वा शयीत एवमेवैष एतच्छेते ।

बृ. II. 1. 19.

(ङ) उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नांतं मे विजानीहीति । ....स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनं अलब्ध्वा बंधनमेवोपश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनं अलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबंधनं हि सोम्य मनः ।

छां. VI. 8. 1. 2.

(च) स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद् यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति, व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति, तं (गार्ग्यं) पाणावदाय उत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुः तं तैतैर्नामभिरामंत्रयांचक्रे "बृहन् पांडरवासः सोम राजन्" इति, स नोत्तस्थौ, तं पाणिनापेषं बोधयांचकार (V. I. यष्ट्या विचिक्षेप—कौ०) स होत्तस्थौ । स होवाचाजातशत्रुः यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्

कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः। स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः..........एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते।

बृ. II. 15–17.

(छ) मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः, स एनं यजमानं अहरहर्ब्रह्म गमयति।

प्र. IV. 4.

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा संपन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते।

छां. VI. 8. 1.

(ज) यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विंदेयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विंदंति अनृतेन हि प्रत्यूढाः।

छां. VIII. 3. 2.

१२ (क) तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं, तस्मिन् सन्ध्येस्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च।........न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।....प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥ स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥.... तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं च, एवमेवायं पुरुषः एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च।

बृ. IV. 3. 9–18.

(ख) अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति....दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति।

प्र. IV. 5.

१३ अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति, तं यदा लोकानामन्तानपृच्छाम अथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्, स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारीक्षिता अभवन्निति ।

वृ. III. 3. 1.

१४. (क) स य एतमेवं विद्वान् चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति ।

छां. IV. 5. 3.

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतो अभिसिद्धयति ।

छां. VII. II. 2.

(ख) अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठंत ....स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनं साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ।

छां. III. 19. 4.

(ग) तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत मानवान् भवति । .... तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत पर्येनं म्रियंते द्विषन्त सपत्नाः ।

तै. III. 10.3–4.

(घ) असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद संतमेनं ततो विदुः ।

तै. II. 6.

१५ स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूः....भुव....सुवः ....मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म ।

तै. I. 6. 1–2.

१६ (क) अथ अपहतपाप्मानस्तिग्मतेजसा ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयंते। अथ ऋतुं प्रजापतिमब्रुवन्। भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं.... प्रचोदयिता वा अस्य यद् भगवान् वेत्सि तदस्माकं ब्रूहीति। तान् होवाचेति। यो ह खलु वाव शुद्धः....शांतः....शाश्वतोऽजः स्वतंत्रः स्वे महिम्नि तिष्ठति। अनेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं। प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति।

मै. II. 3–4.

(ख) तद्यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः, विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये एवमेवैष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः। तमेतमात्मानं एत आत्मानोऽन्ववस्यन्ते यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुंक्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुंजंति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुंक्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुंजंति।

कौ. IV. 20.

१७ (क) मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नंतर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच।

बृ. V. 6. 1.

(ख) अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

क. II. 2. 12.

(ग) तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।

छां. V. 18. 1.

(घ) नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः।

मुं. I. 1. 6.

महांतं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

क. I. 2. 21.

(ङ) शरीर प्रादेशांगुष्ठमात्रमणोरप्यणव्यं ध्यात्वा अतःपरमतां गच्छति।

मै. VI. 38.

(च) अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जंतोर्निहितो गुहायाम् ।

क. I. 2. 20.

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा, एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायन् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।

छां. III. 14. 3.

१८ सोयमात्मा चतुष्पात् । जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।। स्वप्नस्थानोऽन्तप्रज्ञः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनंदमयो ह्यानन्दभुक् प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।।.......।। नान्तःप्रज्ञं न बहिप्रज्ञं नोभयतप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्य-मलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा ।।

मां. 2. 7.

१९ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतरा-काशस्तस्मिन् यदन्तः स्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । ....यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि ।

छां. VIII. 1. 1–3.

२० (क) तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव ।........। तस्माद्वा एतस्मात्प्राण-मयाद् अन्योन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध ऐव ।....। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव ।....। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एष ।

तै. II. 2–5.

(ख) भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । .... । यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन

जातानि जीवंति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजनात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं वितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् ।....। स तपस्तप्त्वा विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । ....। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।.... । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता ।

तै. III. 1–6.

२१ (क) बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ।।
अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।।

क. I. 1. 5–6.

(ख) तद्यथा राजानमायांतमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पंतेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पंत इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति । तद्यथा राजानं प्रतियियासंतमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमंतकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति ।

बृ. IV. 3. 37–38.

(ग) स यत्रायमात्माऽऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायंति, स एतास्तेजोमात्राः समाभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति, स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति । एकीभवति न पश्यतीत्याहुः.... एकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुः .... एकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः, तमुत्क्रामंतं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति....तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।

बृ. IV. 4. 1–2.

(घ) तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यांतं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यत्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मा इदं शरीरं निहत्य .... अन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति । तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा गांधर्वं वा दैवं वा प्रजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् । स वा अयमात्मा यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।

बृ. IV. 4. 3–5

(ङ) अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । तदेष श्लोको भवति ।
यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ।।
तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत, एवमेवेदं शरीरं शेतेऽथ अयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।

बृ. IV. 4. 9–7.

२२ अनंदा नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंत्यविद्वांसोऽबुधो जनाः ।।

बृ. IV. 4. 11.

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति ये के चात्महनो जनाः ।।

ई. 3.

अंधं तमः प्रयिशंति येऽविद्यमुपासते ।।

ई. 9. और बृ. IV. 4. 10.

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिंद्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ।।

क. I. 1. 3.

२३ यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स यायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं स तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदि-

त्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ।

बृ. V. 10. 1.

२४ (क) अथ यदु चैवास्मिञ् छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरं, संवत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ।

छां. IV. 15. 5-6.

(ख) तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति ········स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति । अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवंति, धूमाद्रात्रिं, रात्रेरपरपक्षं, अपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्, नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवंति । मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकादाकाशं, आकाशाच्चन्द्रमस... तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा अथ एतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथैतमाकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद् भूय एव भवति ।

छां. V. 10. 1-6.

(ग) तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणं अभ्याशो ह यते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चांडालयोनिं वा ।

छां. V. 10. 7.

(घ) ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छंति ....एतद्वै स्वर्गस्य द्वारं यच्चन्द्रमाः । तं यत्प्रत्याह तमतिसृजते य एनं प्रत्याह तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति, स इह कीटो वा पतंगो वा मत्स्यो वा शकु-

निर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा परश्वान्, वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम् ।

कौ. I. 2.

(ङ) अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं, तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत ।

छां. V. 10. 8.

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा टीको वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवंति तदाभवंति ।

छां. VI. 9. 3.

(च) स एतं देवयानं पंथानमासाद्य अग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं, स इंद्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकं....तं ब्रह्म आह अभिधावत मम यशसा, विजरां वायं नदीं प्रापत्, न वाऽयं जिगीष्यतीति । तं पंचशतान्यप्सरसां प्रतियंति शतं फलहस्ताः शतं आंजनहस्ताः शतं माल्यहस्ताः, शतं वासोहस्ताः, शतं चूर्णहस्ताः.... तं ब्रह्मालंकारेणालंकुर्वंति । स ब्रह्मालंकारेणालंकृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभि प्रैति........स आगच्छति विजरां नदीं तां मनसैवात्येति, तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते । तस्य प्रियज्ञातयः सुकृतमुपयंत्यप्रिया दुष्कृतम् । तद्यथा रथेन धावन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते सर्वाणि च द्वंद्वानि । स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति ।

कौ. I. 4.

२५ (क) स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेद एतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति ।

छां. II. 20. 2.

(ख) वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ।।

मुं. III. 2. 6.

(ग) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ।।

मुं. III. 1. 3.

(घ) गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवंति ।।
यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

मुं. III. 2. 7–8.

स यथेमाः नद्यः स्यंदमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छंति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यातं गच्छंति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति ।

प्र. VI. 5.

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठंति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयंति ते यथा तत्र न विवेकं लभंतेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ।........इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यंदंते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियंति समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति ।

छां. VI. 6. 10.

(ङ) संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशांताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।।

मुं. III. 2, 5.

मूल ४

१ (क) तद्ध एक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सज्जायत ।

छां. VI. 2. 1.

(ख) येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

क. I. 1. 20.

(ग) श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तक एतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमेत ।।

क. I. 1. 26. 28.

(घ) ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

बृ. IV. 4. 22.

(ङ) इमानि पञ्चमहाभूतानि....अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वा गावः पुरुषाः....यत्किचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।

ऐ. III. 3.

(च) आहर सोम्य हस्तम् । आर्तभागो आवामेव एतस्य वेदिष्यावः । न नावेतत्सजन इति । तौ ह उत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते । तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः अथ यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः । पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ।

बृ. III. 2. 13.

(छ) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।

क. II. 5. 7.

२ (क) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

श्वे. VI. 13.

(ख) यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य, अपागादग्नेरग्नित्वं, वाचारंभणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम् ।

छां. VI. 4. 1.

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

श्वे. IV. 5.

३ (क) इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धि-र्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

क. I. 3. 10, 11.

(ख) यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छांतआत्मनि ।।

क. I. 3. 13.

४ (क) इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ।

प्र. VI. 2.

(ख) स प्राणमसृजत, प्राणाच्छ्रद्धां, खं, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी, इन्द्रियं, मनः । अन्नं, अन्नाद्वीर्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, लोकेषु च नाम च ।।

प्र. VI. 4.

(ग) स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति । भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलोऽमृतो भवति ।

प्र. VI. 5.

(घ) अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद, यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ।।

प्र. VI. 6.

५ (क) यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः, पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः । सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको, गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।।

श्वे. V. 5.

(ख) प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः ।

श्वे. VI. 16.

(ग) यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः समावृणोत् ।

श्वे. IV. 10.

६ (क) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

श्वे. VI. 10.

(ख) अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।

श्वे. IV. 9.

७ (क) अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः ।

श्वे. IV. 5.

(ख) कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

श्वे. VI. 11.

८ (क) ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ।

श्वे. V. 2.

(ख) हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ।

श्वे. III. 4.

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ।

श्वे. IV. 12.

(ग) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

श्वे. IV. 18.

९ (क) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुद्धय । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।। प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ।। समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।। नीहारधूमार्कानिलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम् । एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ।। पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य

योगाग्निमयं शरीरम् ॥ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च । गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ यथैव विम्वं मृदयोपलिप्तं भ्राजते तत्सुधातम् । तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

श्वे. II. 8-15.

(ख) यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।

क. II. 6. 10-11.

(ग) ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत् ।

श्वे. I. 14.

(घ) तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।

मु. III. 1. 1.

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥

क. II. 5. 11.

(ङ) भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ।

मै. I. 2.

(च) हिता नाम पुरुषस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति । तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ते, शुक्लस्य, कृष्णस्य, पीतस्य, लोहितस्य च । तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति ॥

कौ. IV. 19.

(छ) अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ।

छां. VIII. 6. 1.

(ज) ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः ।

वृ. IV. 3. 20.

१० (क) अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत एवमेवैष एतच्छेते ।

वृ. II. 1. 19.

(ख) येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ।।

श्वे. VI. 2.

(ग) आकाशेनाह्वयति, आकाशेन शृणोति, आकाशेन प्रतिशृणोति । आकाशमुपास्स्वेति ।

छां. VII. 12. 1.

११ अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः । अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे । विद्यां चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

ई. 9-11.

१२ (क) संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्चात्म बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

श्वे. I. 8.

(ख) एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमान् लोकान् ईशत ईशनीभिः । प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।।

श्वे. III. 2.

(ग) घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

श्वे. IV. 16.

(घ) एकैकं जालं वहुधा विकुर्वन् अस्मिन्क्षेत्रे संचरत्येष देवः। भूयःसृष्ट्वा यतयस्तथेषः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

श्वे. V. 3.

१३ (क) न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

क. I. 2. 18.

(ख) हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

क. I. 2. 19.

(ग) श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि वहवो यन्नविद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

क. I. 2. 7.

(घ) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

क. I. 2. 15.

(ङ) तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥ मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षं अपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरं अभिप्राप्नुवन्ति ॥....॥ तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा अथ एतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।

छां. V. 10. 1-5.

१४ (क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

ई. 2.

(ख) अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

मु. II. 1. 4.

(ग) इंद्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

क. I. 3. 10-11.

१५ (क) सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्, श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि, तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयित्विति ॥

छां. VII. 1.

(ख) उद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः।

मै. I. 7.

(ग) ते विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्यपूर्वम्।

श्वे. VI. 5.

(घ) यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

श्वे. VI. 23.

१६ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।

क. II. 6. 1.

१७ स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः। अथ यदश्नाति यत्पिवति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति। अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति। पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः। तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।

छां. III. 17. 1-6.

१८ (क) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे पदार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ।।

क. I. 3. 1.

(ख) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

मु. III. 1. 1.

१९ (क) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

श्वे. VI. 11.

(ख) यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।।

श्वे. III. 9.

(ग) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। संबाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।

श्वे. III. 3.

२० (क) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।

तै. III. 1.

(ख) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम्।

तै. II. 1.

२१ स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेद एतासामेव देवतानां सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं गच्छति।

छां. II. 20. 2.

२२ (क) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।

श्वे. I. 9.

(ख) एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातःपरं वेदितव्यं हि किंचित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।।

श्वे. I. 12.

२३ (क) वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति....वेत्थ नु त्वं काप्य तमंतर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति ....यस्तत्काप्य सूत्रं विद्यात् तं च अन्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित् स लोकवित् स वेदवित् स भूतवित् स आत्मवित् स सर्वविदिति ।.... वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम् । याज्ञवल्क्य अन्तर्यामिणं ब्रूहीति । यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः । अप्सु, अग्नौ, अन्तरिक्षे, वायौ, दिवि, आदित्ये, दिक्षु, चन्द्रतारके, आकाशे, तमसि, तेजसि, सर्वेषु भूतेषु, प्राणे, वाचि, चक्षुषि, श्रोत्रे, मनसि, त्वचि, विज्ञाने, रेतसि ।....। एष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम् ।

वृ. III. 7.

(ख) तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च । सत्यमभवत् यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते । तै. II. 6.

२४ (क) स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानां राजा, तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ च अराः सर्वे समर्पिताः एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वं एत आत्मानः समर्पिताः ।

वृ. II. 5-15.

(ख) यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति । प्राणाः वै सत्यं, तेषामेष सत्यम् ।

वृ. II. 1. 20.

(ग) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तंच, मर्त्यं चामृतं, च स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च ।।....।। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति, प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।

वृ. II. 3. 1-6.

२५ (क) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

मु. III. 1. 3.

(ख) वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

मु. III. 2. 6.

२६ (क) मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

क. II. 4. 11.

(ख) तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्य इदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ।। येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ।। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।। यथा सोम्य लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।। यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सोम्य स आदेशो भवतीति ।। न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवांस्त्वेव तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ।।

छां. VI. 1. 2-7.

(ग) इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं इमे लोकाः इमे देवाः इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा । स यथा दुंदुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद्ग्रहणाय दुंदुभेस्तु ग्रहणेन दुंदुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ।। स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद्ग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ।। स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ।।

बृ. II. 4. 6-9.

(घ) सा होवाच मैत्रेयी अत्रैव मा भगवान् अमूमुहत् न प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि ।। यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितरं इतरं शृणोति तदितर इतरं अभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितिर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन

कं पश्येत् तत्केन कं शृणुयात् तत्केन कं अभिवदेत् तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।

बृ. II. 4. 13-14.

(ङ) यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं, यत्पश्येत्। °जिघ्नति °रसयते °वदति °शृणोति °मनुते °स्पृशति °विजानाति। यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्र अन्यो अन्यत्पश्येत् जिघ्रेत् रसयेत् वदेत् शृणुयात् मन्वीत स्पृशेत् विजानीयात्।

बृ. IV. 3. 23-31.

२७ (क) एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम् ।। नान्तःप्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शांतं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।।

मां. 6. 7.

(ख) स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति। अस्थूलं, अनणु, अह्रस्वं, अदीर्घं, अलोहितं, अच्छायं, अतमो, असंगं, अरसं, अगंधं, अचक्षुष्कं, अश्रोत्रं, अवाक्, अमनो, अप्राणं, अमुखं, अनन्तरं, अवाह्यं, न तदश्नाति किंचन, न तदश्नाति कश्चन।

बृ. III. 8. 8.

(ग) अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत्। अनाद्यनंतं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

क. I. 3. 15.

(घ) यत्तद्द्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।।

मु. I. 1. 6.

(ङ) स एष नेति नेतीत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्यते, असंगो न हि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति खल्वमृतत्वमिति

होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ।

बृ. IV. 5. 15; cf. तथा बृ. III. 9. 26; IV. 2. 4; IV. 4. 22.

(च) अथात आदेशः नेति नेति । "न" हि एतस्मादिति "न" इति अन्यत्परमस्ति ।

बृ. II. 3. 6.

(छ) तेजोमयोऽतेजोमयः, काममयोऽकाममयः, क्रोधमयोऽक्रोधमयः, धर्ममयोऽधर्ममयः, सर्वमय तद्यदेतत् इदं मयोऽदोमयः ।।

बृ. IV. 4. 5.

१८ (क) एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म एतमितः प्रेत्याभिसंभविता-स्मीति ।

छां. III. 14. 4.

(ख) अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततः तेनामृतत्वमेति ।।

श्वे. I. 6.

(ग) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमवेत् अहं ब्रह्मास्मीति । तस्तात् तत्सर्वं अभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्....य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति । अथ योऽन्यां देवतां उपास्ते अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति, न स वेद यथा पशुरेवं सं देवानाम् ।

बृ. I. 4. 10.

(घ) स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।।

तै. II. 8.

(ङ) पुरुष एवेदं विश्वं....एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रंथि विकिरतीह सोम्य ।।

मु. II. 1. 10.

(च) स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।

छां. VI. 8. 7.

१९ (क) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।

मु. I. 1. 7.

(ख) तदेतत्सयं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैं वापियन्ति ॥

मु. II. 1. 1.

३० (क) यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

मु. III. 2. 8.

(ख) न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति....तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेव इदं शरीरं शेते ।

बृ. IV. 4. 6-7.

३१ (क) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ई. 15.

(ख) दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता । अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथांधाः ।.

क. I. 2. 4,5.

(ग) पुरुष एवेदं विश्वं....एतद्यो वेद निहितं गुहायाम् । सोऽविद्याग्रंथि विकिरतीह सोम्य ॥

मु. II. 1. 10.

(घ) नाना तु विद्या च अविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ॥

छां. I. 1. 10.

(ङ) असतो मा सग्दमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

बृ. I. 3. 28.

(च) अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवं अध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।

क. II. 4. 2.

(छ) त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधानाः तेषां सत्यानां सतां अनृतमपिधानम् । यो यो हि अस्य इतः प्रैति न तमिह दर्शनाय

लभते ।...,तद्यथा हि हिरण्यनिधिं निहितं अक्षेत्राज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः एवमेव इमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छंत्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः । स वा एष आत्मा हृदि....अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।

छां. VIII. 3. 1-3.

(ज) तेषां असौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्मं अनृतं न माया चेति ।

प्र. I. 16.

(झ) तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः ।

श्वे. I. 10.

(ञ) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ।।

बृ. II. 5. 19; cf एवं ऋ. VI. 47. 18.

(ट) अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।

श्वे. IV. 9.

(ठ) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

श्वे. IV. 10.

(ड) य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः ।

श्वे. III. 1.

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् अस्मिन्क्षेत्रे संचरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेषः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ।।

श्वे. V. 3.

(ढ) यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति ।

बृ. II. 4. 14.

(ण) यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम् ।

छां. VI. 1. 4.

मूल ५

१ उपकोसलो ह वै सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति । तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन् मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ।.... । अथ हाग्नयः समुदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ।....। अथ हैनं गार्हपत्योनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोहमस्मि स एवाहमस्मीति ।....। अथ हैनं अन्वाहार्यपचनोऽनुशशास आपो दिशो नक्षत्राणि चंद्रमा इति । य एष चंद्रमसि पुरुषो दृश्यते सोहमस्मि स एवाहमस्मीति ।....। अथ हैनं आहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ।....। ते होचुरुपकोसल एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या च आचार्यस्तुते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यः । तमाचार्योऽभ्युवाद उपकोसल ३ इति । भगव इति ह प्रतिशुश्रुवा । ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति कोनु त्वानुशशासेति ।....। य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।....। एतं संयद्वाम इत्याचक्षत....एष उ एव वामनी....एष उ एव भामनीः सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ।

छां. IV. 10. 15.

२ (क) अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः यत्र एतद् अस्मिन् शरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिव अग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति । तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद ।

छां. III. 13.

(ख) अन्यत्राप्युक्तम् । अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमंतःपुरुषे । येनेदमन्नं पच्यते । यदिदमद्यते तस्यैष घोषौ भवति । यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति ।

मै. II. 8.

३ अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पृष्ट आस ...स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति । तं होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्मस्त एतस्यां वाचि । स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । °चंद्रमसि °विद्युति °स्तनयित्नौ °वायौ °आकाशे °अग्नौ °अप्सु °आदर्शे °छायायां °प्रतिशुत्कायां °शब्दे °शरीरे °दक्षिणेऽक्षिणि °सव्येऽक्षिणि । तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास ।....। तं होवाचाजातशत्रुः.... एहि व्येव त्वां ज्ञपयिष्यामिति । तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमीयतुस्तं हाजातशत्रुरामंत्रयांचक्रे बृहत्पांडरवासः सोमराजन्निति ।

कौ. IV. 1-18; एवं बृ. II. 1. 1-15.

४ (क) यतो वा इमानि भूतानि जायंते । येन जातानि जीवंति । प्रत्प्रयंति अभिसंविशंति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । तै. III. 1:

(ख) तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

छां. III. 14. 1.

५ (क) ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त । त ऐक्षन्त । अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । तद्धैषां विजज्ञौ । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति । तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत्कोसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति । तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति । तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम् । स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति । अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति । तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति । तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुम् । स तत एव निववृते । नैतदशकं

विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति । अथेंद्रमब्रुवन् मघवन् एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति तदभ्यद्रवत् । तस्मात्तिरोदधे । स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानां उमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति । सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ।....। तस्माद्वा इंद्रोऽतितरामिवान्यान्देवान स ह्येयन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति । तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इति....यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ।

के. III. IV.

(ख) न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

क. II. 5-15.

६ न्यग्रोधफलमत आहरेति । इदं भगव इति । भिन्धीति । भिन्नं भगव इति । किमत्र पश्यसीति । अण्व्य इवेमा धाना भगव इति । आसामङ्ग एकां भिन्धीति । भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति । तं होवाच यं वै सोम्य एतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्य एषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति । श्रद्धत्स्व सोम्येति । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सयं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

छां. VI. 12.

७ (क) अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतः न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ।

छां. VIII. 4. 1.

(ख) एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति, एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यंदन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्याः ।।

बृ. III. 8. 9.

८ (क) अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति त्रयश्च त्री शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच ।....। कतय एको देव इति....पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणम्।

बृ. III. 9. 1-10.

(ख) एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः।। विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।।

श्वे. III. 2. 3.

(ग) स्वभावमेके कवयो वदंति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।। येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वंज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्।।....। आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपिदृष्टः। तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।... तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।। न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।।....।। एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

श्वे. VI. 1-12.

९ (क) यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥

श्वे. II. 17.

स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति।

बृ. I. 4. 7.

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति। स ह तथा चकार। तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अंग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद यथा विलीनमेव। अंग अस्य अंतादाचामेति कथमिति लवणमिति। मध्यादाचामेति कथमिति लवणमिति। अंतादाचामेति कथमिति। लवणमिति। अभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति। तद्ध तथा चकार। तच्छश्वत्संवर्तते। तं होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति। स य एषोऽणिमा....तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

छां. VI. 13. 1-3.

(ख) सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्व भूतांतरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।

क. II. 5. 11.

(ग) स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

श्वे. III. 14. (RV. x. 90. 1.)

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

क. II. 5. 9. 10.

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

श्वे. III. 9.

१० (क) यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति।....। अब्रवीन्म उदङ्कः शौल्वा-

यन: प्राणो वै ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति ।....। अब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णः चक्षुर्वै ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति ।....। अब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति ।....। अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति ।....। अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं ब्रह्मेति....एकपाद्वा एतत्सम्राडिति ।

बृ. IV. 1. 2-7.

(ख) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवंति ।।....।। यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

के. I. 2-8.

११ तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे....इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज, विरोचनोऽसुराणां, तौ....समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः....तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच....योयं भगवोप्सु परिख्यायते यश्चायमदर्शे ।....। तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते....एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ।....। शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराजगाम ।....। अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्शरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णः.... नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय ।....। तस्मै (इन्द्राय) होवाच य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स ह अप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श....अप्रियवेत्तेव भवति, अपि रोदितीव नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति समित्पाणिःपुनरेयाय ।....। तस्मै

(इन्द्राय) होवाच तद्यत्रैतत् सुप्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच....स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स ह अप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श न खलु अयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहस्मीति नो एव इमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनरेयाय ।....। तस्मै (इन्द्राय) होवाच । मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना । तदस्य अमृतस्य अशरीरस्य आत्मनोऽधिष्ठानम् । आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुः अशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ।

छां. VIII. 7-12.

१२ (क) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

तै. II. 1.

(ख) एष ब्रह्मा एष इन्द्रः....एते सर्वे देवा इमानि च पंचमहाभूतानि.... अंडजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि ।....। यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम् । सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ।

ऐ. III. 3.

१३ (क) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

तै. II. 4.

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।

के. I. 3.

यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

के. II. 3.

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वंतोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।

क. I. 2. 7.

(ख) स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता । तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।

श्वे. III. 19.

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।

बृ. II. 4. 14.

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुयार्न मतेर्मंतारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः ।

बृ. III. 4. 2.

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मंता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता ।

बृ. III. 7. 23.

(ग) याज्ञवल्क्य, किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच आदित्येनैवायं ज्योतिषास्ते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य । अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चंद्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति....। अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चंद्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इति अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीति....। अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चंद्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति ।

बृ. IV. 3. 2-6.

१४ (क) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ।

बृ. II. 4. 5.

(ख) आत्मानं विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

बृ. IV. 4. 12.

(ग) अयमात्मा ब्रह्म ।

बृ. II. 5. 19.

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण-मेवावशिष्यते ।। शांतिः ।।

(घ) अहं ब्रह्मास्मि ।

बृ. I. 4. 10.

तत्त्वमसि ।

छां. VI. 8. 7.

(ङ) सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

छां. III. 14. 1.

मूल ६

१ यान्यस्माकं सुचरितानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।....। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः....। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा.... संमर्शिनः अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् ।

तै. I. 11.

२ महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।।

क. II. 6. 2-3.

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्च इंद्रश्च मृत्युर्धावति पंचम इति ।।

तै. II. 8.

३ (क) मनो ब्रह्मेत्युपासीत ।

छां. III. 18. 1.

(ख) मनो ह्यात्मा....मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति ।

छां. VII. 3. 1.

४ (क) अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानर्थे पुरुषं सिनीतः । तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।। श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमाद् वृणीते ।।

क. I. 2. 1-2.

(ख) स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।

क. I. 2. 3.

५ (क) अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।।

क. I. 1. 28.

(ख) भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणित श्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्र-वातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः । कामक्रोधलोभभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्यु-रोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः । सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवनस्पतय उद्भूतप्रध्वं-सिनः....। अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं व्रश्चनं वातरज्जूनां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां इत्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैः ।

मै. I. 2-7.

६ (क) एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छंतः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत् पर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽय-मात्माऽयं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

बृ. IV. 4. 22.

(ख) प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः । तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं, चक्षुर्गोप्तृ, श्रोत्रं संश्रावयितृ, वाक्परिवेष्ट्री । तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति । एवं हैवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद । तस्योपनिषन्न याचेदिति । तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति त एवैनमुपमंत्रयंते ये पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरन् । एष धर्मोऽयाचतो भवति । अन्नदास्त्वेवैनं उपमन्त्रयन्ते ददाम त इति ।

कौ. II. 1.

७ (क) एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति....। तस्माद् ब्राह्मणः निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।

बृ. III. 5. 1.

(ख) तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद् बहूञ् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।

वृ. IV. 4. 21.

८ (क) तमेवैकं जानथात्मानं अन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् । तद्विज्ञानेन परिपश्यंति धीराः आनंदरूपममृतं यद्विभाति ।

मु. II. 2. 5-7.

(ख) तस्मादेवंविच्छांतो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्यात्मानं पश्यति । सर्वमात्मानं पश्यति । नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति, विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति ।

वृ. IV. 4. 23.

(ग) प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी । आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।।

मु. III. 1. 4.

६ (क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

ई. 2.

(ख) अंधं तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।। अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्विचचक्षिरे ।। विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

ई. 9-11.

१० (क) मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामिनोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ।

श्वे. IV. 22.

(ख) सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यं । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् ।

तै. I. 2. 1.

(ग) तं होवाच "याज्ञवल्क्य, किमर्थमचारीः, पशूनिच्छन् अण्वन्तानिति"। उभयमेव सम्राडिति होवाच ।

बृ. IV. 1. 1.

स होवाच याज्ञवल्क्यः । पिता मेऽमन्यत न अननुशिष्य हरेतेति ।

बृ. IV. 1. 7.

११ सैषाऽऽनंदस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनंदः । ते ये शतं मानुषा आनंदाः । स एको मनुष्यगंधर्वाणामानंदः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । इत्यादि ।

तै. II. 8.

१२ (क) तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादंतरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ।

बृ. I. 4. 8.

(ख) तद्वा अस्यैतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपं शोकान्तरम् ।

बृ. IV. 3. 21.

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः ।

बृ. IV. 4. 6.

१३ सा होवाच मैत्रेयी "यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति"। "नेति" होवाच याज्ञवल्क्यः "यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात् अमृतत्वस्व तु नाशास्ति वित्तेनेति"। सा होवाच मैत्रेयी "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।....।" स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते ।....। स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । जायायै°, पुत्राणां°, वित्तस्य°, ब्रह्मणः°, क्षत्रस्य°, लोकानां°, देवानां°, भूतानां°, सर्वस्य° । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

बृ. II. 4. 2-5.

१४ यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति, सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्....। यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतं अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स (भूमा) भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि इति। गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि। स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्वं इत्यथातो अहंकारादेशः, अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतो, अहमुत्तरतो, अहमेवेदं सर्वमित्यथात आत्मादेशः आत्मैवाधस्तात्, आत्योपरिष्टाद्, आत्मापश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंदः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

छां. VII. 22-25.

१५ (क) अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ क. I. 2. 14.
अशरीरं वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

छां. VIII. 12. 1.

(ख) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

मु. III. 1. 3.

१६ (क) य एषोऽतर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एव असाधुना कनीयान्।

बृ. IV. 4. 22.

(ख) एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् ।

वृ. IV. 4. 23.

१७ (क) त्रयः प्राजापत्यः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थे-त्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति । अथ हैवं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति । अथ हैनमासुरा उचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्, त्रयं शिक्षे-द्दमं दानं दयामिति ॥

वृ. V. 2. 1-3.

(ख) अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ।

छां. III. 17. 4.

(ग) स्तेनो हिरण्यस्य, सुरां पिबंश्च, गुरोस्तल्पमावसन्, ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति ।

छां. V 10. 9.

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च° । तपश्च° । दमश्च° । शमश्च° । अग्नयश्च° । अग्निहोत्रं च° । अतिथयश्च° । मानुषं च° । प्रजा च° । प्रजनश्च° । प्रजातिश्च° । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौग्दल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ।

तै. 1. 9.

१८ वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्या-यान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातंतुं मा व्यव-च्छेत्सीः ।....देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।....। ये के चास्मच्छ्रे-

यांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयं, अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम् ।

तै. I. 11. 1-3.

१६ सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामंत्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोऽहमस्मीति । सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यग्दोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यग्दोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति । स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति तं होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यग्दोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीत् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यग्दोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति । तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति ।

छां. IV. 4. 1-5.

२० पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्तत् परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसंधोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृण्हाति स दह्यतेऽथ हन्यते । अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसंधः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृण्हाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ।

छां. VI. 16. 1-2.

२१ (क) समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । तस्मान्नार्हामि अनृतं वक्तुम् ।

प्र. VI. 1.

(ख) सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परं निधानम् ।।

मु. III. 1. 6.

(ग) सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ।....। यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति ।

छां. VII. 16. 17.

२२ अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।

बृ. IV. 4. 5.

२३ (क) एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवसाधु कर्म कारयति तं, यमधो निनीषत, एष लोकपालः एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात् ।

कौ. III. 9.

(ख) य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति । य इहात्मानं अनुविद्य व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

छां. VIII. 1. 6.

(ग) यं यं अन्तं अभिकामो भवति यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ।

छां. VIII. 2. 10.

२४ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहंती वासनासरित् । पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि । अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।

मुक्तिक. II 5. 6.

२५ (क) यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।

ई. 7.

(ख) यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यांतो भविष्यति ।।

श्वे. VI. 20.

(ग) पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयंति कामाः ।

मुं. III. 2. 2.

(घ) यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यंत एवमेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते ।

छां. IV. 4. 3.

(ङ) एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति ।

तै. II. 9.

(च) स य एवं विद्वान् एते आत्मानं स्पृणुते, उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते ।

तै. II. 9.

२६ एवं यथाश्मानखणं ऋत्वा विध्वंसत, एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनं अभिदासति स एषोऽश्माखणः ।

छां. I. 2. 8.

२७ (क) तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यंतमेति ।

श्वे. IV. 11.

(ख) यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिंद्रियधारणाम् ।

क. II. 6. 10-11.

(ग) तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।

श्वे. IV. 12.

मूल ७

१ (क) द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदंति परा चैवापरा च । तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

मुं. I. 1. 4-5.

(ख) स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति ।

छां. VII. 1. 2-3.

२ (क) चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

के. II. 13.

(ख) इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः । ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥

क. II. 6. 4.

३ (क) परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

क. II. 4. 1.

(ख) नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।

श्वे. III. 18.

४ (क) नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

क. I. 2. 24.

(ख) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अंतशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः ॥
मुं. III. 1. 5.

(ग) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
क. I. 2. 22.

(घ) अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
ई. 9.

(ङ) नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात् ।
मु. III. 2. 4.

(च) परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
मुं. I. 2. 12.

५ (क) श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति ।
छां. IV. 9. 3.

(ख) न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
क. I. 2. 8-9.

(ग) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥
क. 1. 3. 14.

६ यथा सोम्य पुरुषं गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥ तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गंधारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पंडितो मेधावी गंधारानेवोपसंपद्येत एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥२॥
छां. VI. 14. 1-2.

७ (क) क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुव्हत एकर्षि श्रद्धयंतः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥

मु. III. 2. 10.

(ख) इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्ते-वासिने। नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति।

छां. III. 11. 5-6.

(ग) वेदांते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

श्वे. VI. 22-23.

८ (क) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदि-च्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्नहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परं। एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

क. I. 2. 15-17.

(ख) तद्यथा शंकुना सर्वाणिपर्णानि संतृण्णानि एवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णा ॐकार एवेदं सर्वम्।

छां. II. 23. 3.

९ धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत। आयस्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्त-न्मयो भवेत्॥४॥

मु. II. 2. 3. 4.

१० ॐ इति ह्येष स्वरन्नेति।

छां. I. 5. 1.3.

११ अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वैतद् भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति। तस्मै स होवाच "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।

तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।....यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" ।

प्र. V. 1-5.

१२ भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥ सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययो हि भूतानाम् ॥६॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिः-प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य-मग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥ सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति ॥८॥....॥ अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैतं एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥१२॥

मां. I. 12.

१३ (क) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत ॥

श्वे. I. 14.

(ख) अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्योजागृवद्भिर्हविष्मद्भिः मनुष्येभिरग्निः ॥

क. II. 4. 8.

१४ (क) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

क. II. 5. 3.

(ख) प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येषे आत्मा ।

मु. III. 1. 9.

१५ (क) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदींद्रियाणि मनसा संनिवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।८।। प्राणान्प्रीपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ।।९।। समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयामिभिः । मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।१०।।

श्वे. II. 8-10

(ख) पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।१२।। लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च गंधः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।।१३।।

श्वे. II. 12-13.

१६ (क) न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

क. II. 6. 9.

(ख) नैव वाचा नमसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा । अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।।

क. II. 3. 12.

(ग) एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

क. I. 3. 12.

१७ (क) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।

मु. III. 1. 8.

(ख) तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।

क. I. 2. 20.

१८ (क) तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्चादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

क. II. 6. 17.

(ख) तद्यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये एवमेव एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरं अनुप्रविष्टः आलोमभ्यः आनखेभ्यः ।

कौ. IV. 20.

(ग) तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

श्वे. I. 15.

(घ) घृतात्परं मंडमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥

श्वे. IV. 16.

१६ (क) नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् । एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

श्वे. II. 11.

(ख) तस्य ह एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेंद्रगोपो, यथा अग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, तथा सकृद्विद्युत् । ते ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद ।

बृ. II. 3. 6.

२० (क) अयमग्निर्वैश्वानरो योयमंतःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णाविपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोष शृणोति ॥

बृ. V. 9. 1; मै. II. 6.

(ख) तदस्मिन् शरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिः । यत्र कर्णाविपिगृह्य निनदमिव, नदथुरिव, अग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति ।

छां. III. 13. 8.

२१ (क) हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ६ ॥

मु. II. 2. 9.

(ख) एतं सेतुं तीर्त्वा अंधः सन्ननंधो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवति, तस्माद्वाएतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते। सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥

छां. VIII. 4. 2.

(ग) न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा॥ २॥ न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मि भवति य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेद॥ ३॥

छां. III. 11. 2–3.

(घ) यदाऽतमः तन्न दिवा न रात्रिन सन्न चासन् शिव एव केवलः।

श्वे. IV. 18.

२२ (क) यमेवेष वृणुते तेनैव लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

मुं. III. 2. 3,

(ख) य एषोंतरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।

छां. I. 6. 6.

योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि। ई. 16.

(ग) यथैव विंबं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्। तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

श्वे. II. 14–15.

(घ) अयं वाव खल्वात्मा ते। यः कतमो भगव इति। तं होवाच। अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्येष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्-ब्रह्मेति। अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रिणाऽख्याता।

मै. II. 1–3.

२३ (क) नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥

श्वे. V. 10.

(ख) अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।....तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

ई. 4. 5.

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।।

क. I. 2. 21.

बृहच्च तद्दिव्यमाचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति । दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।।

मु. III. 1. 7.

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जंतोर्निहितो गुहायाम् ।

क. I. 2. 20.

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः । बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।। ८ ।। वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ।। ९ ।।

श्वे. V. 8–9.

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

क. II 6. 17.

२४ (क) आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।

बृ. IV. 4. 12.

(ख) भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः । क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

मु. II. 2. 8.

(ग) समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यति अन्यमशिमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।

मु. III. 1. 2.

(घ) तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नांतरं, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्, तद्वा अस्य एतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपम् ॥

बृ. IV. 3. 21.

(ङ) आनंदंब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ।

तै. II. 4.

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये अनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।

तै. II. 7.

२५ (क) आत्मानमंते उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन् अप्रमत्तो, अभ्याशो ह यत्, अस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति ॥

छां. I. 3. 12.

(ख) य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो, विमृत्युः, विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः, सत्यसंकल्पः, सोन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ।

छां. VIII. 7. 1.

(ग) यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

मुं. III. 1. 10.

२६ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

मुं. II. 2. 11.

२७ ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमवेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात् तत्सर्वमभवत् । तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथा ऋषीणां, तथा मनुष्याणाम् । तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति ।

बृ. 1. 4. 10.

२८ अश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चंद्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य, धूत्वा शरीरं, अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीति ।

छां. VIII. 13. 1.

२९ अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । उर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् ।

तै. I. 10.

३० स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रमय । इमाँल्लोकान्कामान्निकामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते । हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु । अहमन्नमहमन्नमन्नम् । अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ऽहमन्नादः । अह ँ श्लोककृदह ँ श्लोककृदह ँ श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा ३ म् । सुवर्न ज्योतीः ।।

तै. III. 10. 5-6.

उपनिषदीय साहित्य
की
ग्रन्थ-सूची

परिचय

१. मूल-ग्रंथ

निर्णय सागर प्रेस वम्बई से उपनिषदों का 'अष्टाविंशति उपनिषद्' नामक एक छोटा सा संस्करण प्रकाशित हुआ है, जिसमें मैत्री के अतिरिक्त सभी मुख्य उपनिषद् हैं। अट्ठाईस उपनिषदों का एक दूसरा संस्करण वेंकटेश्वर प्रेस वम्बई से प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम प्रेस, पूना ने भी बत्तीस उपनिषद् का एक संस्करण प्रकाशित किया है जिसमें अन्य उपनिषदों के साथ कौषीतकी और मैत्री भी सम्मिलित हैं, किन्तु उसमें दस प्रसिद्ध उपनिषद् छूट गये हैं। नव्य उपनिषदों का यह संस्करण नारायण और शंकरानन्द के भाष्यों के साथ प्रकाशित हुआ है। जैकोवे ने वम्बई संस्कृत ग्रन्थमाला में ग्यारह अथर्वण उपनिषदों का एक संस्करण प्रकाशित किया है, जिसमें सामान्य दस उपनिषदों के अतिरिक्त कुछ और भी हैं। मिश्रित उपनिषदों का एक सुन्दर संस्करण अड्यर पुस्तकालय मद्रास से प्राप्त हो सकता है, जिसका सम्पादन हस्तलिखित ग्रन्थ पुस्तकालय के संचालक ने किया है। उ० श्रेडर ने जो सन् १६१२ में उस पुस्तकालय के संचालक थे, उस वर्ष में एक संन्यास उपनिषदों का संस्करण प्रकाशित किया। किन्तु जब महायुद्ध के समय उन्हें यूरोप जाना पड़ा तो उनके स्थानापन्न संचालक ए० माधवशास्त्री हुये, जिन्होंने हाल ही में सन् १६२० में योग उपनिषद्, १६२१ में वेदान्त उपनिषद्, १६२३ में वैष्णव उपनिषदों के संस्करण प्रकाशित किये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल योजना में केवल शैव उपनिषद् का सम्पादन शेष रहा

है। समस्त उपनिषदों का प्रकाशन उपनिषद् ब्रह्म-ब्रह्मयानी के भाष्य के साथ हुआ है। सभी उपनिषदों का प्रकाशन सुन्दर हुआ है। तथा हमारे विचार से पाठकों के लिये इससे अधिक सुन्दर छोटे संस्करण और नहीं होंगे जो अड्यर ने प्रारम्भ में प्रकाशित किये हैं।

१०८ उपनिषदों का एक संस्करण सुब्रह्मण्य शास्त्री ने १८८३ में प्रकाशित किया था। उसके बाद तत्व-विवेचन प्रेस, बम्बई ने भी इन्हीं १०८ उपनिषदों का एक संस्करण प्रकाशित किया था। अब उन्हीं १०८ उपनिषदों का एक छोटा संस्करण निर्णयसागर प्रेस से मिल सकता है। जब तक १०८ उपनिषदों का कोई अधिक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित न हो, तब तक हम समझते हैं कि व्यापक अध्ययन में विश्वास रखने वाले पाठकों के लिये यह सबसे अधिक उपयुक्त है। इन १०८ के अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् हैं, जिनकी सूची अड्यर से प्रकाशित उपनिषदीय ग्रन्थ सूची नामक ग्रन्थ में दी गई है तथा इससे भी अधिक पूर्णता तथा निश्चय के साथ डॉ० एस० के० बेलवेलकर और प्रो० आर० डी० रानाडे के 'भारतीय दर्शन का विधायक युग' में दिया हुआ है। यह आश्चर्य की बात है कि अभी उपनिषदों का पूर्णतया प्रामाणिक कोई एक भी संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है। हमारा विश्वास है कि उपनिषदीय साहित्य की ओर अभिरुचि रखने वाले सज्जन इस ओर प्रयत्न करेंगे। "हिन्दी सर्वेश्वरवाद नामक ग्रन्थ में लान्यान का यह कथन सत्य है कि प्राचीन उपनिषदों के एक ऐसे समालोचनात्मक संस्करण की आवश्यकता है, जिसमें सभी उपनिषद् सुविधापूर्वक सम्मिलित हैं, तथा भाषा शास्त्र की दृष्टि से पूर्ण शुद्ध अनुवाद तथा विविध उपयोगी परिशिष्ट हों। कर्नल जैकोब ने भगवद्गीता के साथ-साथ ५६ उपनिषदों के सांगोपांग संस्करणों के सम्पादन द्वारा उपनिषद् साहित्य के सभी पाठकों को अत्यन्त कृतज्ञ किया है। भारतीय सेना-विभाग में काम करने वालों के लिये ऐसा साहित्यिक कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है। हमारी इच्छा है कि भारतीय सेना-विभाग में ऐसे ही प्रमोद-मय आश्चर्य कृत्य होते।

२. भाष्य

ब्रह्म-सूत्र और भगवद्गीता की भाँति उपनिषदों पर भी वेदान्त-दर्शन के सभी सम्प्रदायों के अपने पृथक्-पृथक् भाष्य हैं। कई उपनिषदों का शांकर भाष्य आनन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित हुआ है तथा शंकर के ग्रन्थों के संग्रह में एक वाणी विलास प्रेस से भी प्रकाशित हुआ है। गौड़पाद

की कारिका का शांकर भाष्य जो स्वयं माण्डूक्योपनिषद् का भाष्य है, बहुत प्रसिद्ध है तथा बृहदारण्यक का शांकर भाष्य भी। पिछले भाष्य का पुनर्भाष्य सूर्येश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में किया है। श्वेताश्वतर के शांकर भाष्य के सम्बन्ध में प्राय: सन्देह प्रकट किया जाता है। किन्तु अन्य उपनिषदों का शांकर भाष्य प्रामाणिक माना जाता है। निर्णय सागर प्रेस से १९१० में ११ प्रधान उपनिषदों पर स्वामी अचिन्त्य भगवान का भाष्य एक ही भाग में प्रकाशित हुआ है; जिसका वस्तु विषय बहुत कुछ शांकर भाष्य के ही अनुकूल है। यदि किसी को उपनिषदों के शांकर भाष्य के सारांश की आवश्यकता हो तो वह उसे स्वामी अचिन्त्य भगवान के इस संस्करण में मिल सकता है। इसकी छपाई सुन्दर है और आकार छोटा है। मध्वाचार्य के अद्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल विविध उपनिषदों के सारांश का भाष्य किया है।

रामानुज के उपनिषद् भाष्य इतने प्रसिद्ध नहीं, जितने ब्रह्म-सूत्र भाष्य हैं। उपनिषदों के रामानुज भाष्य का एक उल्लेख मद्रास से प्रकाशित संस्करण में है, जो अप्राप्य है। दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल विविध उपनिषदों पर रामानुज का भाष्य अधिक प्रसिद्ध है। आनन्दाश्रम प्रेस ने बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, केन उपनिषदों पर रामानुज के भाष्य प्रकाशित किये हैं। पिछली दो उपनिषदों के रामानुज भाष्य का सम्पादन श्रीधर शास्त्री पाठक, दक्षिणकालिज पूना, ने किया है।

उपनिषदों पर माध्व भाष्य महाविलास बुक डिपो द्वारा सम्पादित सर्वमूल ग्रन्थमाला में (कुम्भकाणम्) मिल सकता है। प्रयाग के पाणिनि कार्यालय ने भी उपनिषदों के अनुवादों के साथ माध्व भाष्य के कुछ अंश दिये हैं।

ब्रह्म सूत्र स्वयं उपनिषदों के सूत्रमय सारांश हैं। उनमें उपनिषदों से ही शब्द और भाव ग्रहण कर तथा उन्हें धार्मिक तात्विक प्रसंग द्वारा सम्बद्ध कर दिया गया है। फिर भी मध्वन आचार्यों के ब्रह्म-सूत्र भाष्य उपनिषद् भाष्यों से अधिक प्रसिद्ध हैं। परवर्ती वेदान्त के तो ये भाष्य ही आधार हैं। और जैसा कि भूमिका में संकेत किया गया है, अनुभूति मूलक प्रातिभ-ज्ञान पद्धति के स्थान पर शब्दच्छलपरक तार्किक पद्धति का अनुसरण करते हैं।

३. अनुवाद

अब तक उपनिषदों के विषय में सबसे महत्वपूर्ण कार्य अनुवादों का हुआ है। अनेक वर्षों से उपनिषदों ने अनुवादकों को विविध भाषाओं में

उपनिषदों के अनुवाद की ओर आकर्षित किया है। उपनिषदों का प्रथम अनुवाद फारसी में (१६५६–५७) में शाहजहाँ के सुपुत्र दारा के दरबार में पंडितों द्वारा किया गया था। पश्चिमी जगत् को उपनिषदों का प्रथम प्रकाश Anquetil du perron के अनुवाद से जो १८०१–२ में Ouperakehat के नाम से Strassberg से प्रकाशित हुआ था तथा जो उक्त फारसी अनुवाद का लैटिन अनुवाद था। लैटिन अनुवाद का सारांश १८३२ में J. D. Lanjuinais के "भारतीय भाषा, साहित्य धर्म और दर्शन की खोज" नामक ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ था। राम मोहन राय ने १८३२ में अपने ईश, केन, कठ, मुण्डक उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये। उसके ठीक पचास वर्ष बाद १८८२ में Dresden में Oupenekehat का जर्मन में अनुवाद हुआ। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार दारा के समय में संस्कृत उपनिषदों का फारसी में अनुवाद हुआ और फारसी अनुवाद का लैटिन में अनुवाद हुआ। फिर किस प्रकार लैटिन अनुवाद का पिछली शताब्दी में फ्रेंच और जर्मन में अनुवाद हुआ। उपनिषदों के अंग्रेजी अनुवादकों में से Roer प्रथम है जिसके ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर उपनिषदों के अनुवाद कलकत्ते से १८५३ में प्रकाशित हुये थे। बाद में उसका वृहदारण्यक का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। मैक्स मूलर ने प्रथमबार क्लेरेण्डन प्रेस से (१८७९-८४) दो भागों में समस्त मुख्य उपनिषदों का व्यवस्थित अनुवाद प्रकाशित किया। ह्विटने ने (१८८६ में) 'उपनिषद और उनके नवीनतम अनुवाद,' नामक लेख के रूप में 'अमेरिकन भाषा शास्त्र' की त्रैमासिक पत्रिका में इन अनुवादों की समालोचना प्रकाशित की थी। Paul Deussen का स्मरणीय ग्रन्थ Sechviz Upanishad's des Veda (९४६ पृष्ठ) १८९१ में Leiprig से प्रकाशित हुये थे। इसमें Ouperekhat में समाविष्ट ५० उपनिषदों का तथा दस अथर्वण उपनिषदों का अनुवाद भी सम्मिलित था। यह शोचनीय है कि अभी Deussen के अनुवादों का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हो सका है। इसमें उपनिषदों पर एक बड़ी उपादेय प्रस्तावना है तथा उनमें प्रत्येक भाग पर भी। इसकी आलोचना Bohtlingk ने अपने Bemeskungeng einigem upanisheden. नामक लेख में (१८९७) की थी जहाँ उससे अनेक स्थानों पर डॉयसन से मतभेद था।

जी० आर० एस० मीड तथा जे० सी० चट्टोपाध्याय द्वारा संयुक्तरूप में किया हुआ अनुवाद १८९६ में लण्दन थियोसोफिकल सोसाइटी से दो भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डूक, माण्डूक्य

उपनिषद् हैं तथा दूसरे भाग में तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर उपनिषद् हैं। यूरोपीय जगत् में मीड के अनुवाद ने उपनिषदों के प्रति इतना उत्साह जाग्रत कर दिया कि उनका फ्रेन्च और डच दोनों भाषाओं में अनुवाद हो गया (१९०५–१९०९)। एस० सीताराम शास्त्री और गंगानाथ झा के पांच भागों में उपनिषदों के अनुवाद शांकर भाष्य सहित (१८९८–१९०१) नेटीसन मद्रास से प्रकाशि हुये थे। उनमें ईश, केन, मुण्डक, कठ, प्रश्न, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, का मूल पाठ है। तथा इतना स्पष्ट और सुन्दर मुद्रण है कि उपनिषदों के प्रारम्भिक पाठकों के लिये बहुत ही उपादेय है। पाठक को यह अभिलाषा शेष रह जाती है कि नेटीसन को शेष पाँच माण्डूक्य वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी, मैत्री का भी अनुवाद पहले आठ के अनुवादों के साथ सम्मिलित कर देना चाहिये जिससे मुख्य उपनिषदों के मूलपाठ और अनुवाद सहित एक सुन्दर परिपूर्ण संस्करण तैयार हो जाय। कलकत्ता (१९००) से प्रकाशित सीताराम तत्वभूषण के तीन भागों में उपनिषदों के अनुवाद में मैत्रायणी के अतिरिक्त शेष सब (१३) प्रधान उपनिषद् हैं। एस० सी० वसु ने पाणिनि कार्यालय प्रयाग से (१९११ में) माध्व भाष्य से अवतरण देकर ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य उपनिषद् का सम्पादन किया है। उन्होंने उसी प्रकार माध्व भाष्य के अवतरणों के साथ वृहदारण्यक और छान्दोग्य का भी अनुवाद किया है। तुकाराम तात्या ने १२ प्रधान उपनिषदों का एकत्र संस्करण प्रकाशित किया है, जिसमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, वृहदारण्यक का Roer कृत्त अनुवाद तथा छान्दोग्य का राजेन्द्रलाल मित्र और, कौषीतकी का कौवेल कृत अनुवाद सम्मिलित है। इस संस्करण में मैत्री उपनिषद् भी नहीं है। ऑक्सफोर्ड से (१९२१) प्रकाशित आर० ई० ह्यूम का १३ मुख्य उपनिषदों का अनुवाद नवीनतम तथा सबसे अधिक उपयोगी है। ह्यूम ने अपने पूर्ववर्ती अनुवादों से लाभ उठाया है। उनकी ग्रन्थ सूची बहुत स्पष्ट तथा उपादेय है। हमारी ग्रन्थ सूची स्वयं उसकी कुछ कम ऋणी नहीं।

देशी भाषाओं में उपनिषदों के अनेक अनुवाद हैं। सी० जी० भानु की अनेक उपनिषदों का शांकर भाष्य सहित मराठी अनुवाद की ग्रन्थ माला उल्लेखनीय है। तथा एच० आर० भागवत का मूलपाठ तथा मराठी अनुवाद भी दो भागों में, जिसमें पहले में प्राचीन तथा प्रधान उपनिषद् और दूसरे में कुछ भव्य उपनिषद् उल्लेखनीय हैं। विष्णु शास्त्री वपट का उपनिषदों तथा शांकर भाष्य का मराठी अनुवाद सबसे अधिक परिश्रम पूर्ण मराठी अनुवाद है। प्रत्येक

भारतीय भाषा में उपनिषदों के अनुवाद है। विशेषकर बंगाली में यदि हम देशी भाषाओं के अनुवादों का उल्लेख करेंगे तो ग्रन्थ सूची का आकार अवांच्छनीय रूप से बढ़ जायगा।

उपनिषदों के क्रमिक रूप से पृथक्-पृथक् अनुवादों के सम्बन्ध में हम सबसे पहले अरविन्द घोष के ईश, कठ, तथा अन्य उपनिषदों के अनुवादों का उल्लेख कर सकते हैं। जिनमें अनुवाद के साथ ही साथ लेखक के स्वतंत्र दार्शनिक विचार भी अभिव्यंजित होते हैं। प्रो० एम० हिरयाना के शांकर भाष्य सहित केन, कठ, तथा अन्य उपनिषदों के अनुवाद हाल ही में प्रकाशित हुये हैं। तथा केनोपनिषद् का रोमन मूल पाठ देकर येल के प्रोफेसर आर्टेल ने अनुवाद किया है (१८९४)। अनुवादकों की विशेष अभिरुचि कठोपनिषद की ओर रही है। इसके अनेक भाषाओं में अनेक अनुवाद हैं। पॉल रेनाड ने (१८९८) कठ का फ्रेंच में अनुवाद प्रकाशित किया था। उसी उपनिषद् का वूटेन शोइन स्टाकहाल्म, ने स्वीडिश भाषा अनुवाद किया। इटेलियन में वैलौनी फिलिप्पी ने (१९०५) किया। कठोपनिषद् का (वोस्टन, १८९० ह्विटनी का अनुवाद महत्वपूर्ण है, जिसमें उसने बहुत से पाठान्तर तथा एक विवेचनात्मक प्रस्तावना दी है।

जोहनेज हर्टेल ने लायप्जीक (१९२४) से मुण्डकोपनिषद् का एक आलोचनात्मक संस्करण निकाला है। हर्टेल की आलोचना-पद्धति उत्साहपरक है एवं महत्वपूर्ण है। उन्होंने छंद, भाषा की विवेचना की है। मूल पाठ और परम्परागत पाठ में अन्तर किया है। तथा शुद्ध पाठ दिया है। फिर जैनधर्म के प्रसंगों सहित, मुण्डकोपनिषद् के विषय वस्तु, मूल, समय की विवेचना की है। इतनी भूमिका के बाद हर्टेल ने विब्लियोथिका इन्डिका से ग्रहीत मुण्डकोपनिषद् का संशोधित पाठ दिया है। फादर त्सिमरमान के महानारायण उपनिषद् के जैसे प्रयासों से हर्टेल को इस पद्धति का अनुसरण करने का प्रोत्साहन मिला होगा, जो उनका पी.एच.डी. का प्रबन्ध था, जिसमें उन्होंने उपनिषद् की भिन्न-भिन्न प्रतियों के आधार और सम्बन्ध की विवेचना की है। प्रो० त्सिमरमान ने समानान्तर पाठान्तर भी दिये हैं। फिर उपनिषदों के वस्तु विषय और आधारों की ओर लक्ष्य किया है। जिसे समस्त उपादानों की व्यवस्था के साथ समाप्त किया है। वस्तुतः इस पद्धति का प्रयोग सभी उपनिषदों के साथ होना चाहिये।

एम० एन० द्विवेदी का गौडपाद की कारिका और शांकर भाष्य सहित (१८९४) माण्डूकोपनिषद् का अनुवाद भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

महान् हैरेक्लाइटन तत्ववेत्ता गौडपाद का अंग्रेज़ी में यह प्रथम परिचय है। हाल में गौड़पाद तथा माध्यमिक सूत्रों से उसके सम्वन्ध के विषय में बहुत कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ है। शान्तिनिकेतन के प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य ने गौडपाद पर विशेष अध्ययन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जब गौडपाद का अंग्रेजी में अनुवाद हो जायगा तथा माध्यमिक सूत्रों से उनका सम्वन्ध निश्चित हो जो जायगा तथा उनकी दार्शनिक देन का निरुपण हो जायगा, तो वे विचार जगत् को चकित कर देंगे। तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्वन्ध में ए० महादेव शास्त्री ने उसका एक अंग्रेजी अनुवाद शांकर भाष्य, सूरेश्वर भाष्य, विद्यारण्यभाष्य सहित (मैसूर १९०३, पृष्ठ–७९१) प्रकाशित किया है जो उस उपनिषद् के पाठकों को बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

Otto Bohtlingk ने वृहत्तम उपनिषदों वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के प्रामाणिक संस्करण निकाल कर बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। पहला सेण्ट पीटर्स बर्ग, और दूसरा लायप्ज़ीक से प्रकाशित हुआ है। यह ध्यान रखने योग्य है कि दोनों संस्करण साथ ही साथ एक ही वर्ष में प्रकाशित हुये (१८८९)। यद्यपि दोनों ही संस्करणों का सम्पादन बहुत योग्यतापूर्ण हुआ है, छान्दोग्य का स्वरूप बहुत सुन्दर है। पदव्याख्या के सिद्धान्त का अनुकरण दोनों में किया गया है। वोइटलिंक ने पाठान्तर भी दिया है, यद्यपि वह सर्वत्र शुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिये वोइटलिंक ने (छां. ४, १, ४,) के विजिताय पाठ के स्थान पर विजित्वराय पाठ दिया है और (छां. ३,१४,१,) में तज्जलनिति के लिये 'तज्जालान् ईति' पाठ दिया है, जिनमें पहला अनावश्यक है और दूसरा विकृत। अस्तु, वोइटलिंक द्वारा मूलपाठ और अनुवाद सहित सम्पादित छान्दोग्य और वृहदारण्यंक के संस्करण प्रामाणिक रहे हैं, यद्यपि भारत में सामान्यतः प्राप्य नहीं रहे। वोइटलिंक ने इसके वाद कठ, एतरेय, प्रश्न के देवनागरी पाठ और जर्मन अनुवाद तथा टिप्पणी सहित संस्करण (१८९१) लायप्ज़ीक से प्रकाशित किये हैं। ह्विटने ने वोइटलिंक के अनुवादों की एक आलोचना अमेरिकन भाषा शास्त्र की पत्रिका में निकाली थी, जिसमें उनकी विशद समीक्षा की थी। जिनका उत्तर वोइटलिंक ने १८९१ में दिया। यह तो साहित्यिक आदान-प्रदान का विषय है, जिससे उपनिषदों में भाषा शास्त्रीय अभिरुचि रखने वालों का कुछ मनोरंजन अवश्य हुआ होगा।

ई० वी० कोवेल के रामतीर्थ भाष्य सहित कौषीतकी और मैत्री के अनुवाद (१८६१-१८७०) भी उन दो उपनिषदों पर प्रामाणिक संस्करण हैं।

महादेव शास्त्री का अमृत विन्दु तथा कैवल्य उपनिषद् का मूल अनुवाद सहित छोटा सा संस्करण बहुत सुन्दर है। नारायण स्वामी अय्यर ने उनका उपनिषदों का (मद्रास-१९१४) अनुवाद किया है। अन्त में डॉ० एस० के० वेलवेलकर के 'चार अप्रकाशित उपनिषद्' में वाष्कल, छागलेय, आर्षेय, शौनक (१९२५) के मूल तथा अनुवाद हैं, जिनमें पहले का मुद्रण डॉ० रोडर ने किया और शेष अड्यर पुस्तकालय में पाण्डुलिपियों में थे, उनका प्रकाशन दर्शन और अध्यात्म विद्यापीठ से हुआ है, पूना शाखा से मिल सकता है।

४. चयन ग्रन्थ

उपनिषदों से संग्रहीत प्रथम चयन–ग्रन्थ Paul Regnaud का Materieaun pour servir 'dl'a histoire de la philosophice de l'Inde, Paris, 1876 है। इसमें मूल उपनिषदों से अनेक अवतरण रोमन लिपि में फ्रेञ्च अनुवाद तथा विषयानुक्रम अनुसार संचित किये गये हैं। इस पुस्तक में रानाडे का उद्देश भारत के प्राचीन दर्शन का संक्षिप्त परिचय देना था। अंग्रेज़ी में एक दूसरा चयन–ग्रन्थ John Murdoch का (मद्रास, १८९५) है, इसका उद्देश्य इतना उपनिषदीय दर्शन का निरुपण नहीं जितना कि हिन्दू–दर्शन पर ईसाई दर्शन की श्रेष्ठता स्थापित करना है। एल० डी० बार्नेट के 'उपनिषदीय सूक्तियाँ (लण्डन, १९०५) तथा 'ब्रह्मज्ञान' (लण्दन, १९०९) दोनों छोटे-छोटे ग्रन्थ होते हुये भी उपनिषदीय तत्वज्ञान के मर्म को स्पर्श कर लेते हैं। Deussen का Die Geheimlehre des Veda, Leipzig 1907) Sechig upanishad's के सारांश के रूप में है। और इसमें १४ उपनिषदों के संचय हैं। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् हीलेब्रान्त ने 'ब्राह्मण और उपनिषद्' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है जिसमें ब्राह्मण और उपनिषदों से नमूने के अतवरण हैं, जो प्राचीन भारतीय दर्शन के उदाहरण स्वरूप हैं। हीलेब्रान्त एक ओर ब्राह्मणों और दूसरी ओर उपनिषदों में बहुत अन्तर नहीं मानता। अतः अपने छोटे से ग्रन्थ में "कर्म काण्ड विधि और अन्धविश्वासों को दार्शनिक विचारों से मिश्रित" पाता है। उसका कथन है कि उसे ओल्डेन वर्ग से कई विषयों पर सन्तोष है। विशेषतः जब ओल्डेनवर्ग यह कहता है कि उपनिषदीय दर्शन की कान्ट और शौपेनहावर के दर्शन से किसी प्रकार तुलना नहीं की जा सकती। अतः हीलेब्रान्त के विषय में भी हम वही आलोचना दे सकते हैं जो हमने ओलडेन वर्ग के विषय में दी है। जोहानेज हर्टेल का "उपनिषदीय दर्शन" (Munchen, 1921) छोटा संस्करण होने की दृष्टि से हिलेब्रान्त

के संचय से अधिक आशाजनक है, यद्यपि वह यत्र-तत्र एक देशीय है। हर्टेल ने ईश, केन, कठ, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ऐतरेय, कौषीतकी उपनिषदों के अवतरणों को एकत्र किया है। उसका उद्देश्य उपनिषदों को पठनीय जर्मन ग्रन्थ का स्वरूप देना है, विशेषकों के लिये नहीं। हर्टेल का ग्रन्थ विचार-प्रवर्तक है, यद्यपि उसमें निष्कर्ष सर्वत्र सन्तोष–जनक नहीं है। हम भूमिका में देख चुके हैं कि किस प्रकार हम दो छोटे–छोटे स्थलों पर हर्टेल के केनोपनिषद् के अर्थ से असहमत हैं। हर्टेल ने प्रत्येक संग्रह के आरम्भ में एक प्रस्तावना दी है, जिससे उसके संग्रह हिलेब्रान्त के प्रस्तावना-हीन संग्रहों से अधिक मूल्य-वान् हो जाते हैं। Paul Ederhordt का Der Weisheit Letzter Schluss, Jena, 1920 भी उपनिषदों से ही संग्रहीन एक चयन ग्रन्थ है, और इसमें विषयानुक्रमानुकूल व्यवस्थित ३७ अवतरण हैं। इस ग्रन्थ के लेखक की भी एक आध्यात्मिक दृष्टि से किया हुआ संग्रह निकालने की योजना है। यह राम मोहन राय की सम्मति थी कि उपनिषद् के संग्रहों का प्रकाशन और विवरण देशवासियों के नैतिक और धार्मिक विकास में सबसे अधिक सहायक हो सकता है। आशा है इस ग्रन्थ के लेखक के संचय इस आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकेंगे।

५. सन्दर्भ ग्रन्थ

उपनिषदों के सन्दर्भ–ग्रन्थ वहुत और विविध हैं। उनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थों को हम तीन शीर्षकों में ला सकते हैं, साहित्य के इतिहास, धर्म के इतिहास, दर्शन इतिहास। वेवर के "भारतीय अध्ययन" भाग १–२ में प्रस्तुत ग्रन्थ की सभी उपनिषदों पर पृथक्-पृथक् लेख हैं, ऐतरेय और वृहदा-रण्यक को छोड़कर। भारतीय वाङ्मय के इतिहास (Weber) तथा (मोनियर विलियम्स) 'भारतीय ज्ञान' में भी उपनिषदों पर विचार किया गया है। (Leopald Von Schrader) के 'भारतीय साहित्य और संस्कृति' में (१८८७); प्रो० मैकडानल के 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' (२१८–२४३) तथा विन्टरनित्स के 'भारतीय साहित्य की मीमांसा' में (Vol: I–210–229) में उपनिषदीय दर्शन का उल्लेख है। ये सव संक्षेप में उपनिषदीय शिक्षा का निरुपण कर संस्कृत साहित्य में उनका स्थान निर्दिष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

धर्म शास्त्र के इतिहास में हम हॉप्किन्स "भारतीय धर्म", गॅडेन का 'प्राच्यधर्मों के अध्ययन' तथा उसी का 'पूर्वी धर्मों का अध्ययन' का उल्लेख

कर सकते हैं। ये भारतीय विचार क्षेत्र में धार्मिक दृष्टि से उपनिषदों का स्थान निर्दिष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

भारतीय दर्शन के इतिहासों में सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के 'भारतीय दर्शन' (भाग–१) डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के 'भारतीय दर्शन का इतिहास' विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनमें उपनिषदीय दर्शन के महत्व की नवीनतम गवेषणा की है। स्ट्राउस के 'भारतीय दर्शन' में प्राचीन उपनिषदों के तत्व ज्ञान पर (४२–६१) विचार किया गया है, तथा नव्य उपनिषद् (६७–८८) का विचार किया गया है, अवलोकनीय है। उपनिषदीय वाङ्मय के अन्य सन्दर्भों में हम केम्ब्रिज भारतीय इतिहास के (भाग १–अध्याय–५) में प्रो० कीथ की उपनिषद् पर एक अध्याय का उल्लेख कर सकते हैं, जहाँ उन्होंने यह कहा है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदीय युग का नवीन सिद्धान्त था, क्योंकि ब्राह्मण युग में इसका अभाव है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि यह कल्पना कर लेना ठीक न होगा कि ब्रह्मवाद ब्राह्मणों की कर्मकाण्ड के प्रति अधिक संलग्नता की राजकीय समाज की प्रतिक्रिया थी। दूसरी ओर उनका यह भी कथन है कि इसमें राजकीय समाज (क्षत्रियों) को ब्रह्मानन्द का श्रेय देने की ब्राह्मणों की नीति रही है (१४२–१४५)। हमने इस ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण में लक्ष्य किया है कि किस प्रकार पुनर्जन्म की कल्पना वैदिक युग तक पाई जाती है। अतः यह उपनिषदीय युग की एकान्त नवीन कल्पना न थी। पहले अध्याय के अन्त में हमने यह भी लक्ष्य किया है कि ब्रह्मवाद न क्षत्रियों से है न ब्राह्मणों से था, जिस किसी को भी 'ज्ञान' हो जाता था, चाहे वह किसी भी समाज का हो, वह ऋषि कहलाता था। ब्राह्मणों को इसका श्रेय देना भी संतोषजनक नहीं। उपनिषदीय वाङ्मय का अंतिम प्रसंग, जिसका उल्लेख हमें करना चाहिये 'धर्म और नीति शास्त्र के विश्वकोष' में डॉयसन के उपनिषदीय दर्शन के अनुवाद रेवरेण्ड ए० एस० गेडेन का लेख है। 'विश्वकोष' के सम्पादन को आपसे अधिक उपयुक्त विद्वान् उपनिषदों पर लेख लिखने के लिये नहीं मिल सकता है। लेख के अन्त में छोटी-सी किन्तु उपयोगी ग्रन्थ सूचिका भी है।

६. स्वतन्त्र लेख और ग्रन्थ

उपनिषदीय दर्शन की सांगोपांग अथवा किसी-किसी विभाग की समीक्षा अनेक महत्वपूर्ण लेखों में की गई है। हमें ओटो वेकर के Der Gebrauch der Kasus in der alteren upanishad-literature,

Tiibingen, 1905, महत्वपूर्ण लेख के साथ प्रारम्भ करना चाहिये, जहाँ दस प्रधान उपनिषदों के कई स्थितियों के विवेचन के उपरान्त पाणिनि के समय से सम्बद्धित उपनिषदों का कालानुक्रम निर्दिष्ट किया गया है। यह एक महत्वपूर्ण-विचार है; क्योंकि पाणिनि का जीवनकाल उपनिषदीय युग के अवसान के पूर्व ही ज्ञात होता है। अतः कुछ उपनिषद्, जिनमें पाणिनीय प्रयोग नहीं हैं, निस्सन्देह रूप से पाणिनि से पूर्व की मानी जा सकती है तथा जिनमें पाणिनीय प्रयोग है, वे पाणिनि की परवर्ती मानी जा सकती हैं। इस महत्वपूर्ण लक्ष्य के साथ वेकर ने चार समूह में उपनिषदों का विभाजन किया है। पहले समूह में बृहदारण्यक, छान्दोग्य और कौषीतकी हैं, दूसरे में ऐतरेय, तैत्तिरीय और कठ हैं, और तीसरे समूहों में केन और ईश हैं, चौथे में श्वेताश्वतर और मैत्री हैं। पहली दो तो स्पष्टरूप से पाणिनि के पूर्व की हैं। तीसरी सम्भवतः पाणिनि से पूर्व की हो; अन्तिम पाणिनि की परवर्ती है। वस्तुतः वेकर की यह पद्धति जिसमें वह व्याकरण के दृष्टिकोण से उपनिषदों का समय निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं, उससे कहीं अधिक सत्य निर्णायिक है, जो केवल पुनर्जन्म की कल्पना के होने न होने के आधार पर ही उपनिषदों का समय निश्चित करना चाहता है। हमने इसका विवेचन इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में किया है। हमें आश्चर्य होता है कि अवतार की कल्पना का ऐसा ही उपयोग क्यों नहीं किया गया। चार्ल्स जौन्स्टन ने 'मोनिस्ट' में (१६१०) 'उपनिषदों में नाटकीय तत्व' नामक लेख में बृहदारण्यक, छान्दोग्य तथा अन्य उपनिषदों में संवादों का विवेचन किया है। ए० एच० ईविंग ने 'प्राण प्रक्रिया की हिन्दू कल्पना' इस विषय पर एक मनोवैज्ञानिक तथा शरीर वैज्ञानिक निबन्ध लिखा है। डॉ० बेट्टी हाइमान ने एक लेख Die Tiefschlaf-Speculation der alten Upanishaden, (1922), में उपनिषदों की गांठ सुषुप्ति विषयक कल्पनाओं पर विचार किया है। रुम्बाल ने 'उपनिषदों में पाप-कल्पना' पर एक लेख लिखा है (ओपेन कोर्ट, १६०६)। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानों ने उपनिषदों के भिन्न-भिन्न विषयों पर कितना खोजपूर्ण विश्लेपण किया है।

यही हम उपनिषदीय विषयों पर लिखे गये अन्य लेखों के विषय में कह सकते हैं। हम इस ग्रन्थ की भूमिका में कह चुके हैं कि किस प्रकार रिचार्ड गार्वे ने अपने 'सांख्य-दर्शन' नामक ग्रन्थ में (लायप्जीक-१८६४) उपनिषदों के सांख्य-दर्शन से सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है। और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सांख्य पद्धति का उद्भव उपनिषदीय युग के मध्य में हुआ

था। डॉ० मैक्नीकल ने 'भारतीय सेश्वरवाद' नामक ग्रन्थ में उपनिषदीय सेश्वरवाद पर लिखे हुए अध्याय में उपनिषदों के सेश्वरवाद का बड़ा विचक्षण विवेचन किया है। मैक्नीकल का सिद्धान्त है कि हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उपनिषदों में सेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि ; जैसा कहा जाता है, उपनिषदों में मायावाद का अभाव है। मैक्नीकल इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उपनिषदों का ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद मूलक होने के स्थान पर रहस्यात्मक सेश्वरवाद है। डॉ० केअर्ड ने प्लोटिनस की समानान्तर कल्पना का विशद् निरुपण करते समय उसके रहस्यात्मक विचारों को जिनसे उपनिषदीय कल्पनाओं का साम्य है अथवा सम्बन्ध है, सर्वेश्वरवाद मूलक विचारों से पृथक् किया है (पृष्ठ–५६)। हम डॉ० मैक्नीकल के इस कथन से सहमत नहीं कि माया-वाद उपनिषदों के लिये अज्ञात था। किन्तु जहाँ वे उपनिषदीय सिद्धान्तों की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का समर्थन करते हैं वहाँ हम उनसे सहमत हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि रहस्यवाद सदा सेश्वरवाद मात्र हो। प्रो० जौन मेकेन्जी ऑक्सफोर्ड–१) के हिन्दू नीति शास्त्र में उपनिषदीय नीतिशास्त्र पर एक उत्तम लेख है(६७-६६)। हम इस विषय में प्रो० मैकेन्जी से पूर्ण सहमत हैं कि उपनिषदीय नैतिक विचार का सम्पादन (संचालन) मानवीय सत्ता के उदात्त अन्तर्भावों को पूर्णरूप से दृष्टि में रखकर हुआ है। अथवा दूसरे शब्दों में उपनिषदीय नीति शास्त्र एक दृढ़ तात्विक आधार पर अवलम्बित हैं: किन्तु हम इससे सहमत नहीं कि उपनिषदीय आधार नीति अन्त में निस्सार है अथवा विरोधात्मक है। हमारे छठे अध्याय में दिये हुये विविध उपनिषदीय नीति विषयक विचारों पर एक दृष्टि डालने से ऐसे समस्त एकदेशीय विचारों का समाधान हो सकता है।

उपनिषदीय विषयों पर निश्चित रूप से दार्शनिक लेखों में प्रथम जोशिया रोइस का 'जगत् और नीव' नामक ग्रन्थ में 'चरम सत्ता की रहस्यात्मक कल्पना' नामक लेख है, जिसमें उपनिषदों से उदाहरण दिये गये हैं। रोइस का कथन है कि उसने उपनिषदों का इतना विस्तृत विवेचन इसलिये किया है कि "उनमें रहस्यात्मक श्रद्धा की सम्पूर्ण कथा है, जहाँ तक इसका सम्बन्ध दार्शनिक आधार से है" (१७५)। रोइस ने रहस्यात्मक पद्धति का लक्षण साक्षात्कार बतलाया है और यद्यपि वह रहस्यावाद से सहानुभूति नहीं रखते फिर भी 'रहस्यात्मक' प्रवृत्ति की व्याख्या रोइस से अधिक सुन्दर कोई नहीं कर सकता। सर राधाकृष्णन ने "आधुनिक दर्शन में धर्म का साम्राज्य" (मेकमिलन १९३०) की समाप्ति उपनिषदों के आधार पर सत्य के स्वरूप

निर्णय के कुछ लक्ष्य-विषयंक एक अध्याय से की है। इससे हम देख सकते हैं कि किस प्रकार सर राधाकृष्णन् स्वयं उपनिषदों को वर्तमान विचारकों को एक दृष्टिकोण प्रदान करने में समर्थ मानते हैं। ढाका विश्व-विद्यालय के प्रो० जी० एच० लांगले ने 'उपनिषदों में विश्वात्मा की कल्पना तथा जीवात्मा से उसका तादात्म्य' नामक एक लेख, ए० जी० विजरी तथा आर० डी० रानाडे द्वारा सम्पादित 'भारतीय दर्शन समीक्षक' (अप्रैल, १९२०) में लिखा है। यहाँ उन्होंने उन स्थानों की ओर भी संकेत किया है जहाँ उप-निषदों और कान्ट में मतभेद है। यह बात नहीं कि प्रो० लांगले के अनुकूल कान्ट ही सत्य है, क्योंकि कान्ट का यह मत है कि आत्मा आत्मप्रेरित भावनाओं के समन्वय में मूल वस्तु के रूप को विकृत कर देती है, जिनसे उसका जन्म होता है। दूसरी ओर क्रोसे को कान्ट की अपेक्षा सत्य के निकट मानना चाहिये जब कि वह यह कहता है कि आत्मा समन्वय की प्रक्रिया में अनुभव-जन्य संस्कारों को विकृत नहीं करती, किन्तु उनके वास्तविक स्वरूप के प्रकाशन में अपनी प्रवृत्ति का उपयोग करती है (१२६-१२७)। अन्त में कलकत्ता के प्रो० वरुआ ने अपने 'बुद्ध का पूर्ववर्ती दर्शन' में 'बुद्ध के पूर्ववर्ती दार्शनिकों के सिद्धान्तों का विस्तृत रूप से विश्लेषण किया है और स्वाभाविक रूप से उद्दालक, याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद आदि उपनिषदीय ऋषियों पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। इन उपनिषदीय तत्व-ज्ञानियों के साथ एक बड़ी कठिनाई इनके व्यक्तित्व और सिद्धान्तों का सम्बन्ध-स्थापन है, यदि यह सफलता पूर्वक हो सके तो डॉ० बर्नेट के प्राचीन ग्रीक दर्शन के विवेचन की रेखाओं पर उपनिषदीय दार्शनिकों पर एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में इसके प्रारम्भिक उपादानों की ओर संकेत किया गया है।

भारतीय संस्कृति के विविध विभागों में खोज के श्रेय ईसाई मिशनों को है। उपनिषद् भी उनकी दृष्टि से छूटे नहीं है। यद्यपि उनके मतों का ईसाई पक्ष की ओर झुके रहना स्वाभाविक है, तो भी जिस विषय से उन्होंने हाथ लगाया उसके साथ उनके परिश्रम के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। स्टेटर का 'उपनिषदीय अध्ययन' (मद्रास १८९७) नामक ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। स्टेटर केवल यह कल्पना नहीं कर सकता कि उपनिषद् विश्वधर्म की भावना प्रदान करने की सामर्थ्य रखती हैं। "यदि विश्वधर्म का स्वप्न सत्य हो और हमारे पास विश्व का एक ही विज्ञान है और ईश्वर का पितृत्व और मनुष्य का बन्धुत्व सत्य हो, तो ऐसे कुटुम्ब के लिये केवल एक आत्मिक

एकता का वन्धन सम्भव है तो वह धर्म सम्भवतः उपनिषदों में आधार नहीं पा सकता। यदि तुम उन्हें अपना धर्म वनाओ तो तुम्हें उसे विश्व मण्डल के एक कोने में ही सीमित देख कर सन्तोष करना होगा और उस कोने में भी एक भाग चुनना होगा, क्योंकि, यदि जैसा कि प्रायः कहा गया है, यह प्राचीन पद्धति मूल संस्कृत में ही समझी जा सकती है, तो वास्तविक धर्म का महत्तम स्वरूप केवल एक उत्कृष्ट प्रतिभा पर ही नहीं, वरन् एक भाषा के ज्ञान-एक मृतक भाषा के ज्ञान पर अवलम्बित है। यह किसी भी स्थिति में अव्यवहार्य है" (७२)। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि विश्वधर्म की कल्पना का भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसे केवल आत्मा से ही कार्य है, न कि किसी भाषा में इसकी अभिव्यंजना से। एच० डी० ग्रिसवोल्ड के 'भारतीय दर्शन के इतिहास में एक अध्ययन' नामक लेख में उपनिषदों के ब्रह्मवाद का विस्तृत विवेचन किया गया है। तथा उसके धार्मिक, नैतिक और तात्विक निष्कर्षों पर विचार किया गया है। उर्कुहार्ट का 'उपनिषद् और जीवन' (कलकत्ता-१६) जिसके विवेचन को उन्होंने अपने वृहद् ग्रन्य 'सर्वेश्वरवाद और जीवन का मूल्य' में भी जारी रक्खा है, में उपनिषदों के सेश्वरवाद और निराशावाद, उनकी तात्विक असंगति, उनके धार्मिक तथा नैतिक प्रभाव का विवेचन किया है और भारत के लिये ईसाई धर्म के सन्देश के साथ उसे समाप्त किया है।

समस्त उपनिषदीय दर्शन पर व्यवस्थित ग्रन्थों में हमें पहले ए० डी० गफ़ के उपनिषदीय दर्शन का उल्लेख करना है (लण्दन, १९८२), जो इस ओर सर्व प्रथम प्रयास है, और वड़ी उत्तमता से किया गया है, यद्यपि इसकी प्रवृत्ति कुछ सहानुभूति रहित है। उपनिषदों से शंकर के सम्बन्ध के विषय में गफ़ का मत है कि शंकर का दर्शन उपनिषदों पर अवलम्बित माना जा सकता है। वहुत से समालोचक शंकर के दर्शन को उपनिषदों से ग्रहीत नहीं मानते। इसके वाद व्यवस्थित ग्रन्थों में सवसे अधिक महत्वपूर्ण डॉयसन का 'उपनिषदीय दर्शन' है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद, रेवरेण्ड ए० एस० गेडेन (१९०६) ने किया है, अपने Sechzig upanishad's पर कई वर्ष व्यतीत करने के वाद डॉयसन, उपनिषदों के केन्द्रीय सिद्धान्तों के विषय में प्रामाणिक मत का प्रतिपादन कर सकता था। डॉयसन के ग्रन्थ उपनिषदीय विचार के पाठकों के लिये अनिवार्य है। सर राधाकृष्णन् का 'उपनिषदीय दर्शन' जो भारतीय दर्शन से पृथक् प्रकाशन है, उपनिषदीय ज्ञान का आधिकारिक विवेचन है और एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा लिखा गया है जो पश्चिमी

विचार से पूर्णतः अवगत है। डा० एस० के० वेलवेलकर और आर० डी० रानाडे का 'भारतीय दर्शन का विधायक युग' जो बम्बई विश्वविद्यालय की संरक्षता में प्रकाशित हुआ है, उसमें उपनिषदों के वस्तु-विषय का काल-क्रमिक तथा विस्तृत विश्लेषण है। उसमें १०० नव्य उपनिषदों का भी परिपूर्ण निरुपण है, जिनमें से बहुतों का तो अभी अनुवाद भी नहीं हुआ है, और कुछ अभी प्रकाशित भी नहीं हुये हैं।

अस्तु, उपनिषदीय दर्शन पर दो और महत्वपूर्ण ग्रन्थ शेष हैं, एक ओल्ट्रामेअर का तथा दूसरा ओल्डेनवर्ग का। ओल्ट्रामेअर का 'भारत के थियोसोफीय विचारों का इतिहास' (पैरिस, ७) में फ्रैन्च भाषा में उपनिषदीय दर्शन का विशद निरुपण है (६३-१३१)। ओल्ट्रामेअर ने पहले ब्रह्म, जीवात्मा, जीवात्मा और ब्रह्म का एकत्व, ऐसे विषयों का विवेचन किया है। आगे वह हमें यह बतलाता है कि किस प्रकार जीवात्मा का ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान है। आगे वह ब्रह्म के जीवात्मारूप होने तथा विश्व के ब्रह्म और जीवात्मा से सम्बन्ध के विषय में प्रश्न करता है। आगे ओल्ट्रामेअर संसार और मोक्ष के सिद्धान्तों की समीक्षा करता है। इन शीर्षकों के अन्तर्गत वह जन्मान्तर कर्म और मोक्ष, ज्ञान और मोक्ष तथा अन्त में मोक्ष का अर्थ ऐसे प्रश्नों का विवेचन करता है। अन्त में वह उपनिषदों में नवीन धार्मिक प्रवृत्ति तथा उपनिषदों के बौद्धिक तथा नैतिक प्रभाव के विवेचन के साथ समाप्त करता है। ओल्डेनवर्ग का 'उपनिषदीय ज्ञान और बौद्धधर्म का प्रारम्भ' (गोटिन्गन, १६१५; ३७४) पूर्णतः एक परिपक्व विद्वान् के अनुरूप है। अपने ग्रन्थ के एक भाग में ओल्डेनवर्ग प्राचीन उपनिषदों का विवेचन करता है, दूसरे भाग में नव्य उपनिषदों तथा सांख्य और योग की पद्धतियों के प्रारम्भ और तीसरे भाग में वह बौद्ध धर्म के प्रारम्भ का विवेचन करता है। प्रारम्भिक अध्याय में देश, निवासी, पूर्व-इतिहासिक पृष्ठ देश, वैदिक देवता, मृत्यु और परलोक आदि विषयों की विवेचनाओं के बाद ओल्डेनवर्ग उपनिषदों की केन्द्रीय कल्पनाओं, ब्रह्म और आत्मा तथा उनके तादात्म्य पर आ जाता है, जब वह ब्रह्म के विश्व से सम्बन्ध तथा एक और अनेक अथवा समष्टि और व्यष्टि के अर्थ का विवेचन करता है। फिर भी वह आगे स्वयं ब्रह्म का विवेचन करता है तथा पौरुषेय, अपौरुषेय अथवा साकार और निराकार का विवेचन करता है। जीवन-रहस्य, मोक्ष, ज्ञान कर्म-सम्बन्ध, तथा ब्रह्म की ज्ञेयता के प्रश्न आदि का विवेचन करता है। वह अपने प्रथम भाग को उपनिषदों के साहित्यिक स्वरूप, गद्य-पद्य, संवाद आदि ऐसे

ही विषयों के विवेचनों के साथ समाप्त करता है। दूसरे भाग में वह सांख्य-योग के प्रारम्भ पर विचार करता है, जहाँ वह गुण, पुरुष, प्रकृति, प्राणायाम, आसन, चमत्कार आदि का विवेचन करता है। तीसरे भाग में वह लगभग ६० पृष्ठ के विस्तार में बौद्ध धर्म के उद्भव पर विचार करता है। हम ओल्ट्रामेअर तथा ओल्डेनवर्ग के ग्रन्थों से यह देखते हैं कि उनके पूर्ववर्ती महान् ग्रन्थ डॉयसन के समान, उनकी प्रवृत्ति पूर्णतः उपनिषदों के दार्शनिक तथा केन्द्रीय प्रश्नों पर विचार करते हैं। किन्तु उनका उद्देश्य केवल निरूपण की अपेक्षा, विधान कम है और वे अतीत के दर्शन की दृष्टि से लिखे गये हैं। यह बड़ी सरलता से देखा जा सकता है कि वर्तमान विचार के दृष्टिकोण से उपनिषदीय दर्शन का विधायक विवेचन किस प्रकार आवश्यक है।
